कला और साहित्य का परस्पर संबंध और प्रभाव

(सन् १५०० से २००० ई० तक)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
को चित्रकला विषय में
डी० फिल्० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
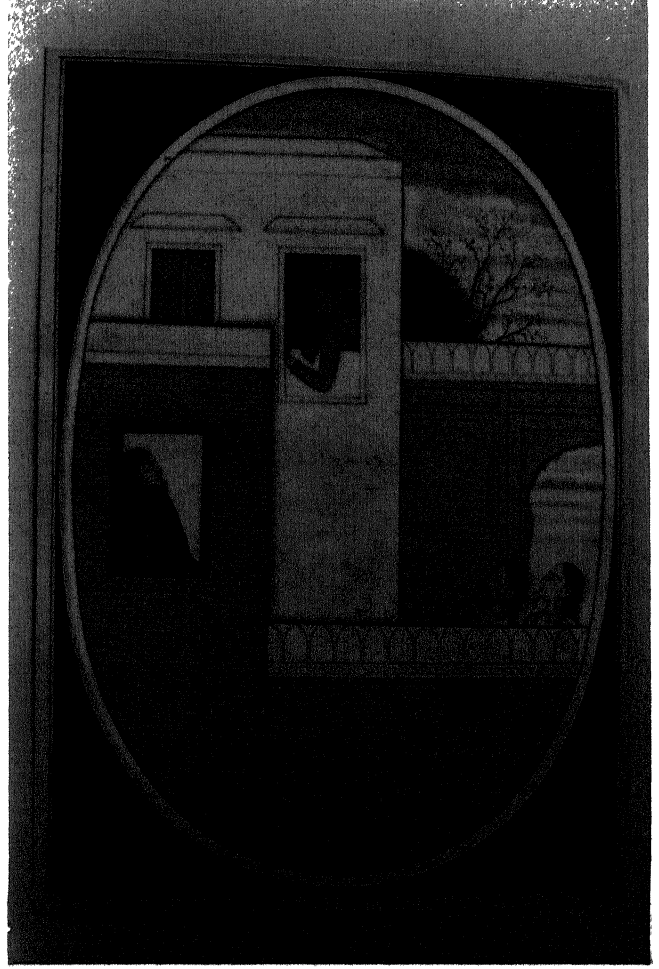
निर्देशक
डा० राम कुमार विश्वकर्मा
विभागाध्यक्ष
दृश्य कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
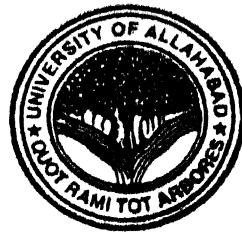
प्रस्तुतकर्ता
विद्यासागर सिंह
दृश्य कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दृश्य कला वि
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

डॉ० रामकुमार विश्वकर्मा
एम.ए., डी फिल
Dr. R. K. Vishwakarma
M.A., D.Phil

Head
DEPARTMENT OF VISUAL ARTS
UNIVERSITY OF ALLAHABAD

8B/14-A, शिवकुटी महादेव
पोस्ट आफिस कवलेरी लाइन्स
इलाहाबाद 211004

8-B/14-A, Shivkuti, Mahadev
P.O. Cavalary Lines
Allahabad - 211 004
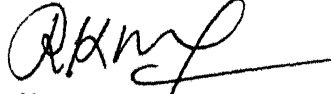
निवास/Resi (0532) 541386

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि विद्यासागर सिंह ने मेरे निर्देशन में डी0फिल0 (चित्रकला) की उपाधि हेतु **"कला और साहित्य का परस्पर संबंध और प्रभाव" (1500–2000)** विषय पर कार्य किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पूर्णतया प्रामाणिक एवं मौलिक है। इस विश्वविद्यालय के नियमानुकूल उपस्थिति आदि नियमों का पूर्णतया पालन किया गया है।

दिनाँक 4/12/02

डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा
निर्देशक

सूर्य प्रताप सिंह "अवध"

1974-1997
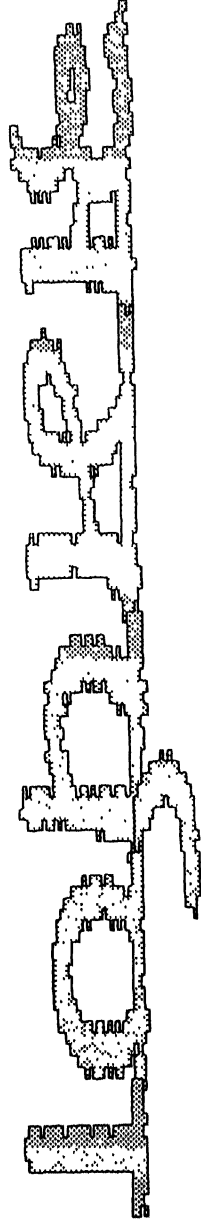
जब तक तुम थे -

साथ-साथ चले

उन रास्तों पर चलना सिखाया

जिन पर चलना आसां न था

ऐसे लक्ष्य के लिए प्रेरित किया

जिसे साधना सुगम न था

अफ़सोस,

अब तुम्हारी मधुर और प्रेरक स्मृति ही है

जो मुझे मार्गदर्शन देती है

एक दीप स्तम्भ की तरह

और, अनन्त अंतरिक्ष से

जैसे तुम्हारी ही आवाज़ सुनाई देती है

मुझे आश्वस्त करती

"गति को पूर्ण विराम नहीं मिलता

दौड़ रहती है जारी

क्योंकि दूसरों का दिन खत्म नहीं हो जाता

जब एक की ढल जाती है शाम"

अवतरणिका
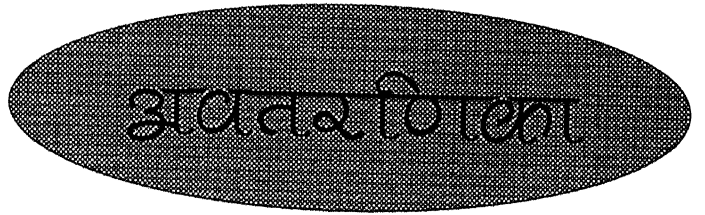
जब मैने शोध का सकल्प किया तो हिन्दी साहित्य तथा कला के प्रति मेरी सहज अभिरुचि के कारण मेरे **निर्देशक डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा** ने **"कला और साहित्य का परस्पर सम्बन्ध और प्रभाव"** 1500-2000 विषय शोध के लिए निर्दिष्ट किया, जिसे मैंने उत्साह पूर्वक स्वीकार किया। सुधीजनों एव विद्वजनो द्वारा विषय की मौतिकता एवं अनुशंसा पाकर मै और भी उत्साहित हुआ। उत्साह के साथ मुझमे एक गवेषणात्मक प्रबन्ध प्रस्तुत करने का सकल्प भी दृढ़ हुआ, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मेरी जिज्ञासा ही प्रतिफलित हुई हैं।

भारतीय इतिहास मे 1500 से लेकर 2000 ई0 तक का काल उथल-पुथल का रहा है। इस समय के पूर्वार्द्ध मे जैन साहित्य एव कला अपने परिशीलित रूप के अस्तित्व को भक्तिकालीन परंपरा में अर्पित करने लगी थी। भक्तिकालीन पद-साहित्य के लोकगीतात्मक स्वरूप, रीतिकालीन काव्य, आध्यात्म की नवीन अभिकल्पना की गूँज छायावाद एवं छायावादोत्तर धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है, तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति, किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है, तो किसी में बौद्धिक यथार्थवाद दृष्टि की। चित्रकला भी अपनी प्रयोगधर्मी प्रवृत्तियों के कारण नव-उन्मेष करती रही, राजस्थानी चित्रकला ने अपने भावों को चटख रगों के माध्यम से व्यक्त किया, मुगल कला नवाबी उन्माद से आसक्त रही, पहाड़ी चित्रकला रीतिकाल के रोमानी मधुर स्वरूप व पहाड़ की शस्य-शस्यागार को आत्मसात् करती अपने अन्तः प्रज्ञा की प्रदीप्ति करती रही। बंगाल स्कूल ने अपने अतीत के गौरवान्वित रूप की पुनर्नवीनीकरण की अखण्ड ज्योति जलाई। आधुनिक कला मे अपने प्राच्य को पकड़ने की छटपटाहट एवं नवीन क्षितिज को प्राप्त करने की चाहत रही तो ग्लोबल गाँव की कला या समकालीन कला पुनर्नवा के कल्प को 'स्व' के अभिव्यक्त विंब को 'पर' के मजु में प्रत्यारोपित करने के कयास में लगी हैं। इनके विश्लेषण की चेष्टा प्रधान रही है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में - भारतीय कला, संस्कृति तथा आध्यात्मिक साधना की उत्कृष्ट दिग्दर्शन करती है। भारत में कला और धर्म, कला और दर्शन, कला और रस, कला और साहित्य की सौन्दर्यानुभूति, कला और योग-ध्यान में घनिष्ट संबंध रहा है।

भारतीय कला-चिन्तन की की यह विशेषता रही है कि उसने रूपात्मक तत्व से भावनात्मक तत्व को सदा प्रधानता दी है। किसी भी कला की विशेषता और सफलता व्यक्तिगत आनन्द की समाजगत अनुभूति करा देने में है, भारतीय चित्रकला ने इन दोनों उत्तरदायित्वों को सभाला है, अतएव वह सफल भी है और महान् भी। अतीन्द्रिय मनोभावो को अकित करने की क्षमता केवल चेतन-भावप्रवण-सहृदय कलाकार मे ही हो सकती है। भाषा में अकेला एक 'शब्द' अर्थ देता है, किन्तु चित्र में 'केवल एक रेखा' निरर्थक है यदि वह स्वयं आवर्तनों के द्वारा अनेक रूप धारण नहीं करती।

द्वितीय अध्याय मे-कला और साहित्य की रचना प्रक्रिया के क्रम में अद्यतन कला और साहित्य के प्रेरक बिन्दुओं का समाविष्ट विवेचन तथा चित्रकला के दिग्दर्शन से अभिप्रेरित अभिव्यंजना के अभिव्यक्ति का शब्द रचना मे नवउन्मेश, साहित्य के मर्मस्थल भावों को तूलिका से सचयन का महाप्राण रूप उज्जवलित होता है।

तीसरा अध्याय साहित्य से आच्छादित चित्रों का गवेषणात्मक विवेचन है। भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता इतनी बढ़ी की कला-क्षेत्र में भी उसकी स्पष्ट छाप लक्षित होने लगी। रीतिकाल में चित्रकला काव्य के समान ही प्रचलित एवं समृद्ध हुई। राजस्थानी शैली के चित्रो का मुख्य विषय 'रामायण', 'सूर-सागर' इत्यादि था। इनके काव्यों के भावो का आश्रय लेकर शब्दों को रेखाओं और रंगों मे बद्ध किया गया है। मुगल शैली, पहाड़ी शैली की भी लगभग यही विशेषता रही। इन चित्रों मे भाव नात्मकता अधिक है तथा सामान्य रूप से इनका झुकाव रहस्यात्मकता की तरफ है।

चौथा अध्याय-चित्रकला के पाच ऐसे तत्व हैं, जिन्हें एक-दूसरे से पृथक् करके और एक दूसरे के संबंध में परीक्षित किया जा सकता है। वे हैं रेखा की लय, रूप-आकार, स्थान, प्रकाश और छाया तथा रंग की सहति। इस क्रम मे सामान्य रूप से कलाकार उन्हें वरीयता प्रदान करता है। किसी रूप-आकार को उसकी रूपरेखा से परिभाषित किया जाना चाहिए और इस रूप-रेखा को यदि निर्जीव नहीं होना है तो उसे अपने निजी लय से संपन्न होना चाहिए। रूप-आकार, स्थान, प्रकाश और छाया के पुंजीकरण को घनिष्ठ संबंध में देखना

चाहिए। वे सही स्थान के लिए कलाकार की भावना के पक्ष हैं। पुंज ठोस स्थान होता है, प्रकाश और छाया स्थान के संबंध में पुंज का प्रभाव होता है। स्थान-पुज का प्रतिलोम होता है, इसी दृष्टि से चित्रफलकों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पचम् अध्याय में कला और साहित्य का मूल्यांकन, चित्र के चितेरे और काव्य के सृजक दोनो की मनः स्थिति और अभिव्यक्ति समान होती है, अतः चित्रकार, काव्यकार तथा काव्यकार, चित्रकार होता है। कला की महत्ता के विषय पर शास्त्रीय युग के साहित्यो में विस्तृत परिचर्चा हुई है, कतिपय आज वो ही धारणाये बलवती नहीं रह गयी है, वरन् इसमें भी विनिवेश हुए है। कला देश-काल की परिधि को लांघ कर प्राच्य से अर्वाचीन तक, प्राची से पाश्चात्य तक भारतीय संस्कृति का अंग बनकर सस्कृति के सैलाब को फैला रही है।

इस प्रबन्ध के प्रतिवाद क्रम के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि मैंने प्रबन्ध को आदि से अन्त तक मौलिक दृष्टि संपन्न बनाने की चेष्टा की है। मैं इस अध्ययन को अपनी शोध-साधना का मंगलाचरण ही मानता हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध गुरुवर डॉ0 **रामकुमार विश्वकर्मा जी, विभागाध्यक्ष, दृश्य-कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविधालय, इलाहाबाद** के निर्देशन में पूरा हुआ है। उनके प्रति औपचारिक कृतज्ञता ज्ञापित करके मैं उनके परम् गुरु पद का मूल्यांकन करने मे असमर्थ हूँ।

श्रद्धेय **प्रो0 रामचन्द्र शुक्ल** जिनके सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से कला की सत्यता के विभिन्न अवयवो का गवेषणात्मक परिचय हुआ, मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

वयोवृद्ध साहित्यकार माननीय **श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा जी,** को स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होने अपने पुराने अनुभवों एव साहित्यकार मित्रों के अनुभवों से परिचित कराकर मेरे शोध-कार्य के मार्ग को प्रशस्त किया।

प्रस्तुत अध्ययन में हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ और हिन्दी विभाग इ0वि0वि0 इलाहाबाद के प्रोफेसर **विदुत्वर डॉ0 सत्यप्रकाश मिश्र** के प्रति मैं विशेष आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ, जिनके व्यक्तिगत सुझावों से मैं पग्-पग् पर लाभान्वित हुआ हूँ।

माननीय **डॉ0 लाल बहादुर वर्मा, मध्यकालीन इतिहास विभाग इ0वि0वि0** के निवर्तमान प्रोफेसर एव मध्यकालीन विश्व संस्कृति के पुरोधा पण्डित का मै हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने प्रारम्भ से ही समय-समय पर अपना प्रत्याशित सहयोग देकर इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिए प्रोत्साहित किया। विभागीय गुरुजनों एव एतद्विषयक महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।
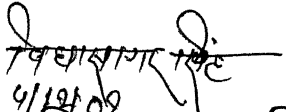
माताजी-बाबूजी व परिवार के अन्य सदस्यों का आभारी हूँ जिनके सारगर्भित एवं प्रेरणामय निर्देशन की ममत्वपूर्ण छत्रछाया में रहकर प्रबन्ध पूर्ण कर रहा हूँ।

प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण मे इलाहाबाद के वरिष्ठ छात्र एव समस्त छात्र मित्रगणो को स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होंने आद्योपान्त अपनी प्रेरणा एवं उत्साह से मेरे शोध् परक लग्न-दीप को बुझने से बचाया।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, **हिन्दी साहित्य सम्मेलन** के पुस्तकालय एव पुस्तकालयकर्मियों, **हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद संग्रहालय** के पुस्तकालय तथा संग्रहालय के सहकर्मियों एव **बी0एच0यू0** के **पुस्तकालय** तथा पुस्तकालयकर्मियो का आभारी हूँ एवं तत्पश्चात् **राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली, आधुनिक कला संग्रहालय नयी दिल्ली, भारत कला भवन वाराणसी** के निर्देशकों एवं व्यवस्थापकों का आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपना बहुमूल्य योगदान देकर मेरा मार्गदर्शन किया तथा चित्रों के सकलन इत्यादि मे सुविधाये प्रदान की।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ के प्रणयन को मूर्तरूप देने में महती भूमिका निर्वहन करने के लिए मैं **कम्प्यूटर टंकक श्री ओम प्रकाश यादव जी** को हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में अपनी समस्त त्रुटियों के प्रति क्षमा माँगते हुए मैं अत्यन्त विनीत भाव से उन सभी को स्मरण करते हुए प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनके सद्भाव से आज यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हो रहा है।

विद्यासागर सिंह

अध्याय – प्रथम

कला का निहितार्थ-

यह संसार लीला धाम है, और मानव का इस लीला जगत् से अविछिन्न सम्बन्ध है वह चिरकाल से प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य पर मुग्ध होता आया है। प्रकृति के विविध स्वरूप मानव-मन में अनेक भावों की उत्पत्ति करते आये हैं, और इन्हीं भावों को विकसित करके भावुक कलाकार ने कलाओं की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति की है। इन विविध कलाओं की अभिव्यक्ति अनेकानेक माध्यमों से इनकी निजी विशेषताओं की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि कला जगत् में विविधता पाई जाती है, और भावों की अभिव्यक्ति करण में भी अन्तर मिलता है।

विकास की आरम्भिक अवस्था में जिस क्षण से मानव पर वाह्य सृष्टि की अनेकानेक वस्तुओं की छाप पड़ने लगी, सम्भवतः उसी क्षण से उसमें अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की शक्ति का जन्म हुआ। उसकी अन्तरात्मा ने अपने चतुर्दिक पर्यावरण को जिस रूप में देखा उसे उसी रूप में व्यक्त करने का प्रयास किया क्योंकि मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी है वह अपनी अनुभूतियों को व्यंजित किये बिना नही रह सकता, यही उसके जीवन की मूलभूत शक्ति है।

मानव अपनी आदिम अवस्था में साधनों के अभाव में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को किस प्रकार व्यक्त किया होगा यह विचारणीय प्रश्न है। संभव है भाषा के अभाव में उसने अपनी अभिव्यक्ति का सर्वप्रथम माध्यम रेखांकन को बनाया हो, और वह तृप्त एवं हर्षोल्लसित नेत्रों तथा मुग्ध मनः स्थितियों के

द्वारा अपने भावों का रसास्वादन करता रहा हो। इसके उपरान्त उसने अनेकानेक स्थूल उपायों एवं माध्यम के द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप ही उसमें अभिव्यंजना शक्ति का विकास हुआ, कलाकार मे यह अभिव्यंजना शक्ति विकसित अवस्था में परिलक्षित हुई। प्रकृति की मनोरम अथवा चेष्टाओं के अनुकरण, विश्राम की स्थिति, मनोरंजन अथवा पूर्ण अनुभवों की सुखद् पुनरावृत्ति आदि से प्रेरित होकर मानव ने जब कलाकृतियों का सृजन किया तो उसकी शारीरिक चेष्टाओं एवं मुद्राओं में नृत्य का पूर्वाभास अवश्य रहा होगा, इतना ही नहीं उसने पत्थरों की चट्टानों, भित्तियों आदि पर खड़िया, गेरू, कोयला इत्यादि उपलब्ध माध्यमों से कुछ रेखायें अंकित कर उसमें वह आनन्द का अनुभव करने लगा। शनैः-शनैः उसके शारीरिक अंगों में प्रस्फुटित होने वाली लयात्मक गति ने नृत्य को पल्लवित-पुष्पित किया। इस प्रकार उसने अपनी ही अनुभूतियों को स्वयं देखने की अभिलाषा में से चित्रकला को संवर्धित किया।[1]

समकालीन युग में 'कला' शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उसकी प्रधानतः दो परम्पराएँ हैं, एक भारतीय और दूसरी यूरोपीय। कला के भारतीय दृष्टिकोण को प्रथमतः अभिव्यक्त किया जा रहा है।

'कला' अपने आप में संस्कृत भाषा का शब्द है। इस शब्द को लेकर भाषा विज्ञानवेत्ताओं में संदिग्धता की स्थिति पैदा हुई है किन्तु संस्कृत के पुरोधा पण्डित इस की व्युत्पत्ति कई धातुओं से मानते हैं।[2]

---

1. रूपालेख्य, ले0-डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा, पृ0-1-2
2. मोनियर-विलियिम्स ने अपनी प्रसिद्ध संस्कृत कोष (Sanskrit EnglishDictionry Oxford) में 'कला' की व्युत्पत्ति को संदिग्ध माना है।

- कल = सुन्दर, कोमल, मधुर, सुखद।[1]
- कल् = शब्द करना, वजना, गिनना।
- कड् = मदमस्त करना, प्रसन्न करना।[2]
- कं = आनन्द (क (आनन्द) लाति शति कला)[3]

उपर्युक्त धातुओं के आधार पर संस्कृत साहित्यों में 'कला' शब्द को लगभग बीस अर्थों में प्रयुक्त किया गया है इनमें किसी वस्तु का सोलहवां अंश, कोई छोटा अंश, कपट तथा कार्य करने में अपेक्षित चातुर्य-ये अर्थ प्रमुख है। मैकडानेल तथा मोनियर विलियम्स के ऐतिहासिक सिद्धान्तों पर बने कोषों से यह स्पष्ट है कि कला का यह अर्थ बहुत बाद का है। हिन्दुस्तान के पुराने ग्रन्थो में भी कला का उल्लेख हमें प्राप्त होता है, खासतौर से वेदों में भी जिसे हम देव-मुख की उपज मानते है। परन्तु वैदिक युग से लेकर मध्य काल तक कला के अतिरिक्त 'शिल्प' शब्द का प्रयोग भी होता रहा है। ऋग्वेद[4] शतपथ ब्राह्मण, षड्विश ब्राह्मण, सांख्यान ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तथा अथर्ववेद आदि में है, पर इन किन्ही में भी कार्य कौशल, शिल्प या हुनर आदि के अर्थ में इसका प्रयोग नही है। इस अर्थ में 'कला' शब्द का सबसे पहले प्रयोग भरत के नाट्यशास्त्र (पहली सदी के आस-पास) में मिलता है-

न तज्ज्ञांन न तच्छिल्पं न सा विधा न सा कला।[5]

---

1. कं (सुखम्) लाति इति कलम्। 'कल' और 'कला' शब्द का सन्निद्य है।- साहित्य-तरंग ले0-सद्गुरु शरण अवस्थी, पृ0-2
2. अमरकोष: सं0 पं0 शिवदत्त पृ0-72 तथा 431
3. कं आनन्दं लाति इति, कला-समीक्षाशास्त्र, सीताराम चतुर्वेदी, पृ0-206
4. कला शब्द का प्राचीनतम प्रयोग ऋग्वेद में है। इसके 8वे मण्डल में एक मंत्राश है- यथाकलां यथा शंफ यथ ऋणं मध सं नयामसि (8.47.16)
5. नाट्यशास्त्र (1, 113) स0 बटुकनाथ शर्मा

अर्थात ऐसा कोई ज्ञान नही, कोई शिल्प नही, कोई विद्या नही, कोई कला नहीं. ...., यहाँ स्पष्ट रूप से यह दृष्टिगोचर नही होता कि भरत मुनि के 'कला' शब्द से ज्ञान, शिल्प और विद्या से क्या अलग है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने 'कला गीत वाद्यादिका' लिखा है। संभवत: इस आधार पर श्री बलदेव उपाध्याय ने भरत के श्लोक के सन्दर्भ में कला को 'गीत' वाद्य, नृत्य आदि का वाचक माना है।[1] पर शायद भरत का यहाँ केवल संगीत का आशय नही है। अनुमान यही लगता है कि भरत द्वारा प्रयुक्त 'कला' शब्द यहाँ 'ललित कला' (Fine Art) के निकट है और 'शिल्प' ~~इसका~~ 'उपयोगी है कला' (Useful art) के।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है। भरत के पूर्व 'कला' शब्द का 'ललित कला' या इस प्रकार के कौशल के अर्थ में जब प्रयोग नहीं था, तो क्या उनके पूर्व भारत के लोग इन कलाओं से अपरिचित थे, या परिचित थे भी, तो कोई सम्पूर्ण को ढक लेने वाला शब्द (Covering Frame) नहीं था? इसके उत्तर में अब तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर यही कहा जा सकता है, कि इस अर्थ में यहाँ का पुराना शब्द 'शिल्प' था। ब्राह्मणों और संहिताओं में शिल्प शब्द का इस अर्थ में प्रयोग है। मोनियार विलियम्स इसको अपने पुराने अर्थ में 'कला' का पर्याय मानते हैं।[2] पाणिनि के अष्टाध्यायी, तत्कालीन संस्कृत साहित्य तथा बौद्ध साहित्य के आधार पर लोगों का यही कहना हैं कि उस काल में 'शिल्प' या 'सिप्प' का प्रयोग उपयोगी और ललित कलाओं दोनों ही कलाओं के लिए होता था। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है-

---

1. भारतीय साहित्य शास्त्र, ले0-बलदेव उपाध्याय, पृ0-488
2. संस्कृत इगलिश शब्दकोष में 'शिल्प' शब्द।

'इस युग'[1] में शिल्प शब्द को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हुआ। जीवन से सम्बन्धित कोई उपयोगी व्यापार ऐसा नहीं था, जिसकी शिल्प में गणना न हो।... इस प्रकार ललित कलाएँ और सामान्य कलाएँ दोनों ही शिल्प के अन्तर्गत समझी जाती थीं।'[2]

वे अन्यत्र भी कहते हैं-

"अष्टाध्यायी में शिल्पी शब्द चारू शिल्पी और कारू शिल्पी दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायक, वादक, जिस संगीत की साधना करते हैं, उसे ललित कला में भी उस समय शिल्प कहा जाता था।.... कौषीतिकी ब्राह्मण में नृत्य को शिल्प माना गया है।"[3]

यहाँ अग्रवाल जी या इस मत के अन्य समर्थक ललित कला में संभवतः वस्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत को भी मानते हैं। उनका आशय 'काव्य' से नहीं है। शिल्प के अन्तर्गत 'काव्य' को हमारे यहाँ सम्भवतः कभी स्थान नहीं दिया गया है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पहले हमारे यहाँ 'शिल्प' शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अतिरिक्त अन्य सभी कलाओं-उपयोगी और ललित-दोनों के लिए हो रहा था पर भरत के कुछ पूर्व कदाचित् बौद्ध युग में कला[4] का भी इस अर्थ में प्रयोग होने लगा। पर इन दोनों शब्दों के प्रयोग और अर्थ में भी स्पष्ट विभाजन नहीं हुआ। 64 कलाओं में बहुत सी कलाएँ है जो सरलता पूर्वक

---

1. जनपद युग (ई0पू0 8वीं सदी से मौर्यकाल के आरम्भ तक का युग)
2. कला और संस्कृति, ले0-वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0-227-228
3. पाणिनी कालीन भारतवर्ष, ले0-वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0-223
4. श्री वासुदेव शरण अग्रवाल का अनुमान है कि जनपद युग में ही चौसठ कलाओं की गणना प्रारंभ हुई-कला और संस्कृति, पृ0-228

शिल्प कही जा सकती हैं। दूसरी ओर जब कौषीतकि ब्राह्मण(29.5) में संगीत तथा शिल्प हैं तो निश्चय ही शिल्प का यदि अधिक नहीं है तो कुछ अंश कला संज्ञा का भी अधिकारी है।

कला के भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त विभिन्न ग्रन्थकारों द्वारा कलाओं की जो गणना की गयी है उससे भी कुछ सहायता मिल सकती है।

कला की गणना या संख्या के संबंध में सबसे प्रसिद्ध संख्या 64 है। शुक्रनीति, कुछ तन्त्रों तथा कामसूत्र आदि में 64 कलाओं के नाम दिये गये हैं। यह सूची सर्वत्र बिल्कुल एक ही नहीं है पर दृष्टिकोण सभी में प्रायः एक ही हैं। इसी प्रकार कुछ जैन ग्रन्थों में 64 या कहीं-कहीं 72 कलाओं के नाम दिए गए है। ललित विस्तार में पुरुष कला के रूप में 86 नाम गिनाए गए हैं। यद्यपि काम कला के रूप में 64 नाम भी हैं। प्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ने कलाओं पर एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम 'कला विलास' है। अगर किसी भारतीय ग्रन्थ में सबसे अधिक कलाएँ दी गयी हैं तो इसी में 64 जनोपयोगी कलाएँ दी गयी हैं, जिनमें 32 धर्म -अर्थ-काम-मोक्ष अर्थात् चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की और 32 मात्सर्य-शील-प्रभाव-भाव की हैं। इसके अतिरिक्त 64 सोनारों की सोना चुराने की, 64 कलाएँ वेश्या को मोहित करके पैसा ऐंठने आदि की, 10 भेषज कलाएँ, 16 कायस्थों की कलाएँ, जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात प्रमुख हैं, तथा गणकों की कलाओं एवं सौ सार कलाओं की चर्चा है।

इन सारी चीजों पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि यहाँ कला उन सारी जानकारियों या क्रियाओं को कहते रहे हैं, जिनमें थोड़ी भी चतुराई की आवश्यकता हो, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि हमारे यहाँ कला में सामान्यतः उपयोगी और ललित कलाएँ दोनों आती रहती हैं।कला के लिए "कौशल" कहने की इस सस्ती मनोवृत्ति का प्रचलन तब हुआ जब उसका एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन माना जाने लगा। इसीलिए चकोर, तीतर–बटेर लड़ाना और मल्लयुद्ध तक को कला के अन्तर्गत माना जाने लगा। इस तरह के सभी प्रकार के कौशलों का संबन्ध मनोरंजन से था, और यद्यपि कला को चौसठ या इससे भी अधिक भेद करके तब यह समझा गया कि कला का क्षेत्र इतना व्यापक है, पर वास्तव में इस प्रवृत्ति ने कलाबोध और कलामान, दोनों की स्वस्थ गवेषणा व्यर्थ के बौद्धिक विलास में खो दिया। कला के सम्बन्ध में यह विलासिता की प्रवृत्ति थी, जिसका व्यापक पैमाने पर प्रचार रहा है।

किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि समाज, साहित्य तथा संस्कृति की समस्त दिशाएँ इस सस्ती मनोवृत्ति से आच्छन्न थी, बल्कि कला के धार्मिक और आध्यात्मिक परम्पराओं को स्वीकार किये जाने के साथ-साथ उसको व्यावहारिक जीवन के साथ एकरस करने के लिए यत्न होते रहे। कौटिल्य कालीन (400 ई0पूर्व) समाज में कला को चारू और कारू दो रूपों में स्वीकार किया गया था, जिसको बाद में क्रमशः ललित और उपयोगी नाम से कहा गया। पर ललित कला को लेकर थोड़ा विवाद है। ललित कला में वस्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत का स्थान तो है पर इसमें काव्य का स्थान नहीं है? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों ने प्रायः यह कहा है कि भारतीय दृष्टि से काव्य का कला में

स्थान नहीं है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाम शुक्ल जी[1], प्रसाद जी[2], वाजपेयी जी[3] मिश्र जी[4] तथा गुलाब राय[5] आदि के हैं। इन आधुनिक विद्वानों के मतानुसार भारतीय दृष्टि से विद्या और उपविद्या ज्ञान के दो अलग क्षेत्र हैं। इनमें काव्य का स्थान विद्या में है, जबकि कला का उपविद्या में। इस प्रकार दोनों दो भिन्न वर्गो के अन्तर्गत आती हैं। इन लोगों का यह भी कहना है कि कलाओं की विभिन्न सूचियों में जो 'काव्य-व्याकरण' 'काव्य व्याकरण विधि', 'काव्य समस्यापूर्ण', 'क्रियाकल्प', 'काव्य' या 'अंलकार' आदि के नाम आयें हैं, वे तत्वत: काव्य से संबद्ध न होकर उक्ति, चमत्कार, अनूठापन आदि से संबद्ध हैं। इस प्रकार की पद्य रचना का उद्देश्य केवल मनोविनोद है, रस-निष्पत्ति नहीं जो काव्य का उद्देश्य है।

इन आधुनिक विद्वानों के मतों के अतिरिक्त प्राचीन लोगों के मतों से भी इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोकांश-

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी कहते है-
"सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है।.. हमारे यहाँ काव्य की गणना चौसठ कलाओ में नहीं की गयी है।" चिन्तामणि, भाग-2, पृ0-180
2. जयशकर प्रसाद का वक्तव्य है-
"इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु हैं" काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ0-12
3. नन्द दुलारे बाजपेयी जी कहते हैं-
"कला शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला ~~का~~ केवल छन्द रचना के अर्थ मे व्यवहृत हुई है, इसीलिए काव्य नहीं, समस्यापूर्ति की गणना कला में की गयी है" काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्राक्कथन, पृ0-16
4. रामदीन मिश्र कहते है-
"काव्य और कला दो भिन्न वस्तुए हैं।"
प्राचीन काल में काव्य की कला में गणना होने के कारण अनूठापन था।... समस्या पूर्ति भी एक प्रकार से काव्य कौशल ही थी, जिससे यह भी कलाओं में पैठ गयी। सारांश यह कि सहृदयों के मनोविनोदार्थ जो कवि का रचना कौशल था, वह कलाओं में गिन लिया गया। इस प्रकार काव्य कला नहीं हो सकता। काव्य दर्पण, पृ0-27 (काव्यशास्त्र की भूमिका)
5. गुलाब राय कहते हैं-
"वास्तव में काव्य हमारे यहाँ कला के अन्तर्गत नहीं है।" सिद्धान्त और अध्ययन, पृ0-58-59

साहित्य् संगीत् कला विहिन:

में साहित्य कला से अलग इसी बात की ओर संकेत करता है। भामह[1] और दंडी[2] ने भी इसके संकेत दिये हैं।

कला और काव्य के इस द्वन्द्व को स्पष्ट करते हुए डॉ0 भोलानाथ तिवारी मानते हैं कि "मै स्पष्ट रूप से कला में काव्य के स्थान न होने की बात को 'भारतीय पद्धति' या 'भारतीय दृष्टिकोण' नाम देना उचित नहीं समझता। भारत के कुछ लोगों का यह दृष्टिकोण था, पर साथ ही यह मानने के लिये आधार है कि भारतीय दृष्टि में भी काव्य कलाओं के अन्तर्गत है। और कुछ लोग कदाचित् इसे भी मानते थे।"

इस सम्बन्ध में पहली बात तो मुझे यही कहना है कि उपर्युक्त विद्वानों के अनुसार चित्र और संगीत का स्थान कला है। भारतीय ग्रंथों में प्राप्त विभिन्न सूचियों में इन दोनों को सम्मिलित किया गया है। यदि यह ठीक है तो भारतीय दृष्टि से ही चित्र-संगीत कला और काव्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। काव्य की आत्मा रस है। सातवीं सदी में लिखें ग्रंथ 'विष्णुधर्मोत्तर' में काव्य तथा संगीत, चित्र आदि का एक ही दृष्टिकोण से वर्णन हुआ है। इसमें काव्य की भाँति ही संगीत के स्वरों और चित्र के रंगों से रसों का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। साथ ही शास्त्रीय संगीतज्ञों में यह बात प्रचलित है और ठीक भी है कि संगीत से रसों की निष्पत्ति हो सकती है। यह आवश्यक है कि काव्य में जितनी सफल अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, पर यह तो मात्र ध्येय

---

1. वैचक्षण्यं कलासु च (काव्यालंकार 1.2)
2. नृत्यगीत प्रभृतय: कला: कामार्थ संश्रया: (काव्यादर्शन 3.162)

का भेद हुआ, मौलिक नहीं। अतएव् भारतीय दृष्टि में इन तीनों (चित्र, संगीत, काव्य) की आत्मा एक है, फिर दो को कला मानने और एक को कला न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि इन विद्वानों के अनुसार कलाओं की विभिन्न सूचियों में जो 'काव्य-व्याकरण' 'काव्य-व्याकरण-विधि', 'काव्य-समस्यापूर्ण', 'क्रियात्मक' या 'काव्य' आदि नाम आये हैं, वे तत्वतः शब्द से संबद्ध न होकर उक्ति-चमत्कार तथा अनूठेपन आदि से संबद्ध हैं। इसका अर्थ यह है कि इनका एकमात्र ध्येय मनोविनोद है, रस-निष्पत्ति नहीं। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जहाँ सूचियों में केवल 'काव्य' शब्द आया है, वहाँ यह मानने के लिये क्या आधार है कि काव्य का अर्थ शुद्ध काव्य या रस काव्य न होकर चमत्कार काव्य है। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि कौशल की दृष्टि में चमत्कार काव्य का प्रयोग इस रूप में कलाओं के साथ अधिक होता रहा होगा पर शुद्ध काव्य या रस का इसमें कोई स्थान न रहा होगा यह बात भी समझ में नहीं आती।[1]

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी कलाओं के विषय में लिखते हैं-
"ऐसा लगता है कि चौसठ की सख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः यही कलाएं रहीं होंगी जो वास्तव में सूची में हैं। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति", साहित्य और कला, पृ0-26-27
इसी प्रसंग में वे आगे भी कहते हैं-
"इस प्रकार सहृदय के चित्त जो कविता तन्मय कर सके, वह अवश्य ही वात्सायन की स्त्री-प्रसादिनी और वशीकरणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुतः जिन-दिनों कला को काव्य कहा गया था, उन दिनो उसके इन्हीं दो गुणों का प्रधान लक्ष्य किया गया था (1) उक्ति वैचित्रय और (2) सहृदय-हृदय-रंजन" (साहित्य और कला, पृ0-34) यहाँ भी 'सहृदय के चित्त जो कविता तन्मय से कर सकें' तथा सहृदय-हृदय-रंजन ध्यान देने योग्य हैं।

इन दोनों के आधार पर यह कहना उचित न होगा कि आचार्य शुक्ल तथा प्रसाद आदि द्वारा कही गयी बातें अधिक से अधिक किसी एक वर्ग की कही जा सकती हैं। कलाओं की विभिन्न सूचियों[1] एवं कला तथा काव्य संबंधी प्राचीन भारतीय साहित्य पर तात्विक दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय दृष्टि में कला में यदि काव्य को स्थान दिया जाय तो सैद्धान्तिक विरोध जैसी कोई बात नहीं आती[2], जैसा कि प्रायः हिन्दी के विद्वानों का ख्याल है। इस प्रकार भारतीय दृष्टि से सामान्य अर्थों में कला किसी भी कार्य-विषयक कौशल है पर विशिष्ट अर्थ में वह वही है जैसा कि आज कल (ललित और उपयोगी) प्रायः समझा जाता है।[3]

दर्शन और धर्म की सतह पर कला के स्वरूप पर विचार करने वाले ने कला को महामाया का चिन्मय विलास कहा है। वह महाशिव की सिरपृक्षाशक्ति है, जिससे समस्त चराचर की सृष्टि हुई है। शैव दर्शन में कला के आध्यात्मिक महत्व को व्यापक पैमाने पर स्वीकार किया गया है। वहाँ महामाया के पाँच कंचुक गिनाये गये हैं: काल, नियति, राग, विद्या, और कला। शिव के लिए यह रूप शक्ति प्रेरणा का कार्य करती है, जिससे शंकर और लीला -भूमि (आनन्दातिरेक की अवस्था) में अवतरित होकर सृष्टि रचना के लिए प्रवृत्त होते हैं।

---

1. क्षेमेन्द्र के 'कला विलास' को छोड़कर और जितनी भी कलाओं की सूचियाँ प्राचीन भारतीय साहित्य में मिली है, सभी में काव्य को किसी न किसी रूप में स्थान मिला है।
2. कला के दोषों के उदाहरण में रस के ही दोषों को बतलाकर दण्डी ने कला और काव्य के संबन्ध मे एक अव्यक्त स्वीकृति दी है। सिद्धान्त और अध्ययन, ले0-गुलाब राय, पृ0-58
3. भवभूति रचित उत्तर रामचरित नाटक का प्रथम श्लोक-
   इंद कविभ्यः पूर्वोभ्यो नमोवांक प्रशास्महे। विन्देम देवतां वाचममृतामात्यमनः कलाम्।।
   कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, डॉ0 भोला नाथ तिवारी, पृ0-21-22

'ललितास्वतवराजस्तोत्र' में इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके कहा गया है कि शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तब महाशक्ति तथा महामाया से प्रेरित होकर वह जगत की सृष्टि करते हैं। इसलीए शिव की लीला सहचरी होने के कारण महामाया को 'ललित' कहा गया है। इसी महामाया, शक्तिस्वरूपा ललिता द्वारा समस्त ललित कलाओं की उत्पत्ति हुई।

क्योंकि कला की अधिष्ठात्री देवी, अपार सौन्दर्य की स्वामिनी (रूपविद्यायिनी शक्ति) स्वयं ललिता हैं, अतः उनके द्वारा प्रसूत कलाओं का प्रयोजन सौन्दर्य की सृष्टि के अतिरिक्त दूसरा हो भी क्या सकता है? यह सौन्दर्य अखण्ड, सृष्टि स्वरूप, सूक्ष्म और एकरस है। उसकी अनुभूति के माध्यम भौतिक आधार नहीं, क्योंकि वह सार्वत्रिक और निःसीम है।

इस प्रकार लीला आनन्द की अनुभूति है और उसमें कला (चिन्मय विलास) सौन्दर्य स्वरूप है। इन दोनों के समन्वय से ही महामाया का सूक्ष्म ललिता स्वरूप जाना जा सकता है, और साथ में सौन्दर्य बोध का यह भारतीय दृष्टिकोण है।[1] अतएव हम देखते हैं कि भारतीय कला समन्वित रूप में हर रूप में विद्यमान है, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक।

जब हम कला का विश्लेषण करते हुए यहाँ पहुँचते हैं तो पाते हैं कि कला किसी वस्तु को आकर्षक, सुन्दर या चमत्कारपूर्ण बनाने या प्रस्तुत करने का ढंग है। हम यों भी कह सकते हैं कि वस्तु का सुन्दर आकर्षक या चमत्कारपूर्ण पक्ष कला है। वस्तु कोई भी हो सकती है। कोई पदार्थ, कोई रूप,

---

1. भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैरोला,पृ0-27-28

कोई तथ्य, कोई विचार, कोई भाव अर्थात् सत्य का कोई भी स्वरूप कला का विषय हो सकता है।

यह सत्य, सुन्दर, चमत्कारपूर्ण और आकर्षक-इन तीनों में से एक या अधिक विशेषता जब समाविष्ट करता है, तब हम उसमें कला के दर्शन करते हैं। कलाकृति को सदैव सुन्दर कहना कठिन है, युद्ध के भयानक और वीभत्स चित्रण, नरक की कल्पना, विलक्षण रंगों या रेखाओं का संघटन कलापूर्ण होते हुए भी सर्वत्र सुन्दर नहीं कहे जा सकते। हाँ उनमें आकर्षण अवश्य है, उनको देखकर

हमारी आँखें और कान तथा इनके माध्यम से मन चमत्कृत हो जाता है, अत: चमत्कारी क्षमता कला में अवश्य होती हैं।

कला अपने चमत्कारपूर्ण प्रभाव के लिए हमारे संस्कारगत अथवा तत्कालीन जीवन के अनुभवों का सहारा लेती है। कला वास्तव में व्यंजना शक्ति के समान है, जिस प्रकार व्यंजना को अभिधा या लक्षणा के अर्थ का आधार चाहिए। यह आधार जितना ही सूक्ष्म और प्रभाव पूर्ण होता है, कला का स्वरूप भी उतना ही सूक्ष्म और प्रभावपूर्ण होता है।[1]

इस प्रकार हम इसे संक्षेप में कह सकते हैं कि, भारतीय कला का जो यह विविध रूप दृष्टिगत होता है वह मानव के अपने स्वभावानुरूप अपने आन्तरिक भावों को समय-समय पर अभिव्यक्त करते हुए आनन्द का अनुभव करता है। वह किसी न किसी आत्माभिव्यक्ति के बिना रह नहीं सकता। आत्माविष्कार की इस त्वरा को मनोवैज्ञानिक 'वाइटल अर्ज' कहते हैं। मानव की यह आत्माभिव्यक्ति अधिकांशत: प्रयोजन सापेक्ष रहती है। अर्थात सुनिश्चित

---

1. कला साहित्य और समीक्षा, ले0-भागीरथ मिश्र, पृ0-2

प्रयोजन को लक्ष्य करके प्रवृत्त होती है। इसके विपरीत स्थिति भी देखी जा सकती है। कभी-कभी मानव अपने संवेगों को मूर्त रूप में प्रकट करके तृप्त होता है। ऐसी परिस्थिति में उसकी दृष्टि किसी हानि-लाभ पर नहीं पड़ती। अबोध बच्चों के लीला कलाप से लेकर खेलों के परपीड़न उत्सव में इस आत्मसंतृप्तिके उदाहरण प्राप्त होते हैं। अपनी रूचि के अनुसार खिलौना बनाकर मित्रों के साथ खेलते हुए बच्चें कितने आह्लादित होते हैं। कुटिलता की पराकाष्ठा पर पँहुचे हुए दुष्ट लोग भी सरल और सीधे लोगों को अपने जाल में फँसते हुए देखकर असीम सुख का अनुभव करते हैं। कलाकारों के सबंद्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। उनकी प्रत्येक रचना आन्तरिक भावों का रूपाधान है। स्वत्व को प्रकट करने की प्रवृत्ति का प्रवाह मात्र है। विशेषता यह है कि कलाकारों की आन्तरिक अनुभूति तथा अन्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। "Art records a delibrate and consciously direcdecl activity which is also very exceplional. Arts the eypressian of valuable aesthetic experience, Aber crombie, the art ar aur storehouse of recorded values,- **Richords**

"अपारे काव्य संसारे कवि देव प्रजापति:" आदि का रहस्य इसके अतिरिक्त इसके अलावा और कुछ भी नहीं है।

स्पष्टत: कला के दो पक्ष हैं। भाव पक्ष तथा कला पक्ष, आस्वादन् की इस प्रक्रिया में दोनों भिन्न न होकर एक ही प्रतीत होते हैं। लेकिन विवेचन मूल्यांकन के लिए दोनों को अलग से देखना होगा। यह भी निश्चय करना होगा कि कौन सा पक्ष अधिक प्रबल है।

असल में कलाकार किस प्रणाली के आलंबन से अपने हृदयगत भावों को अपने से भिन्न सहृदय के लिए आस्वादनीय बनाता है? क्या वह अपना हृदय खोलकर दिखा सकता है? कदापि नहीं। केवल प्रतीकों के सहारे ही वह अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में यह तो अनुक्त सिद्ध है कि कला प्रतीकों की अपेक्षा रखती है। जिस प्रकार संगीत के लिए राग-रागिनियों, चित्र के लिए रेखाएँ आवश्यक है उसी प्रकार साहित्य के लिए शब्दावली भी प्रत्येक का कला पक्ष इसी क्रम से है। कलाकार की कल्पना को अन्तर्मुक्त रखने में माध्यम की जो क्षमता है, उसी की मात्रा के अनुरूप ही कलाओं की उच्चता-निम्नता निश्चित होती है।[1]

सारांश यह है कि प्राचीन भारतीय दृष्टि से 'कला' शब्द अत्यन्त व्यापक है। लौकिक दृष्टि से प्रायः कारीगरी अथवा कौशलपूर्ण कार्य को कला कहा गया है। कला और शिल्प शब्दों का प्रयोग समानार्थी भी रहा है।

'कला' का यूरोपीय दृष्टिकोण भी यही है। 'कला' शब्द से सम्बद्ध अस्पष्टताओं को स्पष्ट करने के लिए हमें इसका इतिहास देखना चाहिए। यूनानी में (Techne) के समान प्राचीन लैटिन में Ars **का अर्थ भी एक बिल्कुल भिन्न वस्तु है।** परन्तु वहाँ कला के लिए प्रचलित शब्द 'आर्ट' का संबंध पुरानी फ्रेंच आर्ट और लैटिन 'आर्टेम' या 'आर्स' से जोड़ा जाता है। इसके मूल में अर (Ar) धातु है। जिसका अर्थ बनाना, पैदा करना या 'फिट करना' होता है। संस्कृत धातु ईर (जाना, फेंकना, डालना, काम में लाना) भी इस अर् से सम्बद्ध मानी जाती है। लैटिन में 'अर्स' का वही अर्थ था जो संस्कृत में

---

1. भारतीय काव्य सिद्धान्त, ले0-नामवर सिंह, पृ0-26

'कला' या 'शिल्प' का सामान्य अर्थ था, अर्थात् शारीरिक या मानसिक कौशल जिसका प्रयोग किसी कृत्रिम निर्माण में किया जाय। यहाँ तीन बातें ध्यान देने की हैं। एक तो यह कि कला प्राकृतिक कृतिव्य में नहीं, कृत्रिम में है, इस रूप में यह प्रकृति विरोधी है और दूसरी यह विज्ञान से भिन्न है। विज्ञान में ज्ञान का प्राधान्य है और कला में करने या कृतत्व का। तीसरी बात यह कि केवल वही क्रिया जिसमें कौशल लगे कला है। इसका अर्थ यह है कि कौशल विहीन क्रिया या भौंड़े ढंग से करने में कला नहीं है।

अंग्रेजी में कला शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 13वीं सदी के प्रथम चरण में हुआ, पर वहाँ इसका अर्थ शुद्ध 'कौशल' मात्र है। लगभग 400 वर्ष बाद 17वीं सदी में कला का वहाँ वस्तु, मूर्ति, चित्र, काव्य, संगीत, नृत्य तथा भाषण आदि के लिए भी प्रयोग होने लगा।

अरस्तु ने शिल्पों की क्रमबद्धता के बीच से सर्वोच्च शिल्प का विचार खींच निकाला जिस पर सारी क्रमबद्ध श्रेणियाँ केन्द्रित हैं, परिणामतः इस सर्वोच्च शिल्प की रचना को बनाने में, अपना-अपना काम किया, अतः इसकी उपज को सर्वोच्च सम्मान कहा जा सकता है।[1]

मन की व्यग्रता जब झंकृत होती है तो इसेस्र एक आलम्बन की सख्त आवश्यकता महसूस होती है, परन्तु जब ये आवश्यकतायें उद्दीप्त होकर मानव मंजू में धारण होकर एक सीधे गति से चलने लगती है तो कतिपय अपवादों को छोड़कर उस विशेष गति से कलाओं का सृजन होता है। मनुष्य उच्च बौद्धिकता का प्राणी है, इसलिए वह यह चाहता है कि जो उसने किया है

---

1. कला के सिद्धान्त, ले0-आर0 जी0 कलिंगवुड, पृ0-39

उसका दूसरे भी समुचित लाभ आत्मसात करें। इसके लिए वह अपने शब्दों के द्वारा उसकी व्याख्या करना प्रारम्भ कर देता है इसे संक्षेपण करने के लिए सिर्फ उसके सारतत्वों को ध्यान में रखते हुए परिभाषायें व्यक्त करना प्रारम्भ कर देता है, यों तो किसी भी वस्तु को कुछ शब्दों में बाँधना बड़ा कठिन कार्य है और वो भी कला, इसको तो विद्वानों ने सबसे कठिन माना है।[1] इस कठिनाई के बावजूद भी जिसने भी इस विषय पर लेखनी उठाई, प्राय: सभी ने ज्ञात या अज्ञात रूप में इसकी परिभाषा दी है, पर एक विशेषण इन सभी परिभाषाओं में दी है। सबने 'कला' की परिभाषा दी पर हो गयी वह 'ललित कला' की। यह कमी या अच्छाई निरपवाद रूप में से प्राय: सभी परिभाषाओं में है। यहाँ कुछ परिभाषा निम्न हैं-

प्लेटो- 'कला सत्य की अनुकृति की अनुकृति है।'[2]
अरस्तु- 'कला अनुकरण है।'[3]
गेटे- 'महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करना ही सबसे बड़ी समस्या है।'

उक्त परिभाषाओं में प्राय: सत्य (अथवा ईश्वरीय सत्य) को मूल आधार मानकर कलाओं को उसी की अनुकृति कह दिया गया है। प्लेटो ईश्वर को सत्य मानते हैं। उनके विचार से यह सृष्टि उस ईश्वरीय सत्य की अनुकृति है। कलाकार इसी अनुकृति की अनुकृति करता है। अत: यदि प्रकृति ईश्वर से एक गुनी भिन्न है तो कला ईश्वर से दोगुनी भिन्न है। गेटे के विचार से भी कला के द्वारा महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत की जाती है। शतपथ् ब्राह्मण में भी

---

1. Although this is a universal human activity, art is one of the hardest thingns in the world to define, आक्सफोर्ड जूनियर इनसाइक्लोपीडिया, लंदन, भाग 18, पृ0-24
2. द मेकिंग आफ लिटरेचर, स्काट जेम्स, पृ0-37-46
3. अरस्तू का काव्य शास्त्र, डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-6

शिल्प को देवशिल्प की प्रतिकृति कहा गया है। प्रकृति देवशिल्प है तथा मानव-शिल्प उसी की अनुकृति करता है।

निम्नलिखित परिभाषाओं में कला को अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है:

⇒ क्रोचे – 'कला वाह्य प्रभावों (impersssion) की अभिव्यक्ति (expression) है।[1]
⇒ हीगेल – 'कला' अर्धभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है।
⇒ टालस्टॉय- अपने भावों को क्रिया, रेखा, रंग, ध्वनि या शब्द द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि उसे देखने या सुनने वाले में भी वे ही भाव जग जाएँ, कला है।[2]
⇒ रस्किन- 'कला, ईश्वरीय कृति के प्रति मानव आह्लाद की अभिव्यक्ति है।'
⇒ गोथे- 'किसी भी कला की सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किस प्रकार महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करे।'
⇒ फ्रायड्- कला दमित वासनाओं का उभरा हुआ रूप है।'[3]
⇒ शेली- 'कल्पना की अभिव्यक्ति है।'
⇒ टैगोर- 'कला में मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता है।'

संस्कृत लेखकों के मतानुसार-

⇒ क्षेमराज- 'कलामति स्व स्वरूपा वेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनति इति कला व्यापारः। इस पर टिप्पणी करते हुए कलायति् स्वरूप आवेशयति् वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कला न मेव कला्। प्रसाद जी इसका अनुवाद करते हैं- 'नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्म को परिमिति रूप में प्रकट करती है इसी क्रम का नाम कला है।

---

1. Aesthtic, Croce, London, पृ0-13
2. What is out - Toltoy, पृ0-123
3. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, ले0-गोविन्द त्रिगुणायत, पृ0-34-38

⇒ भोजराज अपने तत्व प्रकाश में कहते हैं- 'त्यंजयति कर्तृशक्ति कलेसि् तेनेट कथिता सा।'

⇒ प्रसाद जी का मत है- ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का संकुचित रूप जो हमको बोध के लिए मिलता है वही कला है।[1]

⇒ मैथिलीशरण गुप्त- 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को कला मानते हैं'[2]

⇒ जैनेन्द्र कुमार- 'कला', मनुष्य ने बनाया इसलिए की उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत किसी सत्य को प्रकट करना चाहता है।[3]

इस प्रकार के सैकड़ों मत विश्व साहित्य में व्यक्त किये गए हैं। जैसा कि, ऊपर संकेत दिया जा चुका है, इन परिभाषाओं में सभी ललित कला की तरफ ज्यादा उन्मुख हैं, कला की ओर नहीं। तत्वतः अपने व्यापकतम् रूप में 'कला' मानव की कृतव्य शक्ति का किसी भी मानसिक तथा शारीरिक उपयोगी या आनन्ददायी या दोनों से युक्त वस्तु के निर्माण के लिए किया गया कौशलपूर्ण प्रयोग है। इसीलिए हमारी सामान्य से सामान्य क्रिया भी किसी अंश तक कला की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार कला का क्षेत्र व्यापक है। उसके अनंत और असंख्य भेद या रूप हो सकते हैं। खाने, चलने, बात करने, और झूठ बोलने की कला से लेकर चित्र, संगीत और काव्य कला तक। यह तो इसका एक व्यापक रूप है। संकीर्ण सीमित या संकुचित दृष्टि से 'कला' शब्द का प्रयोग केवल ललित कला के लिए ही होता है। आलोचना, साहित्य या सौन्दर्य शास्त्र के प्रसंग में प्रायः 'कला' शब्द का प्रयोग इसी संकुचित अर्थ में

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, पृ0-15
2. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, 5 साकेत, सर्ग 5
3. साहित्य श्रेय और प्रेम-जैनेन्द्र कुमार, पृ0-34

होता है। दार्शनिकों, कवियों तथा आलोचकों ने इसीलिए कला की परिभाषा देते समय अपना ध्यान प्राय: इस सीमित अर्थ पर ही केन्द्रित रखा है। इस दृष्टि से 'कला' शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है।' इस सीमित अर्थ में प्रयुक्त 'कला' शब्द का ही विशेष महत्व है। इसे लेकर पहला प्रश्न उठता है कि कला क्या है? इस संबंध में अधिकतर विद्वान एकमत हैं। इनके अनुसार कला अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति कहाँ होती है, इस बात को लेकर थोड़ा सा मतभेद अवश्य है। क्रोचें के अनुसार यह अभिव्यक्ति बाहर न होकर मनुष्य के मन में ही होती है। इसीलिए बाहर दिखायी पड़ने वाली वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य आदि कलाओं को वह यर्थाथ कला की प्रतिकृति मात्र मानता है। अन्य विद्वान कला के इस वाह्य मूर्त रूप को ही कला अर्थात अभिव्यक्ति मानते हैं। वस्तुत: यह प्रश्न मनोविज्ञान का है। कला की एक अमूर्त अभिव्यक्ति मानस में होती है और इस में भी संदेह नहीं की रंग, स्वंर, शब्द आदि द्वारा अभिव्यक्त कला जिसका रसास्वादन दूसरे भी कर पाते हैं, उसकी प्रतिकृति ही है। पर प्रत्यक्षत: या व्यवहारत: यह तथाकथित प्रतिकृति ही सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ है अतएव तात्विक दृष्टि से आन्तरिक अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए भी वाह्य अभिव्यक्ति को क्रोचें की भाँति महत्व न देना उचित नहीं कहा जा सकता। इसका आशय यह है कि दोनों, ही अभिव्यक्तियाँ कला हैं। तात्विक दृष्टि से पहली और व्यावहारिक दृष्टि से दूसरी। इसका उत्तर पाते ही प्रश्न उठता है, कि अभिव्यक्ति किसकी होती है। स्पष्ट है कि अनुभूतियों के कारण उठे भावों की होती है। भावों को उठाने में दो का योग है। एक तो वाह्य जगत के रूप-संस्कार का जिनके आधार पर भाव उठेंगे,

दूसरे प्रतिभा जिसके कारण रूप-संस्कार भावों को जगाने में समर्थ्य होगा। इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को ही लोगों ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति या सत्य की अभिव्यक्ति कहा हैं।[1]

कला का उद्देश्य– कला-सृजन कलाकार का प्रमुख धर्म है। इस कार्य में उसकी प्रतिभा से इस तरह से रूपायित हो उठती है कि वह देश का अतिक्रमण करके स्थायी सौन्दर्य की जनक बन जाती है। जो भावना कलाकार को कला-सृजन की एक प्रेरणा देती है वही उस कला कृति के द्वारा तृप्त भी होती है। अतः कला के जो प्रेरणा-स्रोत हैं वे ही कला के उद्देश्य भी हैं। किन्तु कला-सृजन की प्रेरणा का पक्ष कलाकार का व्यक्तिगत पक्ष भी समाज से सम्बन्धित है। इस प्रकार कला के उद्देश्य पर विचार करने वाले दो वर्गों में विभक्त हो गए हैं, एक वर्ग कला का सामाजिक उपयोग मानता है। दूसरा वर्ग जो अपेक्षाकृत नवीन है, कला को कला के लिए मानता है। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं कि एक प्रकार की विचारधारा को मानने वाले किसी 'दल' के रूप में संगठित होकर आन्दोलन चला रहे हों। वस्तुतः एक प्रकार की विचारधारा से सम्बन्धित विद्वानों को, केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, एक वर्ग के अन्तर्गत रख लिया गया है।

कलात्मक संश्लेषण त्रिशंकुवल अधर में नहीं लटकता रहा। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चित देश-काल की अपेक्षा होती है। जब कलाकार की द्वन्द्वात्मक स्थिति निश्चित देश और काल की सीमा में संश्लेषित होती है तो उसका मानस अभिनवबोध से सराबोर हो उठता है। इसी को

---

1. कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, डॉ0 भोलानाथ तिवारी, पृ0-24-25

कलाकार के अभिनव यथार्थ-बोध की संज्ञा दी जाती है। इसे इसी रूप में समझने की जरूरत है। कलानुभूति अभिव्यक्ति और कला के सृजन और पुर्नसृजन में स्वकीय स्थिति से विचलन (डीविएशन) की आवश्यक संभावनाएँ निहित होती हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति के विचलन से न तो कलाकार परिचित होता है न सृजन और पुनर्सजन के विचलन से सामान्य दर्शक। इसीलिए दोनों भ्रमपूर्ण स्थिति के शिकार होते हैं और वे कला-मर्मज्ञ के महिमा-मंडित आसन से च्युत हो जाते हैं। जिस भी कलाकार को इन स्थितियों का ज्ञान हो जाता है, उसकी रचना में प्रसववेदना जैसी एक अन्तर्निहित कसक झंकृत होती रहती है जो अपनी व्यंजना में बहुत कुछ व्यंजित करने के बावजूद व्यंजनातीतता बनी रहती है, यही [illegible] उसे देश और काल का अतिक्रमण करने का सामर्थ्य प्रदान करती है।

अतएव कला के उद्देश्य को लेकर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये गये हैं, चूँकि जीवन ही नहीं प्रकृति ने भी अपने को सजाने-सँवारने तथा अन्यत्र रूपों में प्रस्तुत होने का प्रयास किया है। उसी प्रकार कला भी जीवन को सत्य, शिव, सुन्दरम् की प्राप्ति में सहायक है, इसके उद्देश्य को विभिन्न लोगों ने अपने-अपने रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कोई विवेचनार्थ[1] कोई जीवनार्थ[2] कोई प्रचारार्थ[3], कोई यशार्थ कोई सेवार्थ, कोई आनन्दार्थ और कोई विनोदार्थ।

---

1. अरस्तू
2. रस्किन, टालस्टाय
3. कुछ अंशों में नाजी तथा रूसी दृष्टिकोण। Art and Socil Life- G.U. Plebhanaw के अध्याय 1-6 यों तो यह दृष्टिकोण सभी स्थान पर कुछ वर्ग के लोगों में मिलता है पर कभी रूस में तथा कभी जर्मनी में भी इसे प्रधान्य दिया गया है। Art and Socil Life- G.U. Plebhanaw के अध्याय 1-6, 8

इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें कोई भी 'अर्थ' शेष नहीं बचता जिस पर रचना न हुई हो। पुरातन युग में कला ही नहीं, समग्र जीवन पर धर्म का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। धर्म के प्रभाव से मानव के समस्त क्रिया-व्यापारों का जीवन के हेतु मंगलकारी होना अनिवार्य समझा जाता है। उपनिषदों में शिल्पों को आत्मा का संस्कार करने वाला माना गया है।

"आत्म संस्कृतिर्व शिल्पाणि" (गो0506/28)[1]

'शिवस्वरूप विमःर्शिनी' में क्षेमराज ने परमानन्द में लीन होने में सहायक कला को ही सर्वोत्तम माना है:

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्द ययात्मा सा परा कला।।[2]

भारत में यद्यपि एक ओर कलाओं को काम तृप्ति का साधन मानते हुए 64 आदि काम-कलाओं का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर चित्रसूत्रकार ने कलाओं को जीवन के चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति में सहायक माना है:

कलानां प्रवरं चित्र ~~धर्मार्थकाममोक्ष~~ धर्मकामार्थमोक्षम्।[3]

कलाओं के लोक-कल्याणकारी स्वरूप की ओर सामान्य निर्देश करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य आदि के विषय में कहा है:

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सव कैंह हित होई।।

---

1. भारतीय कला के पद्य चिन्ह, डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0-79
2. भारतीय कला के पद्य चिन्ह, डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0-126
3. चित्र सूत्र 38, सम्मेलन पत्रिका, कला अंका पृ0-475

धर्म के प्रभाव से मुक्त अथवा विलास दृष्टि रखने वाले कला-मर्मज्ञों ने कला को केवल धार्मिक, मोक्षदायिनी अथवा कल्याणकारिणी ही नहीं माना अपितु इससे जीवन के अनेक पहलुओं को सम्बन्धित किया। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' को पंचम् वेद कहा और सबको उसमें भाग लेने का अधिकार दिया। संस्कृत काव्य-शास्त्री मम्मट ने काव्य के द्वारा यश एवं धन की प्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट के नाश, मीठे शब्दों में उपदेश शीघ्र तृप्ति को सम्भव माना:

काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतन क्षतये।
कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे, सधः पर-निवृत्तये।।

अकबर के दरबारी कवि पृथ्वीराज राठौर ने काव्य में कतिपय अन्य लक्ष्यों को भी सम्मिलित कर लिया है। उनके अनुसार काव्यानुशीलन से हरिस्मरण, श्रृंगार रस, समर भूमि में शत्रु पर विजय प्राप्त करने एवं पारखियों की सभा में बोलने के ढंग आदि का लाभ होता है।[1]

भारत की भाँति यूरोप में भी कलाओं से सर्वाधिक कार्य धर्म-प्रचार में लिया गया है और यही धारणा रही है कि कला का प्रधान लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति में मनुष्य की सहायता करना है। जो कला ऐसा नहीं करती उसे निकृष्ट माना जाता रहा है। प्लेटो कलाओं को अनुकरण मानकर निकृष्ट कहते ही थे और केवल उन्हीं कृतियों को उत्कृष्ट मानते थे जो ईश्वर की प्राप्ति में सहायक हों। इस विचारधारा को यूरोप में मध्यकाल तक प्रश्रय मिलता रहा। दान्ते एवं

---

1. हरि समरण, रस समझण हरिजाखी,
   चात्रण खल खग खेलि चढ़ाई।
   बाइसे सभा पारखी बोलण,
   प्राणिया वछंई त बोलि पढ़ि

   बेलिक्रिसन रुकमणीसी-पृथ्वीराज राठौड़ से कही, 278

मिल्टन आदि कवि भी इसी विचारधारा के पोषक थे। इस समय तक चर्च की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी और कलाकारों को धर्माचार्यों के आदेश का अक्षरशः पालन करते हुए अपनी कृतियों की रचना करनी होती थी। आकृतियाँ, मुद्राएँ और रंग सभी पादरियों के द्वारा पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार ही अंकित किए जा सकते थे। कलाकारों को किसी भी प्रकार की छूट नहीं थी। किन्तु पुनरुत्थान काल में ऐसे अनेक चित्रकार हुए जिन्होंने धर्म, आदेश के सम्मुख नत-मस्तक होना अस्वीकार कर दिया। धार्मिक सन्तों तथा महापुरुषों की अपने ढंग से व्याख्या की और देवदूतों तथा फरिश्तों का अंकन करने से साफ इंकार कर दिया, क्योंकि उन्हें किसी ने देखा नहीं था। धर्म के विरोध की यह प्रवृत्ति शनैः-शनैः इतनी बलवती हुई कि कलाकारों ने कला को जीवन से पूर्णतः पृथक् करने की घोषणा की और "कला कला के लिए" का नारा लगाया। जर्मनी से प्रारम्भ होकर फ्रांस होता हुआ यह नारा इंग्लैण्ड पहुँचा और वहाँ से भारत आया।

जर्मनी में यह नारा काण्ट नामक दार्शनिक के विचारों के परिणाम स्वरूप विकसित हुआ। काण्ट ने अनुभव किया कि अपनी इन्द्रियों के द्वारा हम अपने 'प्रिय' अथवा 'रुचिपूर्ण' पदार्थों की पहचान करते हैं परन्तु सुन्दर की खोज के लिए हमें 'सौन्दर्यपरक' निर्णय की आवश्यकता होती है। यह निर्णय एक प्रकार का आनन्द है जो कलात्मक अनुभूतियों के रूपों को देखकर प्राप्त होता है। इन रूपों का सर्जक कोई प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही होता है जो अपनी स्वतंत्र कल्पना तथा निर्लिप्तता से उत्पन्न क्रिया द्वारा इनकी व्यवस्था करता है।

काण्ट के इन विचारों में कला के स्वरूप, महत्व, उपयोगिता तथा कलाकार की अवस्था के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। इनसे स्पष्ट है कि कला का लक्ष्य आनन्द की उत्पत्ति करना और कलाकार का कर्तव्य निर्लिप्त रहकर अपनी प्रतिभा से सुन्दर रूपों का निर्माण करना है। कलाकार जब निर्लिप्त रहते हुए कला सृष्टि करता है तो उसे काण्ट के शब्दों में उद्देश्यहीन लक्ष्य (Purposiveness without purpose) कहा जाता है। काण्ट के समकालीन अन्य विचारकों की भी यही मान्यता थी कि लक्ष्य प्रेरित होने से कला अपने स्तर से गिर जाती है।

काण्ट ने कला के केवल आनन्दगुण को ही स्वीकार किया है, उसे उपदेशात्मक अथवा उपयोगात्मक मानने को वह बिल्कुल तैयार नहीं है। उसके मत से सौन्दर्य में उदात्तता का और उदात्तता में नैतिकता का स्वयं निवास है। यदि कला का लक्ष्य उपदेशात्मक होने लगेगा तो कला प्रभावहीन हो जायेगी। लक्ष्य निश्चित होने से कलाकार की कल्पना में भी गतिरोध उत्पन्न होगा और कला अपनी लक्ष्य सिद्धि से गिर जाएगी।

काण्ट एवं हीगेल के द्वारा समर्थित यह विचारधारा उन्नीसवीं शती के आरम्भ तक चलती रही। फ्रांस के विक्टर कजिन ने इसे नवीन दिशा प्रदान की। उनके अनुसार कला के दो कार्य हैं-इन्द्रियों को आनन्द देना और आदर्श की आवश्यकता की पूर्ति करना। सौन्दर्य-भावना नितान्त उदासीनता की भावना है। सौन्दर्य स्वयं कोई उपयोगी पदार्थ नहीं है और सच्चा कलाकार दर्शक की सौन्दर्य विषयक शुद्ध भावना को उत्तेजित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करना अथवा धर्म या आचार की शिक्षा देना

सौन्दर्य नहीं है। रुचि या उपयोगिता में भी सौन्दर्य सीमित नहीं है, क्योंकि कला कोई साधन न होकर स्वयं साध्य है।

कजिन ने सत्य और शिव को सौन्दर्य से भिन्न नहीं माना। उनके अनुसार सत्य जब मानवीय कृत्यों में प्रकट होता है तब शुभ बनता है और जब इन्द्रियाँ सम्बेद्य रूपों में प्रकट होती हैं तब सौन्दर्य का नाम ग्रहण करती हैं। इस प्रकार शिव और सुन्दर सत्य की ही दो अभिव्यक्ति हैं। ये तीनों ही परमतत्व के स्वरूप हैं। तत्वतः एक होते हुए भी उनमें जो बाहरी भेद है उसका कारण रुचियां इन्द्रियानुभूति है।

कलाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार के अनेक विचार उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में मिलते रहे। स्वच्छन्दतावाद आदि कला आन्दोलन से भी इन्हें बल मिला और "कला के लिए कला" यूरोप में गूँजने लगा।

तुर्क आक्रान्ताओं के विनाश से भारत के पूर्व-मध्यकाल के इतिहास में हिन्दू-मुस्लिम में दरार पैदा हो गयी थी। मुसलमानों ने व्यावहारिक संबन्धों के भेद प्रकट करने के लिए यहाँ के निवासियों को 'हिन्दू' कहा। **इस शब्द का प्रथम उल्लेख विजयनगर के राजाओं के पन्द्रहवीं शताब्दी वाले शिलालेखों में उपलब्ध है।**[1] अपनी कुलीनता की रक्षा की चिन्ता तत्कालीन हिन्दुओं को अधिक सताने लगी थी और उनकी रक्षा में निमित्त वे स्मृतियों और टीकाओं का सहारा लेने लगे। कभी-कभी विधर्मी तथा विजातीय शासकों द्वारा हिन्दू प्रजा के प्रति क्रूर व्यवहार तक हो जाया करता था, जिससे आतंकित होकर उन्हें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-95

अपने को मुस्लिम प्रजा से भिन्न मानने को बाध्य होना पड़ा। फलस्वरूप इस्लाम का भातृभाव-सन्देश यहाँ उतना प्रभावकारी सिद्ध न हो सका।

तत्कालीन साधु-समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मंडराने लगी थी। गोस्वामी तुलसीदास कृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तात्कालीन स्थिति का स्पष्ट परिचय मिलता है:

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सद्यिमान सोच बस,
एहैं एक एकन सो कहां सोई, का करी।।[1]

इन परिस्थितियों में जन-मानस टूट चुका था, भारतीय कला जो कि सातवीं शती तक अपनी पराकाष्ठा पर थी, विछिन्न हो गई जैन-मुनियों ने ताड़-पत्रों के पोथियों पर चित्रित कर भारतीय चित्र-कला को जीवित रखने का कार्य किया गया।

इस काल में धर्म-साधनों की बाढ़ सी आ गयी और गुह्य साधनाओं के अन्तर्गत कृच्छ साधनाएं भी प्रवेश पा गयीं। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्यभिचार तक पलने लगा। फलस्वरूप ज्ञान-चर्चा की आड़ में पाखण्ड को प्रश्रय मिलने लगा। और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गयी। वाह्याडम्बर तथा कर्म-काण्डादि बाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे। ऐसी परिस्थितियों में गुरू गोरखनाथ ने बाह्य साधनों को गौण ठहराकर मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझा,

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-96

"अवधू मन चंगा तो कठौती में गंगा, बांध्या मेल्हा तो जगत चेला।" कविरादि सन्तों की चेतना भी प्रकाशान्तर से मन की महत्ता को स्वीकार करती जान पड़ती है:

कहे कबीर कृपा भई, गुरु ज्ञान कहा समझाई।
हृदय श्री हरि भेटियै, जो मन अनतै नहि जाई।।[1]

इब्राहीम लोदी को मुगल बादशाह बाबर ने 21 अप्रैल 1526 ई0 को पानीपत युद्ध में परास्त किया।[2] चूँकि मुगल एक संस्कृति पसन्द शासक थे, इसलिए पन्द्रहवीं शती से देश में सांस्कृतिक पुनरूत्थान की एक व्यापक लहर आरम्भ हुई। रामानन्द, कबीर, चैतन्य आदि ने भक्ति आन्दोलन को बल दिया। अनेक हिन्दू-मुस्लिम उदार राज्यों की स्थापना हुई। जहाँ भारतीय तथा ईरानी तत्वों के सम्मिश्रण से चित्रकला के नवीन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ।

भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ी की कला-क्षेत्र में भी उसकी स्पष्ट छाप लक्षित होने लगी। इस समय की चित्रकला में भारतीय बाङ्मय् के दर्शन होनें लगते हैं, तथा चित्र-कला का उद्देश्य भक्ति के साथ-साथ लोक हितकारी भी हो गया है। वल्लभाचार्य के वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण कृष्णभक्ति का सर्वोपरि महत्व माना जाने लगा था। तत्कालीन चित्रकारों के समक्ष 'भागवत् पुराण' ही अपनी कलाकृतियों के लिए प्रमुख विषय रह गया था। यही कारण है कि 17वीं शताब्दी के मध्य में 'भागवतपुराण्' की बहुत सारी सचित्र प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। 'रामायण',

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-99
2. मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन, राम प्रसाद त्रिपाठी, पृ0-28

'महाभारत', 'गीत-गोविन्द', 'सूरसागर' इत्यादि ग्रन्थों के आधार पर चित्रों का सृजन कर कलाकार अपने उद्देश्य की पूर्ति जनमानस को जागृत करने में करता था, इसलिए हम देखते हैं कि इस समय की कला तो पूर्ण रूपेण राजाश्रय पर आश्रित थी परन्तु उसमें लोक कला का भी स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल (लगभग सन् 1643 ई. से सन् 1843 ई.) को रीतिकाल कहा जाता है, इस समय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था में अनेक उतार-चढ़ाव आये तथा वर्ग-विशेष की अभिरुचि द्वारा नियमित होने के कारण साहित्य और कला ने विशिष्ट दिशा प्राप्त की।

इस काल में सामन्तवाद का बोलबाला था और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जनसामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में गरीबों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और शासक एवं सम्पन्न वर्ग श्रम किये बिना ही सम्पन्न था।

अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा सन्तों और सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगजेब के कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था।

चित्रकला को जहाँगीर के राज्यकाल में गुण और परिणाम के कारण यद्यपि मुगल काल का स्वर्णयुग कहा जाता है तथापि उसके बाद भी इसकी समृद्धि में कमी न आयी- यहाँ तक कि औरंगजेब जैसे रूक्ष व्यक्ति ने अपने चित्र

अंकित कराए। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि सम्राटों की अभिरुचि का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण इसकी स्वाभाविकता और सजीवता में कमी आने से नूतनता की दृष्टि से इसमें एक प्रकार का ह्रास आता गया। शाहजहाँ की अलंकारप्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके विभिन्न राजकीय क्रिया-कलापों- विशेषत: राजकीय ठाठबाट के चित्रों में चमक-दमक को अधिक स्थान मिलने लगा, रंगों में सुनहरी पानी को इतना महत्व दिया जाने लगा कि उनमें चित्रित व्यक्ति भी जड़ प्रतीत होने लगे। उनमें सजीवता और गति के स्थान पर जड़ता आ गयी। व्यक्ति चित्रों का उत्तरोत्तर अभाव होता चला गया। राजस्थानी शैली के चित्रों का उद्देश्य भी रागमाला था। इनमें ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखाओं और रंगों से बद्ध किया गया है। पहाड़ी शैली के चित्रों में भी 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत', 'दुर्गासप्तशती', 'पुराण', 'इतिहास', 'लोककथा' आदि के दैनिक जीवन से सम्बद्ध बातें रही हैं। इन चित्रों में भावात्मकता अधिक है तथा सामान्य रूप से इनका झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। संक्षेप में, इस युग की चित्रकला का उद्देश्य राजसी ठाठबाट तथा जन-जीवन दोनों को सम्यक् रूप से लेकर चली है। इस युग के कवियों द्वारा रचित राज प्रशस्तियाँ तथा श्रृंगारिक रचनाएँ क्रमश: इन दोनों प्रवृत्तियों के चित्रों के समानान्तर कही जा सकती है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इस देश को जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आना पड़ा, वह भारत के ज्ञान-विज्ञान से प्रकृति में ही भिन्न था। इस शिक्षा-प्रणाली के कारण छोटा सा बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग जरूर पैदा हुआ, पर अधिकांश लोग निरक्षर रह गए। फिर भी, इससे एक प्रकार

धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बना जो मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण तर्कसम्मत और इहलौकिक हो सका। वैयक्तिक स्वतन्त्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है। आश्रम-धर्मी घेरेबन्दी से बाहर निकलकर व्यक्ति के अपने निर्णय को प्रमुखता मिली। मध्यकालीन धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने और आधुनिक युग की समस्यायों से जोड़ने के मूल में भी *यही* प्रवृत्ति क्रियाशील थी।

भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग का सूत्रपात लगभग बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ हुआ। इतने कम समय में उसने जो प्रगति की है उसका श्रेय वर्तमान पीढ़ी के उन सभी कलाकारों को प्राप्त है, जिन्होंने परिस्थितियों की चिन्ता किये बिना अपनी साधना को अविरत रूप में बनाये रखा। ये कलाकार, जैसा की उनकी विधाओं से स्पष्ट है, विभिन्न वर्गों से संबंधित है। यद्यपि आधुनिक चित्रकला के तीन प्रमुख स्कूल माने जाते हैं-कोलकाता, मुम्बई और दिल्ली, किन्तु **इस**के आधार पर चित्रकारों के उद्देश्यों का वर्ग करना अनुचित है।

आधुनिक काल में कुछ दिनों तक भारतीय चित्रकला पश्चिम का अनुकरण करती रही। पर पश्चिम के ढंग में जिन तैल-चित्रों का निर्माण किया गया, वे अपनी अभिव्यक्ति में मध्यकालीन थे। यहाँ कुँवर नारायण का विचार उल्लेखनीय है, 'दो या दो से अधिक कलाओं के मिलने से दोनों के रूप बदलते हैं। उनका एक दूसरे पर खास तरह का नस्ली प्रभाव (म्यूटेशनल इफेक्ट) पड़ता है, जिससे उसमें नवीनता और शक्ति आती है। विदेशियों के लगातार उपस्थिति का प्रभाव जो भारतीय कलाओं पर पड़ा, उसे किसी हद तक राजनीतिक दृष्टि से अलग करके देखने की जरूरत है, तभी हम अपनी

और दूसरों की-कलाओं के इतिहास को राजनीतिक इतिहास से भिन्न समझेंगे।"[1] इस प्रकार हम पाते हैं कि 'बंगाल स्कूल' के स्थापना से कला का पुनर्जागरण हुआ था। इस समय अवीन्द्र बाबू ने भारत की समृद्ध परम्परा की झाँकी खोली, इन लोगों ने कला का उद्देश्य भारत की अपनी परम्परा को कायम रखने में समझा, परन्तु इसी समय गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ने यूरोप की "कला के लिए कला" से प्रभावित होकर उसका समर्थन किया। उनका कथन था कि "जल में क्रीड़ा करने वाली मछलियों के सौन्दर्य का अनुभव कोई निरपेक्ष दृष्टा ही कर सकता है, मछली पकड़ने वाला मछुआरा नहीं।"

भारत में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहास के अभ्युत्थान में कला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समय-समय पर राजनीतिक कारणों से सामाजिक जीवन के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए और विधर्मी सत्ता के कारण इस देश की संस्कृति में जिन नए तत्वों का समावेश हुआ उसका क्रमबद्ध इतिहास उस समय की कलाकृतियों में देखने को मिलता है।

चित्रकला के क्षेत्र में इस परिवर्तन के प्रभाव तत्काल स्पष्ट हुए। 1944 ई. को श्रीमती कैंसी के प्रभाव से कोलकाता में जो प्रदर्शनी आयोजित हुयी थी उसमें दिखायी गयी कलाकृतियों को अधिकतर लोगों ने पतन या पलायन का कारण कहा। इसके विपरीत भी लोग परिवर्तित परिस्थितियों से परिचित थे उन्होंने उन कृतियों को प्रगतिशील भविष्य का द्योतक बताया। 1948 ई. में जाकर जब भारत स्वतन्त्र हो चुका था, इन कृतियों को मान्यता मिली।[2]

---

1. आधुनिक कला कोष, ~~कुँवर नारायण~~ सं० विनोद भारद्वाज
2. भारतीय चित्रकला, वाचस्पति गैरोला, पृ0-157

आधुनिक चित्रकला का उद्देश्य स्थूल से सूक्ष्म, देह से मन, कृत्रिमता से अकृत्रिमता, सामाजिकता से वैयक्तिकता तथा बन्धन से मुक्ति की ओर है। परम्पराओं को तोड़ने का आग्रह इसमें इतना है कि वह स्वयं एक परम्परा बन गयी है।[1]

हमारे देश की अभिनव कला-प्रवृत्तियों (समकालीन) में आज दो प्रकार की असमानताएँ एक साथ देखने को मिलती हैं, एक पुरातन के प्रति लगाव तो दूसरा नूतन को प्राप्त करने की छटपटाहट। आज कला सामान्य जन को अपना विषय बना कर कम्प्यूटर के माध्यम से पूरे विश्व को परोस रही है, तो विश्व बाजार के अन्धी दौड़ में स्थापित होने के लिए 'वेब डिजाइन' के माध्यम से 'फैशन डिजाइन' तथा 'मोटर डिजाइन' आदि के द्वारा आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति तथा ग्लोबलाइजेशन में अपने को बचाए रखने को अग्रसर हो रही है।

इसका स्पष्ट उदाहरण ललित कला अकादमी का दसवीं अन्तर्राष्ट्रीय कला त्रैवार्षिक जो पिछली त्रैवार्षिकियों से अलग थी तो इसी मामले में कि इस बार इंस्टालेशन आर्ट की बहुलता थी, ज्यादातर फैशनेबल चीजों की तरह लोग यह भूल जाते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय पसन्द हमेशा क्रान्तिकारी या नयी ही नहीं होती, दरसल 1968 में पहली त्रैवार्षिकी में अमेरिकी मूर्तिकार कार्ल आंद्रे ने अपनी एक कलाकृति प्रदर्शित की थी, प्लास्टीसीन छड़ियों को फर्श पर सजाकर यह कलाकृति तैयार की गयी थी।

इस बार बाहर से आयी सबसे दिलचस्प प्रविष्टि थी- युगेन कारशेसियो पुरस्कार विजेता कृति-आन कंटेपरेरी साइलेंस-यह न्यूनतम चीजों के इस्तेमाल से

1. भारतीय कला के पद् चिन्ह, डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0-25

सफेद कमरा है जिसमें सफेद दीवार पर ज्यामितिय ढंग से सफेद कागज के शंकु लगाए गए थे, यहाँ शांति प्रतिध्वनित होती है और आँखे एक काल्पनिक गति पर थिरकने लगती हैं।

इसके अलावा नेहरू पार्क में ग्रौब्रिएल हीडेकर की 'ओपन एअर कृति रेड लेक फील्ड 2001'-भी है, इसमें चौकोर काले गढ़े में प्रकृति के साथ एकाकार होकर यह कई रूप बदलता है, जैसे मूर्ति पूजा में असली महत्व भावना का होता है, उसी तरह इस कृति में असल महत्व चाक्षुश स्थिरता के बजाय बदलाव की प्रक्रिया में है।

ब्रिटेन की कैथरीन पास के कंप्यूटर की मदद से बनाए गए. हिन्दी फिल्मी सितारों के पोर्ट्रेट भी प्रदर्शित किए गए हैं।

इसी प्रकार की एक और कार्यशाला मोदीनगर में नवम्बर 2000 में आयोजित किया गया, जिसमें देशी तथा विदेशी कलाकारों ने दो सप्ताह रहकर एक साथ कार्य किया।[1]

इसमें कुछ विदेशी कलाकारों ने स्थानीय सामग्री का इस्तेमाल किया, मिसाल के तौर पर ब्रिटेन की लीन हॉलैण्ड ने अपने काम को घर प्रवेश द्वार के पास सजा रखा था, उन्होंने सूती धागे की बड़ी रील ली, जिसे उन्होंने स्थानीय मिल से ली थी, और स्थानीय लोहार से कुछ ताले-चाभियाँ लेकर अपनी कृति 'एक्सेस नो एक्सेस' तैयार की थी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि कला का उद्देश्य समय सापेक्ष स्थिर रहता है, उसके रूप बदलते रहते हैं, माध्यम चाहे जो भी हो।

---

1. इडिया टुडे, साप्ताहिक, 29 नवम्बर, 2000

अतएव बदलते कला रूपों में भी लोगों का मानना है कि कला को सामाजिक सरोकारों से भरपूर होना चाहिए, निरुद्देश्य कला व्यर्थ है।

कला में जब सौन्दर्य के साथ-साथ लोक कल्याण की भावना आ जाती है, तभी सत्य, शिव तथा सुन्दर की प्रतिष्ठा होती है। कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह संसार को सत्यदेव की सुन्दरतम झाँकी करायें, किन्तु साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसकी कला विश्व की कल्याण करने वाली हो।

कला-सृष्टि के समय कलाकारों की भिन्न-भिन्न प्रेरणायें रहती हैं, जिससे कला के लक्ष्य में भिन्नता आना स्वाभाविक है। न सब कलाकार एक ही प्रकार की प्रेरणा से कार्य कर सकते हैं और न कोई वस्तु अनेक कलाकारों को एक समान प्रेरित ही कर सकती है। इनमें कुछ उपयोगी और कुछ निरुपयोगी रहना नितान्त स्वाभाविक है। इसी को लक्ष्य में रखते हुए हर्वर्ट रीड ने कलाओं का कार्य सामान्य रूप से भाव की अभिव्यक्ति एवं परस्पर समझदारी बढ़ाना माना है।[1] वहीं पी. सेजविक ने कला के सात कार्य माने हैं।[2]

निरीक्षण करना (To observe)
अंकित करना (To record)
टिप्पणी करना (To comment)
व्याख्या करना (To interpret)
मूल्यांकन (Evaluation)
औचित्य निर्धारण (To justify)
सृष्टि (To create)

---

1. The Meaning of Art, H Read, P-260
2. Art Appreciation - P. Sedyewick, P 21

इन सात कलाओं में सभी उद्देश्य आ गए हैं। कला को कला के लिए मानने वाले प्रथम दो तथा अन्तिम कार्य को कलाओं का लक्ष्य मान सकते हैं, और शेष को दूसरे पक्ष वाले अपने लिए चुन सकते हैं। कला कला के लिए भी है और जीवन के लिए भी।[1]

कला का वर्गीकरण–

कला न तो केवल मूर्त स्वरूप है जिसका द्रव्य के रूप में आस्वादन किया जाय, और न वह केवल रचना प्रक्रिया है जिसके रहस्यमय स्वरूपों से माथा-पच्ची की जाय। कला तो रचना प्रक्रिया से प्राप्त कलात्मक निरूपण है, मानवता की सृजनशील चेतना का गतिशील अभियान है, अथवा यूँ कहें कि समूची मानवता की महत्तम उपलब्धियों की कीर्तिमान है। जिस तरह व्यक्ति के मानस में पूर्ण संवेदन, अनुभूति प्राप्त ज्ञान निहित रहते हैं जो उसे नई अनुभूतियों को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं, उसी तरह समूची जाति के भूत उसके साहित्य और कला में सुरक्षित रहते हैं, जो उसे प्रस्तुत परिस्थितियों को समझने में सहायक सिद्ध होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कला में यथार्थ को उसके मानसिक स्वरूप में व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस अर्थ में कला ऐसी रचना प्रक्रिया का परिचायक बन जाती है, जिसमें कलाकार के सचेतन अभिव्यक्ति के प्रयास के साथ ही उसका आत्म-साक्षात्कार-जनित-आत्मसंघर्ष निहित होता है। आरम्भ में ही एक समझदार व्यक्ति में इस जिज्ञासा का आविर्भाव होता है कि क्या ऐसी विशेषताओं से मंडित कला को वर्गीकृत किया जा सकता है? जब हम इस पर विचार करते हैं तो हमारे

1. The Arts and the art of Criticism, Theodore Myre Greene, P.125

सामने दो प्रकार के मत आते हैं-(1) कला का वर्गीकरण नहीं हो सकता। (2) कला का वर्गीकरण हो सकता है। पहले तरह के विचारधाराके प्रमुख प्रतिपादक क्रोचें महोदय हैं। क्रोचें तात्विक दृष्टि से 'कला के विभाजन या 'कलाओं' के रूप में वर्गीकरण को असंगत तथा बेहूदगी (absurdity) मानते हैं। वे तो आवेश में यहाँ तक कहते हैं, कि कलाओं के वर्गीकरण से सम्बद्ध संसार की सारी पुस्तकों को यदि जला दिया जाय तो हानि नहीं होगी।[1] इस सम्प्रदाय के अन्य लोगों में डी0डब्ल्यू0 प्राल का नाम भी लिया जा सकता है।[2] ठीक इसी तरह उपयोगी और ललित कला को लेकर महादेवी ने भी कला के क्षेत्र में इस अत्यधिक प्रचलित वर्गीकरण को वैज्ञानिक नहीं माना है।[3]

लेकिन विरोध के बावजूद भी कला का वर्गीकरण मान्य हो चुका है। इस दृष्टि से विशेष कार्य यूरोप में ही हुआ है पर उस पर आने से पूर्व भारतीय दृष्टिकोण का सिंहावलोकन भी अप्रासंगिक न होगा। भारतीय मनीषी अपनी प्रचलित परंपरा के अनुसार इस दिशा में सोचते-समझते और कुछ करते पर इस प्रकार के किसी ठोस और दो-टूक वर्गीकरण का उल्लेख हमें भारतीय साहित्य में मिलते नहीं। प्रसाद जी तथा कुछ अन्य लोगों ने संकेत किये हैं कि अपने यहाँ 'विद्या' और 'उपविद्या' का अलग क्षेत्र था। विद्या हृदय के समीप थी, उसमें कला का स्थान था। उप विद्याएँ विज्ञान के समीप थी।

---

1. any attcpt at an aesthetic classfication of the art is absurd If they be without limits. They are not exactly determinable, and consequently connot philosophicilly classfied. all the books dealing with classifications and systems of the arts could be burned without any loss whatever, B.Croce, Aesthic, London, 1953, P 1141
2. . any classification fails in the end for the simple reason that beauties are not things and therefore do not fall into classification of things, D.W. Pall, Aesthetic Judement, P.193
3. उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद संभव होते रहे, परन्तु ये भेद मूलत: एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।-महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, प्रयाग, पृ0-9

कलाओं का स्थान उपवद्यिा में ही था। क्योंकि इसमें हृदय पक्ष प्रबल न होकर बुद्धि पक्ष प्रबल होता है। दूसरे शब्दों में इनमें कौशल का प्रधान्य रहता है। कला का यह भी एक प्रकार का वर्गीकरण है।[1] भारतीय दृष्टिकोण से भी चित्र संगीत आदि कलाओं की आत्मा काव्य की भाँति 'रस' है। और उस आत्मा की अपेक्षा मूर्ति, चित्र आदि के लिए है तो काव्य के लिए भी है। इस प्रकार विद्या है तो दोनों (काव्य तथा अन्य कलाएँ) और उपविद्या तो दोनों। इस प्रसंग में एक बात और ज्ञातव्य है। विज्ञान और कला दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। कला के लिए विज्ञान की और विज्ञान को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कला की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में उपविद्या-विद्या को लेकर केवल आधिक्य का ही प्रश्न उठ सकता है और उस आधिक्य की दृष्टि से भी तथाकथित विद्या 'काव्य' और तथाकथित उपविद्या संगीत चित्र आदि में विशेष अन्तर नहीं है।

कुछ लोग कभी-कभी भारत में 64 कलाओं के नाम के आधार पर यह सोचते हैं कि भारत में कला के 64 वर्ग या भेद किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार की धारणा नितांत भ्रामक है।[2]

वेदों के साथ 4 उपवेदों का उल्लेख मिलता है। इनमें कला के क्षेत्र में आने वाले केवल दो ही हैं। एक तो है अथर्ववेद का उपवेद 'स्थापत्यवेद' और दूसरा सामवेद का उपवेद 'गांधर्ववेद'। इनमें स्थापत्य पर 'मानसार' नामक ग्रन्थ

---

1. आज की दृष्टि से ललित कलाओं में जिन पाँच कलाओं का स्थान है जिनमें विद्या उपविद्या वाले सिद्धान्त के अनुसार 'काव्य' विद्या में है तथा शेष 4 उपविद्या में।
2. इसी आधार पर कुछ लोगों ने यहाँ तक अनुमान लगाया है कि प्राचीन भारत में 64 कलाओं या शिल्पों का विस्तृत विवेचन करने वाली 64 स्वतन्त्र पुस्तकें भी थी। Indian widom, M.Williams, P.185

प्रसिद्ध है, तथा संगीत पर सारंगदेव का 'संगीत रत्नाकर' दामोदर का 'संगीत दर्पण' और शुभंकर का 'संगीत दामोदर'। इस तथ्य से तो प्रत्यक्षतः कला के वर्गीकरण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता पर भारत में प्रचलित और प्रसिद्ध कई सौ कलाओं में केवल इन दो को वेदों से सम्बद्ध मानने में यह आशय निकाला जा सकता है कि अपने यहाँ इन दो को कदाचित् प्राचीनता, उपयोगिता और लालित्य के आधार पर बहुत पहले से अधिक महत्व दिया गया है। इस आधार पर इन्हें प्रमुख कलाओं के रूप में मानना अन्यथा न होगा! शेष कलाएँ इसकी तुलना में गौण या अग्रमुख ठहरती हैं।

मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोष में भारतीय दृष्टिकोण से कला के दो भेदों का संकेत किया है-

(1) बाह्य कला (External or Practical Art) जैसे बढ़ईगीरी, सोनारी, वास्तुकला इत्यादि।

(2) आभ्यंतर कला (Secret Art) जैसे चुंबन, आलिंगन आदि।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य से मिलने वाले ये संकेत वास्तव में वर्गीकरण नहीं हैं। लगता है कि अपने यहाँ कलाओं का समय, पात्र और आवश्यकता के अनुसार गणना तो अवश्य की गयी पर वर्गीकरण नहीं किया गया। संभव है कि कलाओं का तात्विक वर्गीकरण असंभव मानकर उसे छोड़ दिया गया हो। वर्गीकरण की ओर उनका ध्यान न गया हो, यह बात गले ही नहीं उतरती।[1]

---

1. कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, डॉ0 भोलानाथ तिवारी, पृ0-28-29

यूरोप में कला के सम्बन्ध में विचार करने का प्रारम्भ यूनान से हुआ। प्लेटों ने दार्शनिक दृष्टि से कला को सत्य की प्रतिकृति को प्रतिकृति मानकर ही उसके समाज-सापेक्ष महत्व पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया था। साथ ही उसने काव्य को संगीत के अन्तर्गत मानने का संकेत देकर कला के विभाजन या कलाओं के वर्गीकरण का श्रीगणेश कर दिया था। आगे चलकर उनके शिष्य अरस्तू ने कला पर और गहराई से विचार किया। अरस्तू के लेखन में ललित कला और उपयोगी कला जैसी पारिभाषिक शब्दावली का तो प्रयोग नहीं है पर उसके 'भाषण कला' (तेखनेसरितोरिकेस) में इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि उनके समय तक उपयोगी का और ललित कला रूप में कला के दो रूप माने जाने लगे थे। कुछ लोग इन दोनों का भेदीकरण 5वीं सदी ई0पू0 में मानने के पक्ष में है।[1] प्रो0 टाफ्ट्सन के अनुसार अरस्तू की दृष्टि में कलाओं के भेदों के वर्ग ठीक आज जैसे नहीं थे, अनुकरण पर आधारित कला को ही वे ललित में स्थान देते थे। इसीलिए उनकी ललित कला की सूची में वास्तुकला को स्थान नहीं था।[2] मेरा विश्वास है कि अरस्तू की यह धारणा विशेष महत्वपूर्ण है और इसके प्रकाश में हीगेल का वर्गीकरण सुधार की अपेक्षा रखता है।

अरस्तू के बाद समय-समय पर अनेकानेक वर्गीकरण सामने आए। मध्ययुग शिवत्व, लालित्य और उपयोग की दृष्टि से कलाओं के (1) आचरण विषय कला (Arts of conduct) (2) ललित कला (Fine Arts) (3) उदार कला (Liberal Arts) ये तीन भेद थे। कुछ लोगों के अनुसार शिक्षा की दृष्टि से उस समय दो प्रकार की कलाएँ थी, एक तो व्यावसायिक कला (Professional art)

1. History of Aesthetic, B Bosnquet, P.38
2. Dictionary of of Philosophy an Psychology, Baldwin, P. 186

जैसे रंगाई, सुनारी, बढ़ईगीरी, नाई का काम, मशीन का काम आदि, और दूसरी उदार कला (Liberal art) जैसे व्याकरण, तर्क, भाषण, रेखागणित, संगीत इत्यादि। शिक्षा के क्षेत्र में इसी आधार पर कला संकाय (फैकेल्टी ऑफ आर्ट) एफ0ए0 (फेलो अव् आर्ट) बी0ए0 तथा एम0ए0 आदि का प्रचलन हुआ। कुछ लोगों ने कला के सामान्य (ललित[1] उपयोगी) भेदको मानते हुए ललित कला के ही विभिन्न आधारों पर विभाजन किये हैं। जैसे-

1. रूप के आधार पर-

(क) स्थान पर आधारित या रूपात्मक जैसे वस्तु, मूर्ति, चित्र।

(ख) गति पर आधारित या गत्यात्मक जैसे संगीत, काव्य।

इसी को कुछ लोगों ने अचल (स्टेटिक) ललित कलाएँ और चल (डाइनेमिक) ललित कलाएँ भी कहा है।

2. इन्द्रियों के आधार पर-

(क) आँख से रसास्वादन होने वाली ललित कलाएँ- जैसे वस्तु, मूर्ति, चित्र।

(ख) कान से आस्वादित होने वाली ललित कलाएँ- काव्य, संगीत।

(ग) दोनों से आस्वादित होने वाली ललित कलाएँ- जैसे नाट्य, नृत्य।

3. मूर्तता के आधार पर-

(क) मूर्त आधार की जैसे- वस्तु, मूर्ति, चित्र। (ख) अमूर्त आधार की जैसे- संगीत, काव्य।

---

1. कालिदास ने रघुवंश में 'ललितेकलविधौ' का प्रयोग किया है, कुछ लोगों के अनुसार इस रूप में अपने यहाँ भी ललित कला और उपयोगी कला का भेद था, पर वस्तुस्थिति यह है कि यहाँ कवि का आशय fine arts से नहीं है। भारत में ललित कला और उपयोगी कला जैसी शब्द अंग्रेजी के शब्दों के अनुवाद स्वरूप प्रचलित हुए हैं।

4. अनुकरण करने या न करने के आधार पर-

(क) अनुकरण पर आधारित जैसे मूर्ति, चित्र, महाकाव्य।

(ख) अनुकरण का आधार न लेने वाली जैसी गीतिकाव्य, वास्तु।[1]

5. मनोवैज्ञानिक आधार-

(क) अनुकरणात्मक जैसे मूर्ति, चित्र।

(ख) आत्माभिव्यंजक जैसे गीतिकाव्य, नृत्य।

(ग) अलंकरणात्मक जैसे श्रृंगार।

इसी प्रकार प्राकृतिक कला- अभ्यास प्राप्त कला या सामान्य कला-सांस्कृतिक कला आदि अन्य रूपों में भी विभाजन हुए हैं। प्रचार तथा व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से हीगेल द्वारा किया गया वर्गीकरण अधिक प्रसिद्ध है। वह कला (ललित) को उसकी विकास-सीढ़ियों के आधार पर तीन वर्गों में रखते हैं-

(क) प्रतीकवादी (Symbolic) वास्तु

(ख) अभिजात्यवादी या शास्त्री (Classic)-मूर्ति

(ग) रोमानी, स्वच्छंदतावादी या भावात्मक (Vossanlic)-चित्र, गीत, काव्य प्रथम में विचार ठीक से अभिव्यक्त नहीं हो पाते। दूसरे में आकार और विचार में कुछ सामंजस्य स्थापित हो जाता है। तीसरे में विचार या भाव और भी सफलता से अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार इस तीसरे का सर्वोच्च स्थान है। इन्हीं तीनों के आधार पर काव्य कला को सर्वोच्च कहता है, उसके बाद

---

1. Guranu ने इसी को Presentative तथा पहले को represntative कहा है।

संगीत, उसके बाद चित्र, तब मूर्ति और सबसे नीचे वास्तु।[1] हिन्दी के विद्वानों ने हीगेल के इस वर्गीकरण को अपनाया है और उसका उल्लेख करते या न करते हुए इस [illegible] का आधार आधार-सामग्री की मूर्तता-अमूर्तता माना है। वस्तुत: हीगेल के विभाजन में दो बातें हैं:-

(1) आधार-सामाग्री की मूर्तता-अमूर्तता

(2) विचार की सफल अभिव्यक्ति

काव्यकला इसीलिए सर्वोच्च है कि उसका आधार अमूर्त है पर उसमें विचारों या भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति सर्वाधिक है। अन्य ललित कलाओं का भी क्रम इन्हीं दोनों पर आधारित है।[2]

इस वर्गीकरण से हमें कला को समझने का सूत्र मिलता है। वास्तुकला चित्रकला और संगीत का नाम लेते ही हमारे मन में उन कलाओं का रूप उभरने लगता है और उनकी विशेषताएँ स्वयंमेव स्पष्ट होने लगती हैं। हर कला का माध्यम होता है, वह किसी न किसी रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं माध्यम को अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन माना जा सकता है। इसके माध्यम से हम विषयवस्तु को व्यवस्थित और व्यंजित ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जब विषय वस्तु व्यवस्थित ढंग से व्यक्त होकर कला में ढल जाती है तो उससे कला का रूप सामने आता है। कला की व्यवस्था से विषय-वस्तु भी मूल्याभिव्यंजक बन जाती है।

---

1. वर्सफेल्ड इन पाँच के साथ नाट्य, भाषण और नृत्य ये तीन और जोड़ देने के पक्ष में है। Judgment in Literature, P. 32
2. कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, डॉ0 भोलानाथ तिवारी, पृ0-28-31

हम सर्वप्रथम स्थापत्य कला पर विचार करते हैं। रस्किन ने इसकी ललित बोधिय विशेषताओं को ध्यान में रखकर उसको 'श्यान संगीत' कहा है। थियोडोर मेयर ग्रीन इसे **श्यान नृत्य** कहना अधिक उचित समझते हैं। इन परिभाषाओं में निश्चित व्यंजना निहित हैं।[1] स्थापत्य कला की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती है। वह उपयोगी होती है, उसमें दृढ़ता पायी जाती है और उसमें आनन्द की प्राप्ति होती है।

मूर्तिकला का प्रचार सभी देशों में समान रूप से रहा है।... फूलनांगन ने एक बार लिखा था कि अवचेतन के उपकरण के समक्ष मूर्तिकार के हाथ के सामने ही पत्थर में एक मूर्ति निहित होती है। कलाकार की आत्मबोधपरक सृजन-प्रक्रिया केवल उसे मुक्त कर देती है। नागेल ने भी लिखा है कि मूर्तिकला अपनी उपस्थिति से देश-काल को दीप्तिमान बनाती रहती है। वह मानों इस बात की घोषणा करती है कि जिस सीमा तक मानव-क्षमता और वर्तमान स्थितियों ने कलाकार को सुविधा दी है, उस सीमा तक उसने अकल्पनीय, सर्वव्यापक और अदृश्य पर अधिकार किया है।[2] मूर्तिकला आनन्दप्रद होती है। इस आनन्द प्राप्ति के कई साधन हैं। हम मूर्ति के आकार, रंग, रूप, बनावट और 'पोज' को देखते हैं, तो उसके सौन्दर्य-जनित प्रभाव से सबसे पहले हमारी चक्षुइन्द्रिय तृप्त होती है। पुनः हम उसके रूप से आकर्षित होते हैं और स्पर्श सुख का अनुभव करते हैं। आधुनिक मूर्ति कला हममें सन्तुलन का भाव भी पैदा करती है। इससे धर्म, संस्कृति और इतिहास के भूले-बिसरे चित्र हमारी स्मृति में कौंधने लगते हैं। मूर्तिकला हमें कला की तरह प्रभावित करती

---

1. कला-सृजन-प्रक्रिया और निराला, डॉ0 शिवकरण सिंह, पृ0-25
2. कला-सृजन-प्रक्रिया और निराला, डॉ0 शिवकरण सिंह, पृ0-26-27

है। वह हमें रसमय बना देती है। जब हम उसके रूप को देखते हैं तो उसकी समन्वित व्यंजना से हमारे अन्दर एक निश्चित प्रकार का भाव बोध पैदा होता है। वह भाव बोध पुनः कुछ ज्ञात-अज्ञात सन्दर्भों से जुड़ जाता है। ये सन्दर्भ उस भाव-बोध को उद्दीप्त करके हमें उसकी व्यंजना से जोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए बुद्ध प्रतिमा को लिया जा सकता है।

...चित्र, चित्रकार की मानसिक भाव-परम्परा को शाश्वत स्थायित्व प्रदान करने का प्रमुख सांधन होता है। भारतीय विचारकों की दृष्टि में चित्रकला आलेख्य कर्म है। उन्होंने चित्रों को नाना रस समुद्भव सक्षम माना है। यहाँ चित्रकार को 'सूक्ष्म रेखा विशारद', 'चित्र लेखक कोविद', 'चित्र मर्म विशारद' या 'चित्र व्यापार कोविद' आदि विशेषणों से अभिहित किया गया है। स्पष्ट है कि चित्रकला का प्रमुख माध्यम तूलिका, रंग और चित्रण के योग्य दो आयामों वाला कपड़ा या अन्य कोई वस्तु होती है। चित्र में कला की व्यंजक इकाइयों द्वारा एकता में अनेकता की भावना तब तक बनी रहती है अथवा उसकी पुनरावृत्ति तब तक होती रहती है, जब तक हमारे समक्ष रंगों की समरसता में पूर्ण चित्र नहीं उमड़ आता है। रंगों के अन्तः सम्बन्ध के कारण चित्र में प्रत्यक्षऐन्द्रिय प्रभाव अत्यधिक उदात्त हो जाता है।

चित्रकला यथार्थ के स्थायी प्रभाव को केवल दो आयामों के माध्यम से व्यक्त करती है। कलाकार सचेतन मन से तीसरे आयाम का निर्माण करता है। इसके लिए वह दृश्य प्रभाव को स्पर्शबोध विषयक प्रभाव से संयुक्त करता है। जब तक यह काल्पनिक स्पर्शबोध मूर्तिमान नहीं होता तब तक कलाजन्य आनन्द अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच पाता। चित्रकला अभिव्यक्ति के कलात्मक माध्यम

को अपनाती है। वह वस्तुओं को यथावत रूप में नहीं चित्रित करती, अपितु उन्हें कलात्मक ढंग से अधिक व्यंजनापूर्ण बनाकर चित्रित करती है। यह तभी संभव हो पाता है जब चित्रकार की मनः सृष्टि स्पष्ट हो। इसकी स्पष्टता उसकी कल्पना शक्ति और ग्राह्यता पर निर्भर करती है।

आधुनिक चित्रकला की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। आन्द्र मालरो ने इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है, आधुनिकता ने चित्रकला को मुक्त कर दिया है। वह अब स्वतः में अपने नियम का उद्घोष है। चित्रकला न अब प्रकृति के सादृश्य ही मुखापेक्षी है और न अनुकरण की। आज ललित कला के अभिव्यक्ति कौशल पर अधिकार न रखने वाले, चित्रकार ही वस्तुओं अथवा परिस्थितियों के चित्रण द्वारा भाव बोधन का कार्य संपादित करते हैं।[1]

संगीत का प्राण स्वर है। काव्य की काया शब्द और अर्थ से निर्मित होती है किन्तु संगीत शब्दातीत है। ध्वनि सिद्धान्त के संस्थापक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में संगीत के राग आदि का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि संगीत रस निष्पत्ति के लिए वाचक शक्ति की अपेक्षा नहीं हुआ करती है। भारतीय राग और रागिनियों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है और उनकी संख्या के विषय में प्रायः मतभेद बना हुआ है। फिर भी इस देश में पाँच रागों और छतीस रागिनियों का विशेष उल्लेख मिलता है।

संगीत की भाषा में रूप विशिष्ट अर्थ का वाहक होता है। ध्वनि-निर्मित-रूप रिक्त नहीं होता। वह अन्ततः शून्यता का वाहक आवरण भी नहीं माना जा सकता है। वह तो यथार्थ में सृजक प्रतिभा का सजीव सृजन

1. कला-सृजन-प्रक्रिया और निराला, डॉ0 शिवकरण सिंह, पृ0-29

और स्पन्दन होता है। संगीत चित्र है, पर उसके विषय शब्दातीत है, उन्हें वर्गीकृत नहीं किया जा सकता । संगीत के अर्थ में उसमें तार्किक श्रृंखला होती है। संगीत की भाषा को हम बोल और समझ सकते हैं, पर उसका अनुवाद नहीं कर सकते।[1]

काव्य को पहले के पृष्ठों में स्पष्ट कर दियागयाहै फिर भी पाश्चात्य विचारक इसे पांचवी कला की संज्ञा देते हैं, जबकि भारतीय विचारक उसकी गणना विद्या में अन्य कलाओं की गणना उपविद्या में करते हैं।

साहित्य का अभिप्राय-: 'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए 'हिन्दी साहित्य कोष' के रचयिताओं ने लिखा है- "साहित्य = सहित्य+यत् प्रत्यय, साहित्य का अर्थ है शब्द का अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् 'साथ होना' इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है।"[2] यह व्याख्या किसी व्याकरणाचार्य के मस्तिष्क को भले ही सन्तुष्ट कर दे, किन्तु एक सामान्य जिज्ञासु की जिज्ञासा इससे शान्त नहीं होती। यह तो ठीक है कि 'साहित्य' से 'सहभाव' ध्वनित होता है किन्तु सहभाव किसका? वह सहभाव शब्द और अर्थ का ही हो, ऐसा संकेत इस शब्द में नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने 'साहित्य' में से 'सहित' (अर्थात् स = हित+हित के साथ) को पृथक् करते हुए हित-कारक रचना को 'साहित्य' बताया है, किन्तु यह व्याख्या भी सर्वांश में सत्य सिद्ध नहीं होती। एक अच्छे सुन्दर चिकने पत्र पर रंग-बिरंगे शब्दों में मुद्रित वह रचना भी जिसकी एक ओर 'अशोक-चक्र' दूसरी ओर बैंक का नाम, गवर्नर के

---

1. कला-सृजन-प्रक्रिया और निराला, डॉ0 शिवकरण सिंह, पृ0-32
2. भारतीय एवं पश्चात्य काव्य-सिद्धान्त, गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0-20

हस्ताक्षर, देय राशि व क्रम संख्या आदि अंकित होते हैं, किसी दरिद्र-नारायण भक्त के लिए कम हितकर नहीं होती, किन्तु इसी से क्या हम इसे 'साहित्य' की संज्ञा दे सकते हैं। वस्तुत: इन व्याख्याओं का अर्थ से सीधा संबन्ध नहीं है, किसी प्रकार खींच तानकर प्रचलित अर्थ के साथ 'साहित्य' शब्द की संगति बैठाने का प्रयास किया गया है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति का रहस्य जानने के लिए इसके इतिहास पर दृष्टिपात करना उचित होगा। कहा जाता है कि 'साहित्य' शब्द का प्रचलन इस अर्थ में सातवीं-आठवीं शती से हुआ है। इससे पहले संस्कृत में 'साहित्य' के स्थान पर 'काव्य' शब्द का प्रयोग मिलता है - भामह, राजशेखर, भोजराज, कुन्तक प्रभृति आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करते हुए शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य बताया,[1] तथा इसी प्रसंग को उन्होंने 'सहितौ', 'सहभाव' आदि का उल्लेख किया, पर आगे चलकर 'शब्द और अर्थ का सहभाव (साहित्य) के स्थान पर केवल सहभाव (साहित्य) ही रह गया। वस्तुत: भाषा विज्ञान के अनुसार प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति के कारण शब्दों का प्रचलन, प्रयोग एवं अर्थ विकास इस प्रकार प्राय: होता रहता है। अत: 'साहित्य' शब्द का प्रयोग भी इसी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति का परिणाम है।

यह भी भाषा विज्ञान का नियम है कि जब एक ही अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग होने लगता है तो उनमें से किसी एक का अर्थ संकुचित या परिवर्तित हो जाता है। जब संस्कृत में भी 'काव्य' और 'साहित्य' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थों में होने लगा तो आगे चल कर काव्य का अर्थ

---

1. द्रष्टव्य-'साहित्य-विज्ञान', प्रथम खण्ड, पृ0-19-20

संकुचित हो गया, वह केवल कविता तक सीमित रह गया जबकि 'साहित्य' का प्रयोग व्यापक रूप में - कविता, नाटक, उपन्यास, समीक्षा आदि सभी विधाओं (मुख्यत: गद्यात्मक रचनाओं) के लिए होने लग गया। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का परवर्ती एवं उत्तराधिकारी होते हुए भी आज अपने पूर्वज से अधिक समृद्ध, व्यापक एवं विकसित है।

आधुनिक युग में 'साहित्य' शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति दो अर्थों में होता है-व्यापक अर्थों में वह समस्त लिखित एवं मौखिक रचनाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जबकि संकुचित अर्थ में 'काव्य' के पर्याय के रूप में ग्रहीत होता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर वह अपने भावों और विचारों को वाणी चित्र तथा संकेत के माध्यम से व्यक्त करता है। जब वह वाणी के माध्यम से अपने विचार या भाव व्यक्त करता है, तब उसके द्वारा उच्चारित भाव-वार्ता, शास्त्र व साहित्य का रूप ले लेते हैं, काव्य साहित्य का ही एक अंग है। रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली शब्दावली काव्य कहलाती है अर्थात् काव्य वाणी का वह रूप है जिसमें कल्पना के माध्यम से मानव हृदय की अनुभूतियों का रोचक वर्णन रहता है। श्रीकृष्ण की भक्ति से मन निर्मल हो जाता है। कवि बिहारी ने इस भाव को कविता के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है-

> या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहीं कोय।
> ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जलु होय।।[1]

---

1. बिहारी सतसई, दोहा सख्या-6

अत: स्पष्ट है कि कवि जन-जीवन से विषय-सामग्री का चयन करके उसे अपनी कल्पना और सुन्दर शब्दावली द्वारा काव्य का रूप प्रदान करता है।

काव्य के स्वरूप में दो तत्व विशेष रूप से महत्वपूर्ण होते हैं -

बहिरंग व अंतरंग। बहिरंग में काव्य का वाह्य रूप अर्थात शब्द व अर्थ प्रधान होता है, अंतरंग में रस या रमणीयता का प्राधान्य होता है। अंतरंग तत्व में कवि अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से ऐसा भाव व्यक्त करता है जिससे उसकी रचना आनन्ददायिनी, लोकहितकारणी एवं मनभावन बन सके। संस्कृत व हिन्दी के आचार्यों ने काव्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न मत निर्धारित किए हैं।

मम्मट के अनुसार गुणयुक्त व दोष-रहित वह रचना जिसमें अलंकार हो अथवा न हो, काव्य कहलाती है।[1] दोष-रहित रचना से मम्मट का तात्पर्य कलात्मक रचना से है। विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्य'[2] कह कर रस को काव्य की आत्मा माना है। नि:सन्देह उनकी व्याख्या में काव्य के भावपक्ष की प्रधानता है। पं0 जगन्नाथ के मतानुसार रमणीयार्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्य ही काव्य हैं।[3] भाव काव्य की आत्मा और कला उसका शरीर है। जयदेव ने काव्य का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है-दोषहीन, लक्षणावती, रीति तथा गुण से भूषित, अलंकार सुनाथ एवं अनेक रस संभव वाणी की काव्य संज्ञा का अधिकारिणी है।[4]

---

1. 'तद दोषो शब्दार्थों सगणावनलंकृति पुन: क्वाषि।' काव्य प्रकाश, पृ0-1/4
2. साहित्य-दर्पण, विश्वनाथ, पृ0-1/3
3. रमणीयार्थ: प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्। - रसगंगारधर, जगन्नाथ काव्य-माला सीरीज, पृ0-4
4. चन्द्रालोक: पीयूषवष जयदेव, पृ0-1/7

संस्कृत आचार्यों की उपर्युक्त सूत्र रूपी [illegible] अपने आप में अत्यन्त विस्तृत अर्थ छिपाए हुए हैं।

पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के विषय में जो स्वरूप निर्धारित किया है, वह भाव तत्व, कल्पनातत्व, बुद्धि तत्व तथा शैली तत्व में से किसी न किसी एक तत्व पर अवश्य ही आधारित है।

हिन्दी में काव्य के स्वरूप-निर्धारण का सूत्रपात तो कृपाराम से आरम्भ होता है किन्तु आचार्य केशव, जो जयदेव आदि संस्कृताचार्यों से अधिक प्रभावित थे, को कृपाराम की अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि मिली। उनके मतानुसार काव्य में अलंकार तत्व अनिवार्य होता है, मम्मट से प्रभावित चिन्तामणि त्रिपाठी ने सश्रुण अलंकार सहित और दोषरहित शब्द और अर्थ को काव्य का स्वरूप माना है।[1] कवि कुलपति मिश्र ने अलौकिक आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ को काव्य की संज्ञा दी है।[2] महाकवि देव आचार्य विश्वनाथ के रस सिद्धान्त से प्रभावित थे। अतः उन्होंने रस को महत्व देते हुए काव्य का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है- 'शब्द और अर्थ का सार काव्य है और रस इस काव्य का परम सार।[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं-'शब्द विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना, भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना तथा नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृति सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना ही काव्य है।[4]

---

1. सगुनालकारन सहित दोषरहित जो होई
   शब्द अर्थ ताको कवित्त कहत विधु सब कोई। - कविकल्पतरू, 115
2. जग् मे अद्भुत सुख सदन, शब्द अर्थ कवित्त।
   यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रंथ बहु चित्त।। - रस रहस्य, 1/6
3. काव्य-सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार। - शब्द रसायन
4. रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0-22

भवभूति के करूण रस को प्रसादयुगीन हिन्दी-साहित्य में अवतरित करने वाली श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य के सम्बन्ध में अपना पृथक् दृष्टिकोण है। वे कहतीं है, 'काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया है जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका है, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है तो दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त। इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठता हुआ चलता है।

प्रसिद्ध रसवादी समीक्षक डॉ0 नागेन्द्र का मत भी कुछ इसी प्रकार का है। वे कहते है-'कवि रूप में उसका दायित्व है-निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्मा की क्षति होगी, और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु तत्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती क्योंकि निश्छलता का सात्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा।[1] काव्य विधान काव्य की वह रूप रेखा है जिसके भीतर बिम्ब अभिव्यक्ति परस्पर संश्लिष्ट होकर आकार और रूप को प्राप्त होते हैं।[2]

कवि की संज्ञा से उसी को अभिहित किया जाता है जिसकी प्रज्ञा में सदैव नए-नए भावोदय तथा चमत्कृत कल्पना का स्फुरण होता रहता है, और ऐसे व्यक्ति का कर्म ही काव्य कहलाता है, कवि कर्म ही काव्य की संज्ञा से जाना जाता है। किन्तु यह नहीं की कवि जो कुछ कर्म करता है, वह भी

1. रीतिकालीन रीतिकाव्यों का काव्य-शिल्प, डॉ0 महेन्द्र कुमार, पृ0-9:575
2. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, 16:118

काव्य माना जाय। अपितु नवउन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा वहीं वर्ण-रचना काव्य कहलाती है जो अलौकिक आनन्ददायिनी, लोकहितकारिणी तथा मार्ग-दर्शिका होती है। इस प्रकार की रचनाएं ही कवि नाम को अमरत्व प्रदान करती हैं। कोमलकांत पदावली से युक्त तथा गूढ़ शब्द-अर्थ से रहित, सब लोगों के समझने में सुगम, युक्तियुक्त, नृत्य के प्रयोग होने के योग्य, रस के अनेक स्रोतों को प्रवाही एवं संधियों से संधान से युक्त काव्य ही श्रेष्ठ होता है।[1]

काव्य की अनेक विधाओं का भिन्न-भिन्न स्वरूप तद्विषयक समालोचकों एवं आचार्यों ने प्रस्तुत किया है और वे सभी मत ग्राह्य ही हैं तो भी यहाँ उनका सबका यथा तथ्य विवेचन संभव नहीं है।

---

1. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, 16:118

साहित्य का उद्देश्य-:

साहित्य (काव्य) किसके लिए है? यह एक मूलभूत प्रश्न है, आज आलोचकों का एक वर्ग है जो इस प्रश्न को सार्थक नहीं मानता। उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन कवि की रचनात्मक या कलात्मक अन्तर्वृत्ति की संतुष्टि मात्र है। आलोचक इसे भी मूल्य मानकर उसको काव्य प्रयोजन से सम्बद्ध कर सकते हैं, किन्तु इसका संबन्ध रचनाकार की कलात्मक कृति से है जो कि नैसर्गिक रचना प्रवृत्ति है। मूलतः यह रचनाकार से सम्बद्ध रचना का अन्तर्वती मूल्य है। इस अन्तर्वती मूल्य से भिन्न भी काव्य रचना के बाह्य मूल्य एवं प्रयोजन हो सकते हैं। इन वाह्य मूल्यों की चर्चा संस्कृत काव्यशास्त्रों के अन्तर्गत अनेक रूपों में हुई है। संक्षेप में काव्य का उद्देश्य इस प्रकार है-

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत उसके प्रयोजन की चर्चा करते हुए बताया है कि-

धर्म्यं यशस्यमायुष्यम् हितबुद्धिषिविर्धनम्।
लोकोपदेशजननं् नाट्यमेतदभविष्यति।।[1]

इस प्रकार, काव्य नाट्य का प्रयोजन धर्म, यश की स्थापना, आयु, हितबुद्धि की वृद्धि तथा लोकोपदेश की दृष्टि व्यवस्थित करना है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत कई स्थानों पर प्रयोजनों की चर्चा की है और उनके माध्यम से यही निष्कर्ष निकला है कि लोकहित एवं प्रीति अर्थात् रचनात्मक तृप्ति ही नाट्य का उद्देश्य है।

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-17

काव्य के प्रयोजन के विषय में सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से निर्देश आचार्य भामह ने किया था, उन्होंने प्राय: प्रयोजन के सन्दर्भ में सभी परवर्ती स्वीकृत दृष्टियों की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार ''यशवृद्धि'' रचना का महत्वपूर्ण फल है। यश के साथ-साथ उन्होंने अन्य प्रयोजनों की भी चर्चा की है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अन्य कलाओं में सिद्धि-प्राप्ति, प्रीति एंव कीर्ति हैं। इन काव्य प्रयोजनों के अन्तर्गत सम्पूर्ण तथ्य समाविष्ट हैं।[1] यही नहीं एक स्थल पर आचार्य भामह ने यह बतलाया है कि लोक व्यवहार, धर्म एवं नीति के मर्म को समझने के लिए काव्य एक सरस माध्यम भी है।

भामह की ही भाँति आचार्य दण्डी ने भी कलाजनित आनन्द का पूर्णतया प्रसार तथा भोग साथ ही साथ अनेक लोकोपयोगी तत्वों का निदर्शन काव्य का प्रयोजन माना है। काव्यदर्श की समाप्ति के पश्चात् आचार्य दण्डी ने काव्य रचना का निष्कर्ष निकालते हुए उसके प्रयोजनों की ओर ध्यान आकर्षित किया है- दोषमुक्त एवं गुणयुक्त काव्यवाणी तथा निर्दिष्ट काव्य मार्गों द्वारा व्युत्पन्न मति वाला रचनाकार मदमत्त नेत्रों वाली रमणियों से अभिसार करता हुआ भाग्यशाली युवक के सादृश्य अगाध आनन्द का अनुभव करता हुआ कीर्ति की प्राप्ति करता है।[2]

---

1. धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्ष्ण्य कलासुच।
   करोति प्रति कीर्ति च सायु काव्य निबन्धम्।।
   भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-12

2. व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शनेन,
   मार्गेण दोषगुणवशवर्तिनीभि:।
   वाणिभ: कृताभिरमणे मदिरेक्षणाभि:,
   धन्यो युवेष रमते लभते च कीर्तिम्।
   भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-17

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के अन्तर्गत काव्य रचना का मूल उद्देश्य आनन्द माना है। कुन्तक ने शास्त्रादि के प्रति भीरू राजकुमारों को रमण करने के लिए काव्य का वही उपयोग है, जो ज्वरादि व्याधियों को दूर करने के लिए निमित्त औषधि में मधु प्रयोग की।[1]

काव्य प्रयोजन के विषय में सर्वाधिक व्यावहारिक टिप्पणी आचार्य मम्मट की है। मम्मट कहते हैं-

काव्यं यशसेऽर्थकृतें व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सघः परिनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे।।[2]

उनके अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं-यशवृद्धि, धनार्जन, लोकव्यवहार का ज्ञान, शिवेतरत्तवों की रक्षा, कान्तासम्मितया, उपदेश तथा सधः परिनिवृत्ति।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अन्तर्गत बताया है कि राजा के लिए कवि और कवि के लिए राजा के सदृश कोई उपकारी नहीं होता और दोनों एक दूसरे की कीर्ति विस्तार में मदद करते हैं।[3]

काव्य के तीन उद्देश्य लोकहित से सम्बद्ध हैं, और चतुर्थ प्रयोजन का उद्देश्य कला-जनित रचना तत्त्व का पाठक द्वारा आस्वादन हैं। काव्यास्वादन का सृजन कवि का मूल उद्देश्य है, और वह रचना का अन्तर्वर्ती तत्त्व है। सधः परिनिवृत्ति का अर्थ है, काव्य रचना के सम्पर्क में आते ही उसके प्रभाव से

---

1. कटुकौषधवच्छास्त्रमाविद्याव्याधि नाशनम्।
भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-18
2. भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-18
3. ख्याता नराधिपः कविं संश्रयेण,
राजक्षयेण च गता कवयः प्रसिद्धि।
राज्ञा समो आसी न कवेः परोपकारी,
राज्ञा न चास्ति कविनासदृशः सहायः।। भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-17

हृदय का भावनिमग्न होकर आनन्दित हो उठता है। रचना का यह कलाधर्म है। इस कलाधर्म की सृष्टि रचनाकार और रचना का नैसर्गिक धर्म है। शेष तीन काव्य प्रयोजन लोकव्यवहार से जुड़े हैं। काव्य की रचना ''शिवत्तर तत्त्वों'' से रक्षा के लिए की जाती हैं यह वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर सम्भव है। बाद के - (क) लोक व्यवहार का ज्ञान, (ख) कान्तासम्मित उपदेश ये दो महत्वपूर्ण सन्दर्भ हैं। इन्हीं दो प्रयोजनों का सन्दर्भ काव्य रचना की वृहत्तर आयामधर्मिता से है। काव्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण लोक जीवन तथा सामाजिक आचरण की पुनर्रचना की जाती है। इस पुनर्रचना के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज का व्यवहारिक प्रतिपालन बिम्बित होता है और यही बिम्बन सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी है।

''कान्तासम्मितया उपदेश" रचना का उससे भी महत्वपूर्ण धर्म है। काव्य यह निर्देश नहीं देता कि क्या करणीय है और क्या करणीय नहीं है। वह रचना के अन्तर्गत एक परिस्थिति उत्पन्न करता है और इस परिस्थिति को कला तथा कल्पना कौशल के द्वारा निर्मित करके रचना के लक्ष्य के अनुसार आचरण करने के निमित्त पाठक को विवश कर देता है। रामायणकार प्रत्यक्षत: यह उपदेश नहीं देता कि व्यक्ति राम की भाँति आचरण करे या रावण की भाँति, वह रचना के अन्तर्गत उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है कि पाठक राम की भाँति आचरण करने के लिए स्वयं मन बना लेता है, न कि रावण की भाँति। पाठक के हृदय में स्वत: निर्देश उत्पन्न करना रचना का अन्तंर्वर्ती प्रयोजन है, यह अन्तर्वर्ती प्रयोजन रचनाकार के मन्तव्य से जुड़ा रहता है।

साहित्य का सरोकार-:

साहित्य का समुचित अध्ययन करने के लिए पिछले पृष्ठों में हमने देखा कि साहित्य मूल रूप में क्या है। साहित्य का वर्गीकरण अब हम करने जा रहे हैं। साहित्य के मुख्यत: तीन भेद किये जाते हैं-

(1) गद्य, (2) पद्य और (3) चम्पू (मिश्रित)। साहित्य की हर विधा अपने आपमें पूर्ण है चाहे इसका रूप कोई भी हो, अब साहित्यकार के ऊपर निर्भर करता है कि वो किस रूप में अपनी विद्वता का परिचय प्रस्तुत करता है। पर यहाँ हम देख रहे हैं कि साहित्य के वर्गीकरण को स्वीकृत कर लिया गया है, इसलिये इसके इस विवाद में पड़ने के चक्कर में न पड़कर उसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करें।

साहित्य के पद्यबद्ध रूप को सामान्यत: 'कविता' या 'काव्य' की संज्ञा दी जाती है। कविता या काव्य में गद्य साहित्य की अपेक्षा अधिक भावात्मकता एवं लय होती हैं। कवि के व्यक्तित्व एवं उसकी विषय-वस्तु के अनुसार कविता के भी अनेक भेद हो सकते हैं, ये प्रमुखत: तीन प्रकार के माने जाते हैं- (1) प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य), (2) मुक्त काव्य और (3) गीति काव्य।

भारत में 'महाकाव्य' शब्द ही 'महत्' और 'काव्य' इन दो शब्दों के समास से व्युत्पन्न हैं। भारतीय साहित्य में काव्य के साथ 'महत्' विशेषण का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि कृत रामायण के उत्तरकाण्ड में मिलता है, जहाँ राम ने लव-कुश से प्रश्न किया था- कि यह काव्य कितना बड़ा है, और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महत् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं? यहाँ

कर्ता काव्यस्य महत:? 'महाकाव्य' शब्द की ओर संकेत करता है।[1] साथ ही इसमें महाकाव्य के तीन मूल लक्षणों की ध्वनि मिलती है- (1) महाकाव्य आकार-प्रकार में बड़ा होता है। (2) उसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा का चित्रण किया जाता है। और (3) उसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि या उच्चकोटि का साधक कवि होता है।

संस्कृत आचार्यों में महाकाव्य के स्वरूप की प्रथम विस्तृत व्याख्या आचार्य भामह को है जिन्होंने 'काव्यालंकार' में बन्ध की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद किये हैं (1) सर्गबद्ध, (2) नाटक, (3) आख्यायिका, (4)कथा और (5) अनिवद्ध (मुक्तक) काव्य। भामह के पश्चात् दण्डी तथा विश्वनाथ ने भी इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है यहाँ इसका वर्णन संभव नहीं है, फिर भी भामह और विश्वनाथ के महाकाव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं है, अस्तु दोनों की व्याख्याओं का निष्कर्ष संक्षेप में-

(1) महाकाव्य की कथावस्तु का आधार व्यापक होता है, जिससे उसमें जीवन, जगत् और प्रकृति के विभिन्न अंगों का विस्तृत रूप में चित्रण सम्भव हो सके।

(2) उसका नायक एक ऐसा आदर्श और महान व्यक्ति होता है, जिसमें वह पाठकों की श्रद्धा प्राप्त कर सके तथा उन्हें कोई सन्देश दे सके।

(3) उसमें मानव-हृदय की सभी प्रमुख चित्त-वृत्तियों, भावनाओं व रसों का चित्रण होना चाहिए।

---

1. किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मन:।
   कर्ता काव्यस्य महत: क्व चासौ मुनिपुंगव:।।
   भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त, गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0-281

(4) सारा कथानक सर्गों में विभाजित तथा संधियों से युक्त हो जिसमें प्रबन्धत्व का गुण आ सके।

(5) उसकी शैली में काव्य-सौष्ठव व काव्य के सभी प्रमुख गुणों का विकास होना चाहिए।

यूरोप में भी भारत की तरह महाकाव्य के विकास की कई अवस्थाएँ रही हैं। अरस्तु ने त्रासदी की भाँति महाकाव्य की परिभाषा नहीं दी है, किन्तु उसके सम्बन्ध में अनेक विचार सुस्पष्ट किया है। उसके अनुसार महाकाव्य वह काव्य--रूप है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जिसका रूप समाख्यानात्मक होता है, जिसमें षट्पदी छन्द का प्रयोग होता है, जिसमें उच्चकोटि के पात्र होते हैं, जिसका कथानक दु:खान्तक नाटक के समान अवन्तियुक्त होता है, जिसकी सीमाएं विस्तृत होती हैं।[1]

अग्निपुराण में ऐसे श्लोकों को 'मुक्तों' की संज्ञा दी है, जो अपने अर्थद्योतन में स्वत: समर्थ हो-मुक्तक श्लोक एकैक्श्चमत्कारक्षम: सताम्।" आगे चलकर अभिनवगुप्त ने लिखा- ऐसे पद्य, जिसका अगले-पिछले पद्यों से कोई सम्बन्ध न हो तथा जो अपने विषय को अकेले प्रस्तुत कर सके, मुक्तक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक के स्वरूप का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती है, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं, जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।

---

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-289

यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वन स्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है, इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होती है।"[1]

यद्यपि प्राचीन काल से ही हमारे यहाँ लोक-साहित्य के रूप में गीति-काव्य की परम्परा रही है। किन्तु आधुनिक समय में इसे ग्रीस से आरंभ 'लायर' नामक वाद्य-यन्त्र पर गाए जाने वाले गीतों को Lyric कहा जाता था, पर बाद में सभी प्रकार के गेय-काव्य को Lyric की संज्ञा मिलने लगी है।[2] 'गीति' शब्द से केवल गाने की क्रिया का बोध होता है, गीति-काव्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल और विस्तृत है।

हमारे विचार से "गीति काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक शैली में रचित रचना होती है, जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव-दशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में करता है।"

विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के अनुसार गीति-काव्य के छः के तत्व निर्धारित किए जा सकते हैं- (1) भावनाओं का चित्रण या भावनात्मकता (2) वैयक्तिक अर्थात् निजी अनुभूतियों का प्रकाशन (3) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह (4) शैली की कोमलता व मधुरता (5) संक्षिप्तता और (6) मुक्तक शैली।

'नाटक' पर विभिन्न विद्वानों ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। पाणिनी ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से सिद्ध की है, जबकि 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नट' धातु से 'नाट्य' की उत्पत्ति मानी हैं बेबर

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त, गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0-285
2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-298

और मोनियर विलियम्स ने सिद्ध किया है कि 'नट्' 'नाट्' आदि धातुएँ 'नृत' (नाचना) धातु से बिगड़ कर बनी है।[1]

नाटक के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा भारतीय विद्वानों की धारणा से किंचित भिन्न है। अंग्रेजी में 'नाटक' का पर्यायवाची 'ड्रामा' (Drama) शब्द है।

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने नाटक के विभिन्न लक्षणों पर विस्तार से *प्रकाश डाला हैं भरतमुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' में लिखा है "योऽयं स्वभावों* लोकस्य सुखदु:ख समन्वित:। सोऽगा*धभिनयोपेतो नाट्य-मित्यभिधायितो।।" अर्थात्* जिसमें स्वभाव से लोक का सुख-दु:ख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते हैं। इस पर अभिनवगुप्त से लेकर आचार्य विश्वनाथ ने तथा पाश्चात्य विचारकों ने स्पष्ट लिखा है, जिसका यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं है। अत: संक्षेप में -

भावों को तीव्र घनीभूत रूप में प्रस्तुत करने की जितनी क्षमता नाटक में है, उतनी किसी अन्य विधा में नहीं, क्योंकि नाटक में हम घटनाओं को प्रत्यक्ष देखते हैं, व्यक्तियों के भावान्दोलन का स्वयं प्रत्यक्षीकरण करते हैं। अत: नाटक एक अत्यन्त प्रभावशाली विधा है, पर साथ ही उस पर बन्धन अनेक हैं, जिनके कारण नाटककार में विशिष्ट प्रतिभा और कला-कौशल की अपेक्षा रहती है। पहला बन्धन तो उस पर यह है कि नाटककार अपनी रचना में केवल मानव क्रिया कलाप का समावेश कर सकता है, क्योंकि उसमें अभिनेता केवल मानव होता है।

---

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त, डॉ0 गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0-291

उपन्यास काव्य और नाटक की अपेक्षा नवीनतर साहित्य-विधा हुयी भी और उपन्यास अधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली भी है। इसका कारण है कि वह मानव जीवन के चित्रण के लिए अधिक उपयुक्त है तथा उसका क्षेत्र भी अधिक विशाल है। गीति-काव्यों का पूँजीभूत भाव-सत्य, दुःखान्त नाटकों का चिरन्तर संघर्ष और करुणा, गीति-कथाओं की प्रवाहमानता, मुक्तक काव्य की उक्ति-वैचित्य और नीति-सत्य-सभी कुछ उपन्यास में समा सकता है। समाज जो रूप धारण कर रहा है, उपन्यासकार उसका प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करता, अपितु आवश्यकतानुसार समाज में परिवर्तन, सुधार आदि की भावना भी जगाता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कहा है, "वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है।" मनुष्य अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेश के साथ उपन्यास में ही अवतरित हो सकता है। उसके समस्त उलझे हुए सूत्र, फैली सीमान्त और गहराई के आयाम यहाँ सफलतापूर्वक चित्रित हो जाते हैं। इसी से प्रेमचन्द ने उपन्यास को मानव जीवन का चित्र कहा था। श्रान्त तथा विश्रमित राष्ट्र का उपचार उपन्यास बड़े हल्के हाथों करता है। वह पाठक को सत्य शुद्ध दृष्टि प्रदान करता हैं। इन्हीं गुणों के कारण ऐलेनप्राइस जोन्स ने कहा है, "यह मत समझिए कि आप काल्पनिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं, आप उन्हें पढ़ते हैं जिस प्रकार अन्य लोग प्रार्थना करते हैं, स्वंय अपने आप के अन्वेषण के लिए।"[1] अपने लचीले स्वरूप और विस्तृत चित्रफलक के कारण यह किसी भी गुण की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

---

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-360

'कहानी' या 'कथा' शब्द का शाब्दिक अर्थ है - कहना। कहानी के अनिवार्य लक्षण हैं- (1) गद्य में रचित होना (2) मनोरंजन या कौतूहलवर्द्धक होना। (3) अन्त में किसी चमत्कारपूर्ण घटना की योजना।

प्रेमचन्द के अनुसार 'कहानी एक रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं..... वह एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।'[1]

कहानी एक लघु और तीव्रतम वस्तु है, उसका उद्देश्य पाठक का हृदय झकझोरना होता है, अत: उसमें ऐसी प्रस्तावना के लिए अवकाश नहीं होता जिसमें पात्रों का परिचय आदि दिया जाय। यद्यपि ऐसी कहानियाँ हैं जिसका प्रारम्भ पात्रों के परिचय या वातावरण चित्रण से होता है, पर निश्चित ही वे कलात्मक नहीं समझी जाती। एकता और अन्विति कहानी के अनिवार्य गुण हैं, अत: आरम्भ से ही उसमें गति भर दी जाती है। उसमें विषयान्तर के लिए कोई अवकाश नहीं, स्मृति का प्रयोग केवल आनुषंगिक तीव्रता देने के लिए होना चाहिए और कल्पना केवल आसन्न स्वरूपों को सौन्दर्य देने में सहायक हों।

'एकांकी' शब्द का अर्थ है-एक अंक वाला। दृश्य काव्य का वह विशेष भेद जिसमें केवल एक अंक होता है 'एकांकी' कहलाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'वन एक्ट प्ले' को अर्थ में हुआ।...

1, पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-351

प्रसिद्ध एकांकीकार श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'एकांकी' की तीन आवश्यक बातें बताई हैं- (1) आकार तथा समय की लघुता (35 मिनट से 45 मिनट तक की अवधि), (2) अभिनयशीलता और (3) रंग-संकेतों की स्पष्टता।[1]

एकांकी जीवन की वास्तविकता के एक स्फुलिंग को पकड़कर उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानव का समूचा भाव-जगत् झनझना उठता है। जब तक सम्पूर्ण एकांकी में एकता नहीं होगी वह सफल नहीं हो सकती। उसमें अनेक स्थलों, अनेक भावों, अनेक चित्त-वृत्तियों का सम्मिश्रण वर्जित हैं उसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि केवल एक ही भावना, विचार और चित्त-वृत्ति का उत्तेजनापूर्वक, तीव्र आवेगमय और रोचक प्रदर्शन करे।

निबन्ध शब्द हिन्दी में संस्कृत से अवश्य गृहीत हुआ, पर आज इस शब्द में अंग्रेजी **'एसे'** का ही बोध होता है। अंग्रेजी में एसे शब्द फ्रेंच से आया है। जिसे वहां क्श 'एसाई' कहते थे,... 'एसाई' का फ्रेंच भाषा में अर्थ है 'प्रयत्न करना'[2] आधुनिक निबन्ध के जन्मदाता मौनतैन् महोदय का कथन है- "निबन्ध विचारों, उदाहरणों और कथाओं का मिश्रण है।" दूसरी ओर जानसन् महोदय के मत में "निबन्ध मन का आकस्मिक और उच्छृंखल आवेग-असम्बद्ध और चिन्तनहीन बुद्धि विलास मात्र है।"[3]

निबन्ध के दो रूप मिलते हैं-एक असम्बद्ध और चिन्तनहीन विचारों से समन्वित और दूसरा गम्भीर विचारों की प्रौढ़ अभिव्यक्ति के रूप में, अतः इनमें से किस रूप को स्वीकार किया जाय-यह विचारणीय है। हमारे विचार से

---

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0-305
2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-409
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0-308

उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। यदि निबन्ध सर्वथा असम्बद्ध और उच्छृंखल विचारों से समन्वित हुआ, तो पागल के प्रलाप में और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा, दूसरी ओर गूढ़ विचारों का लेखा होने की स्थिति में निबन्ध और दर्शन-शास्त्र में भी भेद न रह जायेगा। व्यापक अर्थ में राजनैतिक, सामाजिक, अर्थ - शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक प्रतिपादक लेख को भी निबन्ध कहते हैं।...

इन विधाओं के अलावा गद्य में बहुत सी विधाएँ हैं जिनके विषय में यहाँ लिखना असम्भव प्रतीत होता है, जैसे- आलोचना, नयी समीक्षा, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, और रेडियोरिपोर्ट आदि।

चित्रकला (षाडङ्ग के परिप्रेक्ष्य में) और साहित्य (काव्यकला) के आधारभूत तत्व-:

काव्य या साहित्य मूलतः एक सृष्टि है और वह सृष्टि है रूपसृष्टि। उनका आधार स्वरूप होता है काव्यन्य, भाषा। चाहें तो हम उन्हें बाङ्मय विग्रह या वङमय मूर्ति-कह सकते हैं। इस सृष्टि में मूल विशेषता यह होती है कि भाषा में प्रकट होकर भी इसकी कोई भाषा नहीं होती। अर्थात् यह कुछ कहती नहीं, कोई अर्थ नहीं बताती, केवल हमारे सामने एक रूप खड़ा कर देती है। इस काव्य की चरम सिद्धि यही है कि वह अपने रूपमय स्वरूप की सुदृढ़ धारणा लोगों को करा दे। स्वभावतः रूप निर्माण में रूप, रेखा, आकृति पट आदि का प्रयोजन किया जाता है। काव्य को वह अपनी चित्रमत्ता भाषा के ही संकेत, इंगित, आभास की मौनता से लानी पड़ती है। क्लट्न ब्रॉक ने इस सत्यता की ताईद की है कहते हैं- 'कला वस्तु का ज्ञान केवल देखने से ही हो जाता है, उसके लिए किसी बाह्य आचरण की आवश्यकता नहीं होती। कैंट के विचार भी बहुत कुछ इसी से मिलते-जुलते हैं- रूप सौन्दर्य न तो अंकुरण से आता है और न कुछ सिखाता है, न वह कोई इच्छा पूर्ति करता है और न किसी सिद्धान्त का अनुमोदन करता है। इस ग्रहण से हमारा भाव पक्ष है, वह है लयमान क्रीड़ा में रम जाना है। हम चाहते हैं, कि वह लयमान क्रीड़ा केवल हमारी न रहकर सब की हो जाय। अतः सौन्दर्य का चरम मूल्य यही है कि वह सब के लिए सौन्दर्य हो जाय।[1]

---

1. कला, हस कुमार तिवारी, पृ0-2-8

भारतीय वाङमय में कला के साथ साहित्य को हमेशा से प्रस्तुत किया है, इस तथ्य को कालिदास ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है-:

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुविभुत्वमनुचिन्त्य वपुचतस्या:।।

- क्या विधाता ने पहले चित्र में उरेह कर फिर उसमें प्राण का संचार किया है, अथवा रूपों के समुच्चय से मन के द्वारा उसकी सृष्टि की है? जब मैं विधाता की क्षमता उसकी रूपाकृति के विषय में विचार करता हूँ, तो वह मुझे एक विलक्षण स्त्री-रत्न प्रतीत होती है। (अ0शा02/9) उनके काव्य में चित्र, मूर्ति आदि कलाओं के विषय में प्रचुर संकेत मिलते हैं। सृजनशील कलाकार एक ओर जहाँ यथार्थ चित्रण में दक्ष होता है-:

अहो राजर्षेर्वर्तिका निपुणता। जाने में सखी अग्रतो वर्तत इति।

अर्थात्, जहाँ राजर्षि वर्तिक के प्रयोग के कितने निपुण हैं। ऐसा लगता है मानों सखी मेरे सामने उपस्थित है (अभिज्ञानशकुन्तलम्) - वहाँ भावगम्य चित्रण में भी उतना ही सिद्धहस्त होता है-:

यत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती।

भवभूति मूलतः भावना के कलाकार हैं। उनके द्वारा अंकित भौतिक सौन्दर्य चित्र भव्य हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनकी प्रतिभा वास्तव में भाव-सौन्दर्य के अंकन में ही अधिक रमती है।[1]

कैंट ने रूप ग्रहण के भावपक्ष और उसकी संक्रमण योजना का उल्लेख किया है। जहाँ तक संगीत, चित्र, मूर्ति का सवाल है, इसी परिणाम तक हम

---

1. भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, डॉ0 नागेन्द्र, पृ0- 54-55

उसकी सिद्धि मान लेंगे। चित्र-रंग-रेखाओं से संगीत सुर-रचना से मूर्ति छेनी का जादू से चित्रित भावों का उद्देक श्रोता दृष्टा के हृदय में कर देता है,[1] चित्र-मूर्ति कला सम्बन्ध नृत्य के साथ है और नृत्य का संगीत तथा नाट्य-काव्य के साथ। ''काव्य विश्व को उसकी समग्रता में देखता है। संगीत में मेघ, मल्हार इत्यादि राग और कजरी इत्यादि धुनें प्रकृति के साथ हमारे तादात्म्य को व्यक्त करती हैं।.... काव्य में प्रकृति-वर्णन, चित्र में चित्रण और सगीत में उसके स्वागत का मधुरगान कला के एकीकरण और तादात्म्य के सिद्धान्त को घोषित करता है।[2] भाव जो वस्तु है वही हमारी मानस क्रिया का परिणाम है, किन्तु चिन्तन किसी धारणा को भी हम भाव कह सकते हैं। भाव के सहज धर्म दो हैं। या तो वह हमारे मन में उदित होकर वाह्य जगत् पर वह आरोपित होता है, या वाह्य जगत् के सम्पर्क में आकर हमारे मन में उदित होता है। किन्तु काव्य में हम जिस भाव का अर्थ लेते हैं, वह भाव ठीक-ठीक यही नहीं है। उसका उदय हमारी चिदवृत्ति के एक-दूसरे के ही स्वभाविक धर्म से होता है। उसे चाहे तो हम रस प्रवृत्ति कह सकते हैं, चाहें तो वह आनन्द की आकांक्षा। इस भाव के दो स्वभाव हैं- या तो वह एक वार्गी अन्तर्मुखी हो जाता है और भाव ही उसकी शेष सिद्धि या शरण होती है और या वह वहिर्मुखी होती है, जो वहिर्मुखी होता है, वह वस्तु जगत अस्तित्व की कामना से अभिप्रेत होता है, जीवन और जगत् का आश्रय कामी होता है। सृष्टि की प्रेरणा इसी से उद्भूत होती है। इसी प्रेरणा से प्रतिभा बाङमयी रचना में तत्पर होती है और रूप सृष्टि करती है। अपने काव्य तत्व

1. कला, हसकुमार तिवारी, पृ0-2-9
2. भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्व, डॉ0 जयदेव सिंह, पृ0-प्रकाशकीय, जगदीश गुप्त

में एवर क्रॉम्बी ने ऐसी दो प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। पहली तो अभिव्यक्ति होती है और दूसरी जो स्वयं काव्य हो जाती है। अवश्य इसमें मतैक्य नहीं है।

सम्भवतः अरस्तू ने ही सर्वप्रथम काव्य को कला के अन्तर्गत माना है। काव्य की आत्मा रस है और रस की निविड़िता ही श्रेष्ठ काव्य का लक्षण है। कलाओं की विवेचना रसानुकूल ही हो, ऐसा उल्लेख हमारे यहाँ मिलता है, क्योंकि कलाएं भी रस परक हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (सातवी-आठवीं सदी) के चित्र-सूत्र अध्ययन में काव्य, गान, नृत्य अभिनय, चित्र, मूर्ति आदि ध्यान में रखकर विचार किया गया है और यह विचार रस पर आधारित है। रस नौ हैं-

श्रृंगार हास्य करूण वीर रौद्र भयानकः।
वीभत्साभ्दुत-शांताख्या नव नाट्य रसः स्मृता।।

उपर्युक्त 'चित्रसूत्र' की चर्चा में भी यही नौ रस माने गये हैं और इस श्लोक के अन्तिम दो शब्द बदलकर (चित्र-रसाः स्मृताः) ज्यों का त्यों रख दिया गया है। यथा-

श्रृंगार हास्य करूण वीर रौद्र भयानकः।
वीभत्साभ्दुत-शांताख्या नव चित्र रसः स्मृता।।

काव्य और चित्रकला में एक प्रकार की समानता है, इसलिए कवि और चित्रकार एक हैं। वर्णछन्दमय अभिव्यक्ति काव्य है, रेखा रंग की साधना चित्र। कुछ लोगों ने चित्र को रेखाबद्ध कविता और काव्य को शब्दबद्ध चित्र कहा है। अरस्तू ने काव्य और चित्र के गुणों में समरसता बतायी है। 'भाव-लावण्य-योजना' के सहारे ही हम कविता तथा चित्र को एक भूमि पर उतार सकते हैं।

भावों की अभिव्यक्ति चित्रों में भी रहती है तथा काव्य में भी।[1] प्राचीन काल में भारतीय चिन्तकों ने जीवन का परम लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि माना फलतः साहित्य और कला को भी इन्होंने इसी दृष्टिकोण से देखा और इसका चरम उद्देश्य आनन्द ही निश्चित किया। काव्य में रस की प्रतिष्ठा इसीलिए हुई। 'संगीत-कला, काव्य-कला, चित्र-कला इन सभी कलाओं के स्वरूप के मूल में रचना विद्यमान है।... उसी प्रकार मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य कलाएँ न होकर रचना है।... रचयिता के रचना कौशल को हम कला कह सकते हैं, वह रचनाकार है।[2] जोशुआ रेनाल्ड्स ने काव्य और चित्र को समान भावों और शक्तियों के प्रकाशन का साधन कहा है और इस कार्य में केवल उन दोनों के साधन-भिन्नता मानी है। मिल्टन ने जैसे साहित्य और संगीत को सहोदर-कलाएँ माना है, रेनाल्ड्स वैसे ही चित्र और काव्य को मानते हैं। काव्य की तरह चित्र का भी प्राण अनुकरण नहीं, कल्पना है। अनुकरण तो पालतू जीव जैसी दासता की अनुगामिता है, जिसकी अपनी कोई विशिष्टता नहीं होती।[3]

अतः चित्रकला और काव्य कला में कोई मौलिक भेद नहीं है और इसी अभिन्नता के कारण दोनों कलाओं का आधार अनुकरण है। दोनों में 'संगति' का तात्विक महत्व है। काव्य में यह संग'ति ध्वनियों तथा वर्णों के उच्चारण-सौन्दर्य से निर्मित होती है और चित्र में यह संगति विभिन्न रेखाओं, रंगों व आकृतियों के अनुपात से स्पष्ट होता है। काव्य में संगति श्रवणेन्द्रियों के माध्यम से स्पष्ट होती है तथा चित्रकला में चाक्षुष ज्ञान के द्वारा लक्षित

1. भारतीय कला के पद्चिन्ह, डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0-51
2. कला साहित्य और समीक्षा, भागीरथ मिश्र, पृ0-2
3. कला, हंस कुमार तिवारी, पृ0-2-51

होती है, काव्य एवं चित्रकला में एक तात्विक सम्बन्ध यह भी है कि चित्रकला में छः तत्वों - रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य व वर्णिक भंग - में से तीन तत्व - भाव, लावण्य योजना एवं सादृश्य - काव्य-कला में भी समान रूप से विद्यमान हैं। चित्र ऐसी कविता है जो सुनी नहीं जाती, अपितु देखी जाती है और कविता ऐसा चित्र जो देखा नहीं जाता, सुना जाता है। काव्यगत विषयवस्तु को चित्र में अंकन करने की प्रवृत्ति से भी यह परिलक्षित होता है कि काव्य और चित्र कलाओं का परस्पर तात्विक सम्बन्ध अति प्राचीन है क्योंकि 'प्रतिमा' नाटक के रचयिता ने 'रघुवंश' के आदर्श एवं मुख्य पात्रों के आख्यानकों को ही मूर्तियों अथवा चित्रों के माध्यम से प्रतिमा-गृह में प्रदर्शित किया है और उसकी भित्तियों पर उनके आलेख उत्कीर्ण किए हैं। अंग्रेजी के अनेक रोमांटिक कवि काव्य और चित्र दोनों कलाओं के तात्विक साम्य के लिए उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। इस तात्विक साम्य के लिए 'विलिएम-ब्लैक' का नाम सर्वाधिक आदर के साथ लिया जा सकता है। महादेवी वर्मा के **'सान्ध्य दीप'** और **'दीपशिखा'** काव्य-संग्रहों में चित्रात्मक कविता के स्पष्ट दर्शन होते हैं।... ब्लैक ने चित्रकला और काव्यकला के समन्वय के मूल में 'कल्पना' को प्रधान स्थान दिया है। अतः इनकी स्पष्ट धारणा है कि काव्य, चित्र व संगीत कल्पनात्मक कलाएं हैं तथा इनका पारस्परिक अन्तः सम्बन्ध कल्पना की उभयनिष्ठता पर निर्भर है। चित्रकला और काव्यकला के सामीप्य को स्पष्ट करने के लिए चित्रकला के षड्ग की परिधि में ही काव्य कला के तत्वों का विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

काव्य कला के तत्व-:

आधुनिक एवं प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने काव्य के क्रमश: निम्नलिखित तत्व माने हैं-

(1) शब्द तत्व।

(2) अर्थ तत्व।

(3) भाव तत्व।

(4) कल्पना तत्व।

(5) विचार तत्व।

(6) शैली तत्व।

परन्तु प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने भाव, बुद्धि एवं कल्पना तत्वों के साथ-साथ शैली को भी स्वतन्त्र तत्व स्वीकार किया है। संभवत: आधुनिक काव्यशास्त्रियों ने भाव तत्व को ही - शब्द और अर्थ - दो अलग-अलग तत्वों में विभक्त कर दिया है और बुद्धि तत्व को विचार तत्व नाम दिया है। कल्पना तत्व दोनों वर्गों में समान रूप से मान्य है। शैली तत्व का देश, काल एवं वातावरण से संबंध होता है क्योंकि लेखन शैली इन तीनों से प्रभावित होती है। कुछ काव्यशास्त्रियों ने काव्य को कला के अन्तर्गत न मानकर काव्य में कला तत्व का समावेश डाला है। उनका कहना है कि कला ही तो काव्य को स्वरूप प्रदान करती है। यदि कला न हो तो काव्य के स्वरूप का निर्माण ही संभव न हो। "वह शब्द-शब्द नहीं, वह वाणी-वाणी नहीं, वह न्याय-न्याय नहीं

तथा वह कला-कला नहीं जो काव्य का अंग नहीं बन जाती। ऐसी रचना कवि के लिए एक भारी बोझ के समान ही होती है।"[1]

भामह काव्य को शास्त्रवत एवं स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसने कला को काव्यांग स्वीकार किया है, काव्य के अन्य तत्व काव्य के वाह्य स्वरूप हैं और उसका आन्तरिक स्वरूप उसकी आत्मा 'रस' है क्योंकि 'रसात्मक काव्य ही काव्य है।[2] रस की व्याख्या पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है कि कैसे चरम आनन्द की प्राप्ति रस के माध्यम से प्राप्त होती है।

काव्य : शब्द-तत्व-:

अर्थ-द्योतन के अतिरिक्त भी शब्द तत्व का अपना महत्व है। अलंकारों का शब्दगत चयन तथा विविध वृत्तियों-पुरुष, कोमल और उपनागरिक-का नियोजन एवं शब्द-चयन से उत्पन्न पद की एक विशेष गति तथा प्रवाह, सगीतात्मकता आदि शब्द के विभिन्न कार्य हैं। काव्य का श्रवणगत प्रथम प्रभाव शब्द द्वारा ही भाषित होता है यही तत्व कविता या काव्य की किसी पंक्ति या पद्य को चिरकाल तक स्मरणीय बनाने में योगदान करता है। शब्द तत्व ही कवि को भाव और कल्पना की प्रेरणा देता है। शब्द-समूह से बनी गति द्वारा ही कवि के अन्तःकरण में छन्द योजना जागृत होती है। छन्दों के साँचों का निर्माण शब्द-चयन के चातुर्य पर निर्भर होता है। अतः कवि के लिए शब्द-चयन और विन्यास का ज्ञान होना अनिवार्य है।

---

1. न स शब्दो न तद्रवाच्य न सः न्यायो न सा कला
   जायते यन्न काव्यागम हो भारो महान् कवेः।।
   काव्यालकार, भामह, पृ0-4:9

2. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, पृ0-3

शब्द की गति दो प्रकार की होती है-साधारण और नर्तन। साधारण शब्द गति काव्य के पद्य रूप में कार्य करती है और नर्तन गति पद्य रूप में। इस सन्दर्भ में भाव और अर्थ के अतिरिक्त शब्द की गति और लय (झमक) का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान होता है। जैसे-

वीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
वनन में, बागन में बगरयों बसंत है।- **गति**
रस गिर मंजन किये, कंजन भंजन दैन
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन।। - **लय**[1]

शब्दानुसारी अर्थ और अर्थानुसारी शब्द-योजना अर्थात् जहाँ जो अर्थ उपयुक्त है, उसके अनुरूप शब्द रखना और जहाँ जो शब्द उपयुक्त है उसके अनुरूप अर्थ योजना ही कवि की शब्द-परख की सबसे बड़ी सफलता है तथा यही शब्द-तत्व की अनिवार्यता भी है।

काव्य:-अर्थ-तत्व-:

काव्य के शब्द चाहे चमत्कारयुक्त हो अथवा उससे रहित-अर्थ की विद्यमानता दोनों स्थितियों में अनिवार्य हैं। बिना अर्थ के तो काव्य का अस्तित्व ही संभव नहीं है। अर्थ ही भाव तथा कल्पना का वाहक है और सत्य का स्वरूप है। अर्थ शब्द की प्रधान शक्ति है। अर्थ को प्रकाश में लाने वाली शक्तियों-अभिधा, लक्षणा और व्यंजना- में से अंतिम दो शक्तियाँ काव्य में उत्तमता उत्पन्न करती हैं। अभिधा साधारण शक्ति है जो काव्य में चमत्कार और व्यंग्य उत्पन्न करने में असमर्थ है, फिर भी चमत्कार-रहित साधारण स्थिति में सतत कार्य करते रहने के कारण अभिधा शक्ति का महत्व कम नहीं है।

---

1. देवसुधा, महाकवि देव

लक्षणा शक्ति चमत्कारिक अभिव्यक्ति की संवाहिका है और व्यंजना अर्थ की अति रमणीय अभिव्यक्ति की निर्वाहिका है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय वालों का तो यहाँ तक कहना है कि 'अलौकिक चमत्कारी तथा विचित्र अर्थ-सिद्धि वाली और विदिग्ध भाव-भंगिमायुक्त मणिति ही, वक्रोक्ति कहलाती है।'[1]

काव्य में तीनों ही शब्द-शक्तियाँ महत्वपूर्ण कार्य करती हैं और यथा--स्थान उनका अपना महत्व होता है। अर्थ का सही संयोजन बुद्धि-तत्व पर, अर्थ का आकार कल्पना-तत्व पर और अर्थ का प्रभाव भाव-तत्व पर निर्भर रहता है। अर्थ इन सभी के संयोग से व्यवस्थित रूप में प्रकट होता है, जब शब्द, अर्थ, बुद्धि भाव और कल्पना सभी तत्वों का चमत्कार एक साथ उपस्थित होता है। शब्द की विद्यमानता में अर्थ की स्थिति अनिवार्य है। इससे काव्य की प्रभाव क्षमता जानी जाती है।

काव्य : भाव तत्व :

भाव कवि के मन में स्थिर होता है। मनोवेगों का संस्कार रूप में [illegible] होना, स्मृति व पुनः अनुभूत होना ही भाव का स्वरूप होता है। भाव को साकार रूप देने वाले तत्व शब्द, अर्थ और कल्पना हैं। भाव तत्व काव्य के श्रोताओं और दर्शक को प्रभावित करता है। इतना ही नहीं, भाव तत्व संचरणशील तत्व है और यह कवि के भाव का ही द्योतक नहीं, अपितु पाठक और दर्शक के मनोगत भावों का भी प्रतीक होता है। भाव-तत्व बिना किसी उक्ति चमत्कार या बौद्धिक प्रयत्न के भी काव्य में गतिशील रहता है। आम

---

1. लोकोत्तर चमत्कार वैचित्र सिद्धये। वक्रोक्तिरेव वेदग्ध्यभंगी मणितिरूच्चते। - वक्रोक्ति जीवित, राजानक कुन्तक, पृ0-1i 10

बोलचाल की भाषा में भी कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति बड़ा भावुक है। इससे ज्ञात होता है कि भाव तत्व में जब संचरणशीलता तीव्र हो जाती है तो वह उस व्यक्ति को भावुक बना डालती है जिसके मन में उसका संचरण व्यापार क्रियाशील रहता है। लोकगीतों में भाव-तत्व की तीव्रता को सहज ही आँका जा सकता है। काव्य में गीति स्वरूप में भी भाव-तत्व की प्रधानता होती है। भाव-तत्व संगीतात्मकता का भी प्रेरक है। भाव-तत्व की प्रधानता का एक शब्द-चित्र प्रस्तुत है-

छूटयों गेह काज लोकलाज मनमोहिनी को,
मूल्यौ मनमोहन को मुरली बजाइवो।
कहै रसखानि दिना दै में बाल फैलि जै है,
सजनी कहाँ लौ चन्दा हथान दुराइबो।।

वस्तुतः भाव तत्व के बिना काव्य-सृजन की कल्पना ही नहीं की जा सकती ।

काव्य : कल्पना तत्व-:

कल्पना एक स्वर्णिम उड़ान है। वह एक ऐसी बहार है, जो जिस भी चमन को छू लेगी, फिर चाहे सूखा या निर्जन ही क्यों न हो- वह हरियाली से फूलों से और पक्षियों के चहचहाहट से गूंज उठेगी और बिखेर देगा चारों तरफ ऐसी सुषमा जिसे देखकर भले ही नेत्र तृप्ति की अनुभूति करें किन्तु मन अतृप्ति का ही अनुभव करेगा।

कल्पना भाव, अर्थ चित्रण और कथ्य का विस्तार है। काव्य में पात्रों का सृजन और उनके व्यक्तितत्व का निर्माण करना कल्पना का ही खेल है।

कल्पना ऐसी वाटिका है जिसमें नाना वर्णों के पुष्प खिले होते हैं। फिर भी उस वाटिका का अपना विशिष्ट स्वरूप होता है और पुष्पों का पृथक् वर्ण नाम और सुगन्धित होती है।

कथानक में विस्तार, पात्रों के चरित्र में औदार्य-औदार्य की सृष्टि, स्वादों में रोचकता तथा कलाकार को अनोखी सूझबूश से लाद देना- यह सब कल्पना-तत्व का ही कार्य है। बिना कल्पना के रेखा गणित की की रेखा न घट सकती है और न बढ़ सकती है। ज्योतिषशास्त्रियों का शून्य (0) निरर्थक है। यथार्थ का ठोस रूप और वैज्ञानिक ढांचे में कसे-कसाये गणित की यह कल्पना-'मान लीजिए कि मूलधन एक रुपया है' -- कल्पना तत्व की यथार्थ पर ऐसी विजय है जिसे कि कोई वाक्य पदार्थ किसी यथार्थ (ठोस) रूप पर हावी हो जाता है। संसार का सारा प्रपंच कल्पना की कारयित्री शक्ति का चमत्कार है। कल्पना में गति है, मति है, प्रेरणा है और वह साधन है जो साध्य को निकटतम लाकर साक्षात्कार करा देती है।

अतीत की झलकती झांकियाँ, वर्तमान की सम्मुख लटकती ठोस समस्याएं और भविष्य की मनोरम सुनहरी योजनाएं - कल्पना के परिधान से ही व्यवस्थित होकर सौन्दर्य-युक्त स्वरूप धारण करती है। कल्पना मनोरम्य स्वर्ग और कष्टप्रद नरक-दोनों का दर्शन कराने में समर्थ है। इस प्रकार काव्य में कल्पना तत्व का महत्व सरलता से समझा जा सकता है। कल्पना रूप सृष्टि करने वाली शक्ति है। निराकार वस्तुओं और भावों को आकार देना, तथ्य को चित्रमय बनाना, चरित्र या पात्र के व्यक्तितत्व को साक्षात् करना, घटना की

पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना और भाव को जगाने वाले चित्र अंकित करना,-कल्पना के द्वारा ही संभव होता है।

कल्पना एक ऐसी व्योम-यात्रा है जो जन, मन, भाव, विचार, शब्द, अर्थ में व्याप्त है। कल्पना तत्व भी काव्य का ऐसा ही आधार है जैसे पुष्पों में सुगन्धि और नेत्रों में अनेकशः रंग-रूप व्याप्त होता है। कल्पना तत्व भी काव्य का ऐसा ही आधार है जैसे मेघों में जल और विद्युत। कल्पना तत्व का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है -

फटिक सिलन सों सुधार्‌यो सुधा मन्दिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमन्द।
बाहर ते भीतर लौं फैलो आंगन फरसबन्द।।
तारा सी तरूनि तामै ठाड़ी झिलमिल होत,
मोतिन की माज मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी से अम्बर में आभा सी उजारी लागै,
प्यारी राधिका के मुख चन्द सो लगत चंद।।

यह कल्पना-तत्व की महिमा और कारयित्री शक्ति का चमत्कार है।

काव्य : विचार तत्व-:

काव्य में विचार-तत्व का महत्व इस बात में निहित होता है कि उसमें भाव एवं कल्पना का उचित संयोजन और शब्दों का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होता है। औचित्य के बिना विश्वसनीयता और प्रभाव-दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। इसका प्रभाव मुख्य रूप से कथा-शिल्प; चरित्र-चित्रण तथा भाव-निरूपणों में देखा जाता है। विचार-तत्व का क्षेत्र केवल पात्रों के जीवन की घटनाओं को चुनने तक ही सीमित नहीं होता, अपितु उनकी चेष्टाओं तथा मनोविकारों को

कब, किस पृष्ठभूमि में और कैसे देखना चाहिए - यह निर्धारित करना भी होता है। विचार-तत्व के महिमा के बल पर ही गोस्वामी तुलसीदास राम के चरित्र की उदात्त पृष्ठभूमि पर स्थापित करने में समर्थ हो सके हैं। इतना ही नहीं, इसी बल पर वे रावण का चरित्र भी इस रूप में अंकित करने में सफल रहे हैं कि आज का कोई भी विवेकशील व्यक्ति अपने पुत्र का नाम रावण रखने को उद्यत नहीं होता।

तुलसीदास ने विचार-तत्व की पूर्ण सहायता से राम का चरित्र-चित्रण इतना प्रभावशाली अंकित किया है कि हम राम जैसा बनने को आतुर रहते हैं, और रावण के नाम पर नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। स्पष्ट है कि विचार-तत्व के अभाव में कोई भी वर्णन सजीव नहीं हो सकता। हाँ हास्यास्पद अवश्य बन सकता है। विचार-तत्व काव्य का सशक्त तत्व है जो काव्यगत 'कु' और 'सु' को पहचानने की शक्ति रखता है और तदनुरूप काव्य के क्षेत्र में कार्यशील रहता है।

काव्य : शैली-तत्व-:

शैली से अभिप्राय लेखन कला से है तथा लेखन कला पर क्षेत्रीय प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में पड़ता है। क्षेत्रीय प्रभाव के अधीन गौड़ी, विदर्भी तथा पाँचाली रीतियों की काव्य समीक्षकों ने बड़ी चर्चा की है।शैली के रूप में चित्रकला भी अपने-अपने समय की विशेषताओं को समेटे हुए हैं, राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी, बंगाल आदि शैलियाँ अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए है, शैली के कारण ही यामिनी राय की कृतियों को पूरे विश्व में सराहा गया। इस प्रकार का प्रभाव, क्षेत्रीय से लेकर व्यक्तिगत तक होता है। प्रभाव को वातावरणीय प्रभाव भी

कह सकते हैं। इसी प्रकार अग्निपुराण के 34वें अध्याय के प्रथम् श्लोक में लटी रीति का उल्लेख भी मिलता है। इन रीतियों के नाम प्रदेश विशेष पर रखे गये हैं। गौड़ प्रदेश के रहने वाले लेखकों ने जिस लेखन शैली का प्रयोग किया, उसे गौड़ी रीति कहा गया। इसी प्रकार विदर्भ प्रदेश के निवासी साहित्यकारों तथा कलाकारों ने जिस शैली को अपनाया, वह विदर्भी शैली के नाम से प्रसिद्ध है और पंचाल प्रदेश के कलाकारों द्वारा अपनायी गयी लेखन शैली पांचाली शैली के नाम से विख्यात है। लाट प्रदेश वर्तमान गुजरात का प्राचीन नाम है। इस प्रदेश के साहित्यकारों ने इन तीन रीतियों से भिन्न-भिन्न शैली को जन्म दिया, वह ल्लाटी रीति के नाम से व्यवहृत हुई। बौद्ध इतिहासकार लामा तारानाथ ने तिब्बती भाषा में 'भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का इतिहास' में तीन शैलियों का उल्लेख किया है। दैवी कलाकार मानवीय रूप में अवतग्ति हुए और उन्होंने मगध में उपासना क्के हेतु महाबोधि, मंजुश्री और दुंदुभीश्वर आदि आठ प्रतिमओं का निर्माण किया। अशोक के समय यक्ष कलाकारों ने आठ चैत्यों तथ व़ज्रासन की भीतरी दीवारों की रचना की थी तथा नागार्जुन के समय नाग कलाकारों ने अनेक प्रतिभाओं का सृजन किया था।

राजा भोज ने अपने 'सरस्वती कण्ठामरण' में वामनाचार्य द्वारा मान्य उक्त तीनों रीतियों-गोड़ी, विदर्भी तथा पांचाली, और रूद्रट द्वारा मान्य लाटी रीति के अतिरिक्त अवन्ती तथा मगधी रीतियों का भी उल्लेख किया है। अवन्तिा रीति वर्तमान मध्यप्रदेश के एक क्षेत्र अवन्ती के विद्वानों की लेखन-शैली का नाम था। और मगध (वर्तमान बिहार राज्य) प्रदेश के साहित्यकारों ने जिस लेखन शैली का आश्रय लिया, वह मगधी रीति के नाम से प्रसिद्ध हुई। रीति शब्द

का अर्थ मार्ग है और संस्कृत की रीड्0 गतो (गति) धातु से रीति शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।[1]

मम्मट ने रीति के स्थान पर 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है और पुरुषा, कोमला तथा उपनागरिका - तीन वृत्तियाँ मानी है। इन रीतियों या वृत्तियों में काव्य गुण कार्यशील रहते हैं। वामन भी रीतियों में गुणों की विशिष्टता स्वीकार करते हैं और रीतियों का अर्थ विशिष्ट पद रचना मानता है।[2]

कला को काव्य तत्व मानने की बात गलत नहीं लगती। क्योंकि कला तो जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सत्ता और विद्यमानता के कारण एक व्यापक रूपावली स्वरूप-निर्माण की शक्ति है। अत: यह कैसे हो सकता है कि काव्य को स्वरूप प्रदान करने में कला की भूमिका शून्य हो। चाहे चित्र कला हो या काव्य कला, सब का स्वरूप तात्विक ही होता है। और जिस प्रकार भाव, कल्पना तथा शैली आदि तत्व काव्य कला में व्यापारशील रहते हैं, उसी प्रकार चित्र कला में भी बिना भाव के चित्र की रचना संभव हो पाना कोरी कल्पना की स्थिति जैसी है क्योंकि चित्र के स्वरूप की प्रथम स्थिति मनोगत भाव में रहती है। कल्पना उसको विस्तार, सौन्दर्य आदि प्रदान करके अग्रसर करती है तथा विचार-तत्व रंग रंजना की विधि को स्पष्ट करता है। अत: काव्य के तत्व जिस काव्य में क्रियाशील रहते हैं, उसी प्रकार चित्र में भी।

1. वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत:।
रीड0गता विति घातो: सा व्युत्पत्या रीतिरूच्यते।।
- सरस्वती कण्ठाभरण, भोजराज, 2:27

2. विशिष्ट पद रचना रीति: विशेषो गुणात्मा।
अलंकार सूत्र, वामन, 1:2, 7-8

जिस प्रकार काव्य में शैली तत्व का प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार चित्रकला में भी शैलियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। जैसे अपभ्रंश, राजस्थानी, मुगल और पहाड़ी आदि। काव्य के भाव कल्पना, विचार तत्व एवं शैली-तत्व चित्रकला के लिए भी उतने ही उपयोगी हैं जितने काव्य कला के लिए। तत्वों की समानता तथा उपयोगिता समान आधार चित्रकला और काव्यकला के सामीप्य की अभिव्यक्ति को स्पष्ट करता है और साथ ही एक पर अनेक पारस्परिक प्रभाव का परिचायक भी है।

प्रतिज्ञा, प्रतीक-सत्य एक है, इसलिए ही चित्रकार चित्र रचता है, साहित्यकार-साहित्य का सृजन् करता है, संगीतकार स्वरों को अभिव्यंजित करता है, राजगीर स्थापत्य के नमूने खड़ा कर देता है.... पर इन सब का लक्ष्य चरम सत्य को प्राप्त करना है, राधा-कृष्ण (चित्र क्रमांक-1) आदि उसके रास्ते के सीढ़ियाँ हो सकते हैं, उनके द्वारा परम-तत्व को प्राप्त करना उनका लक्ष्य है, ये सब सिर्फ एक माध्यम है।

लक्ष्य एक है, देखने के अलग-अलग तरीके हैं। साहित्यकार, चित्रकार, शिल्पकार उस परमतत्व के नजदीक पहुँचने के लिए अपने-अपने माध्यमों से जीवन को व्यक्त करते हैं। जैसे गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमारे भक्त हमें जिस रूप में ढूँढ़ते हैं मैं उसे उस रूप में मिलता हूँ...।[1]

तत्वों की समानता तथा उपयोगिता का समान आधार चित्रकला और काव्यकला के सामीप्य की अभिव्यक्ति को स्पष्ट करता है और साथ ही एक दूसरे पर उनके पारस्परिक प्रभाव का परिचायक भी है।

---

1. लक्ष्मीकांत वर्मा से हमारी बात, 19/10/01

चित्रकला और साहित्य

स्वरूप और सामीप्य-:

मानव का अनादि काल से ही चित्रकला के प्रति आकर्षण रहा है। अपने जीवन के क्रमिक विकास के साथ ही उसमें प्रिय वस्तु को देखने की लालसा निरन्तर बढ़ती रहती है। और यही कारण है कि यह 'दर्शन' प्रिय होता चला गया। नील गगन के अनन्त विस्तार, असंख्य तारेगण, दिग-दिगन्त तक व्याप्त प्रकृति की अनुपम शोभा, प्रचण्ड तेजयुक्त सूर्य का गोला, शीतल पीयूपवर्षिणी चन्द्रकला-ये सभी उसकी दर्शन प्रियता एवं तृप्ति के साधन रहे हैं। उसके मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ लता-कुजों और शस्य-श्यामलता ने मनुष्य-मन तथा उसके नेत्रों को सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ तृप्ति भी प्रदान की है। इस प्रकार मानव मन में चित्रात्मकता का प्रथम उन्मेष हुआ और उसने कल्पना-रथ पर आरूढ़ होकर इन सब दृश्यमान वस्तुओं के चित्र अपने मन-मस्तिष्क में उतारना आरंभ किया। कलाकार के विकास की गति के साथ उसके मन-मस्तिष्क में अंकित ये रेखाएँ भित्ति-चित्रों के रूप में प्रकट हुईं। चित्रकला के स्वरूप का चिन्तन करते समय सर्वप्रथम मस्तिष्क में उस युग की कल्पना जागृत होती है और जब आज से हजारों साल पूर्व चित्रकार अंधेरी-संकरी गुफाओं में बैठ युगीन रूपाकृतियों से प्रभावित होकर उन्हें रेखा और रंगों के माध्यम से पत्थरों पर उतार रहा था। इन कृतियों के ध्वंसावशेष तद्युगीन चित्रकारिता के साक्षी हैं। भारतीय साहित्य में चित्रकला के जन्म के सम्बन्ध में 'चित्रलक्षण' में वर्णित कथा के आधार पर ब्रह्मपुत्र का चित्र ही आदि-चित्र माना जाता है। किन्तु एक अन्य धारणा के अनुसार 'विष्णुधर्मोत्तर

पुराण' की कथा में महर्षि नारायण द्वारा विरचित उर्वशी का चित्र सृष्टि का प्रथम चित्र माना जाता है।[1]

चित्रकार अपने अन्त:करण में छिपी गुप्त अदम्य कामना अथवा अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिए चित्र का निर्माण करता है। 'अमरकोश' के अनुसार चित्र शब्द की व्युत्पत्ति 'चीयते इति चित्रम'[2] से मानी गयी है। अर्थात चित्रकार बाह्य जगत से रूप, रस, गंध और शब्द का तथा अन्तर्जगत से सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद एवं भक्ति-भाव के स्वरों का चयन करता है। तभी उसके चित्र में वास्तविकता का समावेश हो पाता है।

भारतीय चित्रकला का स्वरूप मूलत: आध्यात्मपरक है, जबकि पाश्चात्य चित्रकला का स्वरूप भौतिकवादी है।[3] इस परिप्रेक्ष्य में यह बात भी विचारणीय है कि भारतीय चित्रकला का चरम लक्ष्य काव्य कला की ही तरह रसोपलब्धि है। रसोपलब्धि का अर्थ उस सत्यं, शिव, सुन्दरं [illegible] है जो जीवन की सार्थकता में परिणति होकर शाश्वत रूप ग्रहण कर लेता है।

भारतीयों के आदि देवता एवं स्रष्टा ब्रह्मा के जन्म-प्रसंग का चित्र कितना रोचक और काल्पनिक है-इसका अनुमान उस चित्र को देखकर ही किया जा सकता है।-क्षीरसागर में शेषनाग की शैय्या पर भगवान विष्णु शयन की मुद्रा में विराजमान हैं, उनके नाभि-प्रदेश से उत्पन्न एक लम्बोयमान कमलनाल के अग्रभाग पर सहस्रदल कमल-पुष्प खिला हुआ है उसके मध्य चतुर्मुख ब्रह्मा आसीन हैं। यह है चित्रकार की महती कल्पना और मोहक उड़ान जिस पर

---

1. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मार्कण्डेय कथन, तृतीय खण्ड, पद : 20 श्लोक
2. अमरकोश, 'चित्र' शब्द।
3. सम्मेलन पत्रिका, कला अंक, पृ0-156

दर्शक मुग्ध और आश्चर्यचकित होकर चित्रगत सौन्दर्य में तल्लीन हो जाना चाहता है।

अर्द्धनारीश्वर की कल्पना सर्वप्रथम काव्य में न होकर चित्र में ही हुई होगी-ऐसा अनुमान करना गलत न होगा, क्योंकि चित्रकला में जो चित्रित किया जा सकता है, उसको काव्य में वैसा ही वर्णित करना कदाचित संभव नहीं होती। 'कटिमध्या' लिखकर किसी कृशोदरी का वह रूप प्रकट नहीं होता जो चित्रकार चित्र में प्रकट कर देता है। यह सब कुछ वह उस शिल्प षड्ग के आधार पर ही करता है। समुद्र-मंथन की कल्पना और चित्र-रचना... दोनों ही उदात्तता की पराकाष्ठा के लिए हुए हैं। मान लें कि समुद्र मंथन एक यथार्थ है, परन्तु उस घटना को हमने, आपने अथवा चित्रकार ने स्वयं तो होते या घटते नहीं देखा है, क्षीरसागर का मंथन और राई के रूप में मंदराचल का प्रयोग, नेत्री के रूप में वासुकी नाग को उस पर लपेटना, सुर-असुरों द्वारा मंथन किया जाना और चतुर्दश रत्नों की प्राप्ति... यह सब निःसन्देह एक ऊँची और कौतूहलपूर्ण कल्पना है। इस कल्पना को चित्र में यथावत चित्रित कर देना चित्रकार की इस धारणा में तादात्म्य और पुनः रेखा, रंग और तूलिका द्वारा अंकन का ही अप्रतिम स्वरूप है। तभी तो यह कहा गया है कि 'अपार काव्य संसार का निर्माता कवि अपनी सृष्टि का ब्रह्मा है, इसीलिए जैसी उसे वह काव्य सृष्टि रचती है, वैसी ही रुचि से वह उसका निर्माण करता है।[1] चित्रकार भी ठीक उसी प्रकार आचरण करता है और वह भी अपनी सृष्टि-चित्र को षड्ग समन्वय से उदात्त और लोकहितकारी रूप प्रदान करता है।

---

1. अपारे काव्य संसारे कविरेंके: प्रजापति:।
   यथा स्मै रोचते विश्व तयेदं परिवर्तते।। अग्निपुराण वेदव्यास, 339:10

चित्रकला में यद्यपि शैली भी उसके स्वरूप की निर्मित्त में सहायक होती है, तथापि उसे हम चित्रकला का सर्व नहीं कह सकते। चित्रकला का सर्वस्व तो वास्तव में भाव तत्व है जिसके द्वारा चित्र का स्वरूप उभरता अथवा बिगड़ता हैं काव्यकला में भी यही भाव तत्व काव्य को निखारता अथवा बिगाड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि दोनों में तात्विक सामीप्य तो है ही, इसके अतिरिक्त दर्शकों, पाठकों एवं श्रोताओं को अभिभूत करने की समान सामर्थ्य भी विद्यमान है।

चित्रकला के स्वरूप की एक विशेषता यह है कि उसका प्रभाव विश्वव्यापी होता है। फलतः अजन्ता, एलोरा, राजस्थानी, पहाड़ी विश्व-भर का आकर्पण बना हुआ है और विश्व के किसी भी कोने से आए दर्शक को प्रभावित करने में समर्थ हैं। यही स्थिति काव्य कला की भी है। कालिदास व तुलसीदास विश्वप्रसिद्ध हैं। कालिदास के सुरम्य नाटक 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' ने विश्व के काव्य-मनीषियों को किस सीमा तक प्रभावित किया है - इसका अनुमान गेटे के इस युक्ति से सहज ही लगाया जा सकता है कि - यदि मृत्युलोक और स्वर्गलोक को एक ही स्थान पर देखना है तो 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' पढ़िए। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य कला का प्रभाव भी चित्रकला के सदृश ही विश्वव्यापी होता है भारतीय चित्रकला का अपना एक स्वतन्त्र मार्ग रहा है, उसका एक रूप है, एक विज्ञान है और इतना ही नहीं जीवन, के प्रत्येक क्षेत्र में उसका अपना स्थान है। यही उसके स्वरूप की विशेषता भी है।

भारतीय काव्य कला की यही स्थिति है। यहाँ काव्य कला का जो तीव्रगामी प्रवाह बहुत पहले प्रवाहमान हुआ था, वह आज भी उसी रूप में, उसी तीव्रता से, वैसी ही मान्यता और जागरूकता के साथ सतत् प्रवाहित है। उसकी अपनी सारणी है, अपना शुद्ध चिन्तन है। अपनी आत्मा है, स्वरूप है। वह किसी की नकल नहीं, अपितु असल है, विशुद्ध है। ये सभी वस्तुएं, संभावनाएं, विशेषताएं चित्रकला और [illegible] की साझी सम्पदा हैं, जिसका बँटवारा न उन्होंने पहले कभी किया और न अब और न ही भविष्य में करने की बात है। यही उनके परस्पर सामीप्य का सुन्दर निदर्शन है। भारतीय चित्रकला एवं काव्यकला समान रूप से धार्मिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर अंकुरित एवं पुष्पित-पल्लवित हुई है। अत: दोनों में सामीप्य होना स्वाभाविक है, सहज है, जिसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। दोनों की [illegible] तथा सोद्देश्यता एक-सी है, अत: इस दृष्टि से भी दोनों का सामीप्य स्पष्ट है।

रचना अथवा कृति का अपना महत्व तथा रूप होता है। जिसे कलाकार उजागर करता है और बनाता है। इसीलिए वह विक्रय की वस्तु नहीं होती और उसमें विकृति भी सह्य नहीं होती। चित्रकला हो या काव्यकला अथवा मूर्तिकला - उसके स्वरूप को विक्रय की साधना नहीं बनाया जा सकता। कलाकृति में उदारता, प्रख्यातता और भावाभिव्यक्ति की सूक्ष्मता होती है। वही उसकी स्वरूप रचना का मापदण्ड और मानदण्ड होता है। काव्य या लिपिबद्ध साहित्य और चित्रकला के मूल में एक रूपता से कार्य करने वाली आत्मा के दर्शन हेमिंग्ज्वे में होते हैं। जिस मूल सौन्दर्यात्मक विशेष की विधि से साहित्य का सृजन व अनुशीलन हेमिग्ज्वे करते थे, उसी का रूप चित्रकला के प्रति प्रस्तुत उनके

चिन्तन समीक्षात्मक लेखों में द्रष्टव्य है। काव्य या लिपिबद्ध साहित्य देश, काल और वातावरण के दायरे से बढ़कर उच्च, उच्चतर, उच्चतम को ग्रहण करता है, इसकी चर्चा हेमिंग्वे ने सन् 1934 में जान मिरो चित्रकार के विषय में टिप्पणी देते हुए कलाकृति का रूप, विचार और अभिव्यक्ति का कृतिकार के सृजनकाल का मन: स्थिति, लक्ष्य, उद्देश्य के साथ की थी।[1]

यही स्थिति काव्य कला के चितेरे की होती है। वह अपने आप को समाज में और समाज को अपने आप में आत्मसात् करते हुए काव्य कृति को जन्म देता है जो लोक-हितकारी होने के साथ ही यशोकारी और आनन्ददायिनी भी होती है। समाज के सुख-दु:ख को अपनी आत्मा का सुख-दु:ख समझने में ही काव्य-कलाकार की साधना का चरमोत्कर्ष होता है।

जो चित्रकृति जितनी अधिक दर्शकों को आकर्षित करती है, वह उतनी ही प्राणवान समझी जाती है, क्योंकि उसमें कलाकार ने विश्वास, रूप-मन के भाव-साम्यों को बड़ी चतुरता तथा तादात्म्य के साथ चित्रित किया होता है। तभी तो वह चित्राकृति जन-जन के आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बन पाती है। उसी प्रकार काव्यकार अपनी काव्य की कृति में लेखनी की नोक से स्याही के माध्यम से लिपि की टेढ़ी-मेढ़ी आकृति के द्वारा विश्व-वेदना एवं विश्व-आनन्द का साक्षात्कार कराता हुआ उसकी अभिव्यक्ति करता है तथा सहृदय जनों तक उस अभिव्यक्ति के संचार को गतिशील बनाता है।

चित्रकला में नाट्यविद्या के समान ही अनुकरण का महत्व होता है। नाटकादि में अनुकरण जिस सीमा तक तद्नरूप और तद्नुकूल होता है, उसी

---

1. येसे वाई हेमिग्जवे 'दि आर्ट एवाउट जान मिरो', संस्करण 1934

सीमा तक नाटक की नाटकीयता प्रशंसनीय होती है। अर्थात् अभिनय के आंगिक तथा वात्रिक तत्वों की जितनी उत्कृष्ट अनुकृति होती है, नाटक उतना ही सशक्त और रोचक होगा। दूसरी ओर, चित्राकृति में (चित्र क्रमांक सं0-2) भी जितनी सशक्त, सबल और औचित्यपूर्ण चितवन, भाव अंग-प्रत्यंग का अनुकरण, सादृश्य अथवा साम्य उपस्थित होगा, वह चित्राकृति उतनी ही अधिक आकर्षक व भावाभिव्यक्ति का प्रबल आधार समझी जाएगी।

चित्र में सत्य का होना उतना ही अनिवार्य है जितना काव्य में। चित्र में कल्पना का वही कार्य होता है जो काव्य और चित्रकृति में एक चित्रकार के लिए 'सादृश्य' का होता है। 'सादृश्य' का अर्थ ज्यों का त्यों नहीं होता, अपितु कला में कल्पना के सहयोग से सही अनुपात में सर्वांगपूर्ण तथा सुन्दर कृति-रचना ही सादृश्य है। चित्रकार एक नारी का चित्र अंकित कर रहा है, वह जैसी है, वैसी ही चित्रित करने में सादृश्य नहीं, अपितु उसके शरीरावयवों को औचित्य और अनुपात में चित्रित करने मे कला की श्रेष्ठता का आभास होगा। यही कारण है कि मनुष्य की मुखाकृति उतनी अच्छी नहीं होती, जितनी की फोटोग्राफर के द्वारा कैमरे से चित्राकृति दिखलायी जाती है। यह किसी प्रकार किसी व्यक्ति का चित्र ज्यों का त्यों उतर भी आया है तो फोटोग्राफर अपनी सूई की नोक जेसी पेंसिल के अग्रभाग से अथवा तूलिका के हल्के रंग-विधान द्वारा चित्र में सादृश्य उत्पन्न करके उसके हू-ब-हू पन में कल्पना का लेप करके उस चित्राकृति को सचमुच कलात्मकता प्रदान करता है ताकि वह उसे स्वयं को तथा उसको जिसकी वह प्रतिकृति है और अन्य दर्शकों को हृदयग्राही लग सके जैसा चित्र क्रमांक-3।

काव्यकला में भी इस विराट विश्व में व्याप्त जड़-चेतन, सुन्दर-असुन्दर का अनुकरण एक अन्तर के साथ उपस्थित किया जाता है। जिस व्यक्ति पर जो बीती है, उसी नाम से वही बीती हुई कथा काव्य में हम न देख सकेंगे। नाम की भिन्नता, स्थान की भिन्नता तथा देश की भिन्नता आदि अनेक दृश्य हैं जिन्हें काव्य में हम देख सकते हैं। अत: काव्य कला में भी अनुकरण तथा सादृश्य चित्रकला की तरह ही अंकित होता है। जैसी की तैसी नकल करने में कलातत्व की प्रतीति असंभव नहीं तो किसी सीमा तक क्षीण तो हो ही जाती है।

अरस्तु के अनुसार संगीत, चित्र, नृत्य, काव्यादि समस्त ललित कलाओं का मूलाधार अनुकरण ही है। इसके पृथक् वैभिन्नय के तीन आधार विषय माध्यम और रीति है। अभ्यास इन कलाओं की अभिव्यक्ति का समान रूप से साधक है। सौन्दर्य स्वत: अपेक्षित है।[1]

चित्रकला और काव्य कला-दोनों ही भावाभिव्यक्ति के सबल तथा प्रभावशील रूप है। मनुष्य ने इन दोनों कलाओं के माध्यम से अपनी भावाभिव्यक्ति को तीव्रता के साथ अभिव्यक्त किया है। चित्रकला तथा काव्यकला का सामीप्य इस बात में निहित है कि कलाओं में तात्विक भिन्नता का अभाव है तथा रसोपलब्धि की एवं आनन्द की प्राप्ति निरन्तर साम्य है। चित्रकला और काव्य कला मूलत: एक ही मानवीय मन की अभिव्यक्ति के दो विविध रूप हैं, किन्तु उसमें भिन्नता नहीं है। जैसे उस परम कलाकार के द्वारा निर्मित मानवाकार पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हुए भी मूलत: एक ही हैं। उसी प्रकार कलाकार की कृतियाँ भी भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली होते हुए भी एक हैं, एक दूसरे के समीप हैं।

---

1. भारतीय चित्रकला और उसके मूल तत्व, डॉ0 रघुनंदन प्रसाद तिवारी, अध्याय-4, पृ0-105

अध्याय - द्वितीय

कला और साहित्य की रचना प्रक्रिया-

चित्र रचना एक लम्बी साधना है। उसकी सिद्धि का मार्ग बड़ा दुर्गम है, चित्रकार जब चित्रसृष्टि करता है तो वह विविध संसाधनों का प्रयोग करता है, परन्तु जब सफल होता है, तो आनन्द की अनुभूति संसाधनों के अम्बार में निहित नहीं होती, वह अनुभूतिजन्य होती है। यही नहीं अनुकूलता और प्रतिकूलता का भी इसकी अनुभूति पर प्रभाव नही पड़ता, ठीक वैसे ही जैसे कडी धूप में वायु का एक झोंका शीतलता प्रदान कर मन को आनन्द से भर देता है।

भारतीय दृष्टिकोण से श्रेष्ठ चित्रकर्म को ऐहिक लोकयात्रा का साधन और पारलौकिक नि:श्रेयस का कारण बताया गया है। चित्ररचना में तन्मयता व साधना की आवश्यकता होती है, इसलिये एक श्रेष्ठ चित्रकर्म करने वाले को योगी तथा तत्ववादी से भी बड़ा बताया गया है। एक तत्वविद ऐसे लोक का निर्माण करता है, जहाँ सर्व सामान्य की पहुँच नहीं होती और जहाँ ऐहिक जीवन के सुखों-भोगों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, किन्तु एक चित्रकार इस भौतिक जीवन में आनन्द लाभ तथा यश का अर्जन कर साथ ही परम आनन्द तथा परम यश को प्राप्त करता है।

पूर्व पृष्ठों में कला के प्रकार पर विस्तृत चर्चा हो चुकी है, अतः चित्र रचना की बात है, तो हम यहाँ देखते हैं कि चित्र रचना की सर्वमान्य धारणा कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय को टीका में यशोधर पंडित जो कि 11वीं 12वीं शताब्दी में जयपुर के राजा जयसिंह के राज में थे, की मान्य

है, उन्होंने आलेख्य (चित्रकला) के छह अंग बताये है (1) रूपभेद, (2) प्रमाण, (3) भाव, (4) लावन्य-योजना, (5) सादृष्य और (6) वर्णिकाभंग:

रूपभेदा: प्रमाणनि भवालावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिका भंग इति चित्रं पडग्कम्।।[1]

(1) **रूपभेद-:** सर्वप्रथम रूप से आँखों का परिचय होता है, धीरे-धीरे उससे आत्मा का परिचय होता है-यही रूपभेद की प्रारम्भिक और अन्तिम परिभाषा है।

रूप कहते हैं आकृति के लिये, प्रत्येक आकृति में ऐसी भिन्नता तथा विशेषता दर्शित होती है जो कि सर्वथा मौलिक हो और जिसकी किसी दूसरी आकृति से समानता न बैठती हो। वस्तुत: विशेष गुण के समावेश से किसी आकृति सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो उसी गुण विशेष का नाम 'रूप' है।

(2) **प्रमाण--:** प्रमाण कहते हैं मान, सीमा, कद, कैंडा अर्थात वस्तु के ब्यौरे को। प्रमाण चित्र-विद्या का वह अंग है, जिसके द्वारा हम प्रत्येक चित्र का मान (लम्बाई-चौड़ाई) निर्धारित कर सकें, मूल वस्तु के यथार्थ का ज्ञान उसमें भर सकें। प्रत्येक कलाकार में पर्याप्त प्रमाण-शक्ति का होना आवश्यक है। तभी वह अपनी कृति में चित्रकला के इस गुण का सन्निवेश कर सकता है।

'पंचदर्शी' (परि0 4, श्लोक-30) में इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। उसमें कहा गया है कि वस्तु रूप के गोचर होते ही प्रमातृचैतन्य से अन्त: करणवृत्ति उत्पन्न होकर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती है, तब वह अन्त:करण प्रमेय के वस्तुरूप है, उसमें संगत होकर

---

1. कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, ले0- अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक-महादेव साहा, पृ0-399

तदाकार में परिणत होती है, अर्थात् मन वस्तुरूप को धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो उठता है।

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिनिष्यंन्नम् मयमेति तत्।
मेयाभिसंगतम् तच्च मेयाभत्वम् प्रपद्यते।।[1]

प्रमा के द्वारा ही हम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कि भिन्नता और उसके विभिन्न भेदों को ग्रहण कर सकते हैं, पुरुप और स्त्री की लम्बाई में क्या भेद है, उनके समस्त अवयवों का समावेश किस क्रम से होना चाहिये, अथवा मनुष्यों और देवताओं के चित्रों में कद का क्या मान है-ये सभी बातें प्रमाण के द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं।

(3) **भाव-:** आकृति की भाव-भंगिमा, स्वभाव तथा मनोभाव, व्यंग्य इत्यादि।

शरीरोन्द्रिय वर्गस्य विकाराणाम् विधायका:।
भाव विभावजनिताश्चिवृत्तय ईरिता:।।

शरीर और इन्द्रिय सभी का विकार विधायक भाव है, विभावजनित चित्तवृत्ति भाव है। निर्विकारात्मक चित्ते भाव: प्रथम विक्रिया / निर्विकार चित्र में भाव ही प्रथम विक्रिया (Movement) प्रदान करता है।[2]

भावों का रसों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शास्त्रों में स्थायी भावों से ही रसों की निष्पत्ति मानी गयी है। भावों की व्यंजना में रस-दृष्टियों तथा हस्त मुद्राओं का प्रधान रूप से प्रयोग होता है, किन्तु शरीर के अन्य अंगों से भी भाव-प्रदर्शन का कार्य अंग कर्म द्वारा संपादित किया जाता है।

---

1. भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैलोरा, पृ0-417
2 कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, ले0- अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, अनुवादक-महादेव साहा, पृ0-418

(4) **लावण्य योजना-:** रूचि जैसा रूप को दीप्ति देती है, लावण्य उसी तरह भाव को दीप्ति देती है।

मुक्ताफलेषुच्छाया या स्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिमाति यदंगेषु तल्लावयमिहोच्यते ।। - उन्जवलनीलमणि

मोती के रूप में भंगिमा निष्प्रभ होती है, अगर उसमें लावण्य की दीप्ति न हो । उसी प्रकार चित्र के रूप में, प्रमाण और भाव सभी निष्प्रव्य हैं, अगर इन तीनों में लावण्य आकर दीप्ति प्रदान नहीं करता है।[1]

चित्र में सौन्दर्य की वृद्धि के हेतु लावण्य की योजना की जाती है, रूप की कुरूपताओं को कम करने हेतु अंगो तथा उपागों की बनावट में क्षय अथवा वृद्धि की जाती है।

(5) **सादृश्य-:** चित्रसूत्र में सादृश्य को चित्र की प्रधान वस्तु माना गया है- "चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम्।" जिस चित्र की आकृति में दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान सादृश्य होता है उसे बुद्धिचित्र कहते है- "बुध्दिचित्रं तु सादृश्यं दपर्ण प्रतिबिम्बत्।"

वस्तु के वाह्य आकृति की अपेक्षा उसके स्वभाव का अंकन अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है, जिसे भावगम्य सादृश्य कहते हैं। भावगम्य सादृश्य के हेतु प्राकृतिक उपमानों का आश्रय लिया जाता है। काव्य में इन्हीं को सादृश्य मूलक अलंकार कहा गया है।[2]

1. कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, ले0- अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, अनुवादक-महादेव साहा, पृ0-421
2. रूपांकन, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-97

(6) **वर्णिका भंग-:** नाना वर्णों की सम्मिश्रण भंगिमा और भाव, वर्णवर्तिका की खींचतान की भंगिमा आदि।

वर्णज्ञान और वर्णिका भंग षड्ग- साधना की चरम साधना और सबसे अधिक कठोर साधना है।

शुद्ध वर्ण (प्रधान रंग) चार है, इसी प्रकार रंग बनाने के नियम तथा तालिका आदि को इसमें रखा गया है।

षड्ग के उपयुक्त नियम भारतीय कला में सर्वत्र प्रयुक्त किये गये है। प्रत्येंक युग की कलाकृतियों में इनका आधार लिया गया है।

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण्' के तृतिय खंड में अध्याय 35 से लेकर अध्याय 43 तक ''चित्र सूत्रम्'' प्रकरण है, जिसमें चित्र संबंधी समस्त जिज्ञासायें मिलती हैं। चित्रसूत्रम् नौ अध्यायों में विभक्त है।

(1) **आयाममानवर्णन-:** सर्व प्रथम पाँच प्रकार के पुरूष हंस, भद्र, मालव्य, रूचक और शशक बतायें गये है। इनके लक्षण, लम्बाई, चौड़ाई, अनुपात आदि का वर्णन है। बारह अंगुल के विस्तार को ताल कहा गया है।

(2) **प्रमाण वर्णन-:** इस अध्याय के अन्तर्गत शरीर के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मरूप से अलग-अलग वर्णन किया गया है।

(3) **सामान्यमान वर्णन-:** पाँच प्रकार के पुरूषों के सादृश्य पाँच प्रकार की स्त्रियाँ भी समझनी चाहिये, जिस प्रकार पाँच पुरूष चित्र या मूर्ति बनाने के लिये उपयुक्त हैं उसी प्रकार उन्हीं नामों को (हंसा, भद्रा, मालव्य, रूचका शशका) पाँच स्त्रियाँ भी उपयुक्त होती हैं।

(4) **प्रतिमा लक्षण वर्णन-:** देव प्रतिमाओं के लिये विभिन्न लक्षणों की चर्चा की गई है। नेत्र नील कमल के सादृश्य, किनारे पर लाल, पुतली काली विकसित, लम्बी बरौनी से युक्त मनोहर एवं कोमल बनाया जाता है, आदि।

(5) **क्षय वृद्धि-:** इस रूपों (चित्रों या मूर्तियों) के पवित्र आकार और विलास वाले अनेक रंगधारी नव प्रकार के स्थानों (चित्रण के प्रकार या सौंदर्य प्रकट करने की भंगिमा) का विवेचन किया गया है।

(6) **रंग व्यतिकर-:** चित्र सूत्र में प्रधान रंग पाँच प्रकार के माने गये है-श्वेत, पीत या पीलापन लिये हुये लाल, कृष्ण और नील, अपने विवेकानुसार भाव और कल्पना तथा रंगों का विभाजन करके सैकड़ों-हजारों प्रकार के रंग बनाने का निर्देश है।

(7) **वर्त्तना-:** चित्र प्रकाश, चित्र का दोष व चित्रगुण आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

(8) **रूप निर्माण-:** ऋषि, गंधर्व, दैत्य, मानव, मंत्री, ज्योतिषि, पुरोहित, ब्रा``ह्मण आदि के चित्रों के प्रमाण तथा उनके वेशभूषा का वर्णन।

(9) **श्रृंगारादि भाव कथन :**

श्रृंगार-हास-करूण-वीर रौद्र-भयनकाः।
वीभात्साद्भुतशान्ताश्च नव चित्ररसाः स्मृता ।।[1]

इसमें नौ रसों पर विस्तार से चर्चा तथा किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये ।

चित्रशास्त्र इतना विशाल है कि यहाँ इसका वर्णन संभव नहीं है, फिर भी चित्रकला के संबंध में 'चित्रसूत्र' के उक्त विधानों एवं निर्देशों का विश्लेषण

---

1. रूपालेख्य, ले0-डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा, पृ0-23-26

करने पर सहज ही बात समझ में आ जाती है कि वास्तविक अर्थों में एक चित्रकार के लिये कितनी कठिन साधना, कितने गंभीर अध्ययन और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

पश्चिम में प्लेटो से ही इस विषय पर चिंतन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है यूनान में कला को प्रकृति का अनुकरण कहा गया है और कलाकार को अनुकर्ता। प्लेटो ने अपने आदर्श गणराज्य से कवि और कलाकार के निष्कासन की बात इसलिये कही थी कि कवि अपनी अनेक सीमाओं के कारण मूल आदर्श (Idea) का अनुकरण नहीं कर सकता। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो का मत अस्वीकार किया, कला को हू-ब-हू नकल नहीं माना, उसे कलात्मक पुनः निर्माण (Imaginative reconstruction) कहा, तथापि उसकी दृष्टि प्रधानतः वस्तुमुखी ही थी।[1] अतः उसने भी कला-रचना को अनुकरण ही माना, सृजन नहीं। पुनर्जागरण काल तक पश्चिम में कला को सृजन न मानकर 'रचना' (Composition) कहा जाता रहा क्योंकि उस युग में सृजन से अभिप्राय था किसी सर्वथा नवीन वस्तु का सृजन करना और मनुष्य को इसमें अक्षम माना जाता था। उनका विचार था कि मनुष्य अधिक से अधिक पूर्व परिचित तत्वों को थोड़े भिन्न क्रम से पुनः स्थापित करके रचना तो कर सकता है, सर्वथा नई वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता।

पुनर्जागरण काल में मानववादी दर्शन की प्रतिष्ठा हुई, मानव को उचित सम्मान मिला, मानव मुक्ति और व्यक्ति स्वतंत्रता की बात स्वीकार की गई। अठारहवीं शताब्दी के अंत मे जब दैवी स्फूर्ति अध्ययन और आभास के स्थान

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र का सिद्धान्त, ले0-डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-247

पर कल्पना का महत्व स्वीकार किया गया, उसे सृजन शक्ति का सहचरी माना गया, तो कहा गया सृजन सिद्धान्त को और अधिक बल मिला। इस सिद्धान्त का पूर्ण विकास रोमांटिक-युग में स्वच्छन्दतावादी विचारकों और कवियों ने किया।

रोमांटिक-युग में भावोच्छवास, आत्मनिष्ठता एवं कल्पना पर बल दिया जाता रहा। कविता को प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन कहा गया और बताया गया की वह सहज भावोद्रक (Turning looe of emotion) है। वर्तमान युग मे कलाकृति में सृजन एवं अन्वेषण दोनो को स्वीकार किया गया है, सच्चा कलाकार नये मूल्यों और अर्थों का अन्वेषण करता है और सृष्टि भी, सृजन के कार्य में कवि कल्पना या प्रतिभा उसकी सहायक होती है।

संस्कृत काव्य-शास्त्रों में कवि को स्वंयभू, परिभू, प्रजापति(पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट वर्णन हो चुके हैं) कहा गया है और इन शब्दों का प्रयोग इस बात का परिचायक है कि संस्कृत के आचार्य कवि को सृजक तथा कविता को सृजन रूप मानते हैं। 'प्रतिभा' का विवेचन करते हुए जिस पदावली का प्रयोग किया गया है- "प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, प्रज्ञा नवनवोन्मेंष्शालिनी प्रतिभा माता,"[1] आदि उससे भी स्पष्ट है कि संस्कृत आचार्य कविता को नूतन सृजन मानते थे।

पूर्व और पश्चिम में काव्य-सृजन सम्बन्धी जो सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं,उन्हें हम दो वर्गो में रख सकते हैं- वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ ।

---

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र का सिद्धान्त, ले0-डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ0-248

चित्रकला से प्रेरित साहित्य-

आचिन्त्य पर्वत मालाओं में मनुष्य ने जब प्रथमत: जीवन की रश्मि देखी तो, वह अपने को व्यक्त करने को व्याकुल हो उठा, उसने तत्काल तुलिकारूपी छेनी पकड़ी और सृजन का शंखनाद कर दिया । मनुष्य का स्वभाव है कि वह कभी भी अपने कार्यों से संतुष्ट नहीं रह सकता इसका ही परिणाम है कि आज हम यहाँ पर हैं। इन प्राकृतिक चित्रों को देख कर आदि मानव के हृदय में कोई भाव जरूर उद्वेलित हुआ होगा और इसको व्यक्त करने के लिये उस समय अपने पास जो कुछ भी रहा होगा, उससे सृजन किया होगा। आज भी लोकगीतों में इन सब का समन्वय मिलता है। चित्र को देखकर सहज ही मन में कुछ प्रस्फुटित हो जाता है, अनायास ही शब्द बन जाते हैं और शब्दों की पंक्तियाँ साहित्य में भाव ही हैं, जो एक दूसरे से प्रेरित होते हैं। जब एक आदमी दूसरे को प्रेरित करता बतलाया जाता है, तो उसके विषय में जो कुछ कहा जाता है वह यह होता है कि, पहले वह एक भाव के प्रति सजग होता है। यह सजगता धीरे-धीरे मूर्तरूप का निर्माण करती है, यह मूर्त साहित्य का रूप लेकर अवतरित होता है।[1]

चित्रकार जिस बात को व्यक्त करता है, कवि भी उस बात को उसी रूप में व्यक्त कर लेता है, यह बड़ा उलझा हुआ प्रश्न है? हाँ परन्तु यह जरूर होता है, कि उसे ही कहने की दिशा में आगे बढ़ता है। दूसरे शब्दों में

---

1. कला के सिद्धान्त, ले0-आर0जी0 कालिगवुड, पृ0-100

कहा जा सकता है कि कवि की अपेक्षा एक चित्रकार किसी अनुभूति, भाव या संवेदना को अधिक कुशलता से चित्रित कर सकता है,या कि एक चित्रकार की अपेक्षा एक कवि की कविता....। इस प्रकार एक कवि के मन में चित्र के माध्यम से एक दि प्त-दप्त होती है। शब्द चित्र इसके उदाहरण हैं। खास तौर पर उस समय जब घोर तिमिर को घनी भूत क्षणों में वेदना की टीस असाध्य हो जाती है, तो बरबस ही कुछ नितान्त अपने लोगों की पुरकशिश आकृतियाँ जेहन में उभरने लगती हैं और तब दिल को सुखद एहसास और भरपूर सूकुन महसूस होता है। इसका ज्वलंत उदाहरण शब्द चित्रों के माध्यम से निराला के 'सरोज -स्मृति' में दृष्टिगत है-

तु खुली एक उच्छवास- संग
विश्वास-स्तब्ध वहाॅ अंग-अंग
नत नयनो से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर - [1]

कविता भाषा की स्थिति को मानकर चलती है। बिना भाषा के न तो साहित्य हो सकता है और नही कविता। इतना ही नहीं, भाषा को भारतीय दर्शन में चार रूपों में देखा गया है-परा, पश्यती, मध्यमा और बैखरी ।बैखरी सामान्य व्यवहार में आती है जबकि मध्यमा उससे ऊपर। सच तो यह है कि पंश्यती काव्य दृष्टि से उपजती है, जहाँ शब्द, शब्द न रह कर, दृश्य बन जाते हैं।[2] इस तरह कवि आलम्बन लेता है चित्रों का। चूँकि सबसे पहले चित्रकला का ही जलवा हुआ। इसलिये इसे डॉ0 जगदीश गुप्त के शब्दों में चित्रकला

---

1 'अपरा'-सरोज स्मृति, महाप्राण, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ०-155
2. आजकल, मासिक पत्रिका, अगस्त 2001, अक 10, डॉ0 जगदीश गुप्त

को मानना पड़ेगा कि "चित्रकला सब कलाओं की आँख है।" आंख आँखों से पहले रूप की सृष्टि होती है, फिर आत्मा का साक्षात्कार और जब आत्मा का साक्षात्कार, अभिव्यंजित होता है तो साहित्य का सृजन।

शास्त्रीय कला के साहित्य तो चित्र से प्रेरित लगते ही है क्योकि कई बार किसी का वर्णन करते हुए कवि ठीक वैसे ही वर्णन करता है जैसे चित्र-निरूपित होने के बाद दिखते है। इसी प्रकार 'कुमारसंभव' के प्रथम सर्ग में कालिदास ने लिखा है कि जिस प्रकार कूची से उचित ढंग से उपयुक्त स्थानों पर रंग भरने से चित्र की आभा निखर उठती है, उसी प्रकार पार्वती का शरीर नवयौवन का संसर्ग पाकर खिल उठा :

'उन्मीलितं तूलिकेव चित्र
सूर्याशुभिभिन्नमिवारविन्दं
व भूव तस्याश्चतुरस्रशोभि
वयुविवभक्तं नवयौवनेन'

इस श्लोक से स्पष्ट विदित होता है कि कवि की लेखनी ने चित्रकार की तूलिका से प्रेरणा पायी है। जब कवि अपने काव्य की धुँधली लाइनों में उलझता है तो ये तूलिका उसका हाथ पकड़ कर आभा में खड़ा कर देती हैं। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के 16वें सर्ग में विध्वस्व अयोध्या नगरी का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ के प्रासादों की भित्तियों पर पहले नाना भाँति के पद्मवन चित्रित थे, जिनके मध्य बड़े-बड़े हाथियों को दर्शाया गया था।उन हाथियों को हथिनियाँ कमल की डंठल देती हुई अंकित की गयी थीं। वे चित्र इतने सजीव थे कि उनमें चित्रित हाथियों को (आज की विध्वस्तावस्था में भी) वास्तविक हाथी समझकर वहाँ के सिहों ने अपने नाखूनों

से उनका गंडस्थल विदीर्ण कर दिया था। बड़े-बड़े महलों में जो लकड़ी के स्तम्भ गड़े हुये थे उस पर मनोहर स्त्री मूर्तियाँ अंकित थी और उनमें रंग भरा हुआ था। वे दारू मूर्तियाँ रंग उखाड़ने में फीकी पड़ गई थी। अब तो साँपो की छोड़ी हुई केंचुले ही उनके वक्षस्थल के आवरण योग्य दुकूल का कार्य करती हैं।[1] इस में प्रतीत होता है कि कालिदास इस चित्र का वर्णन कर रहे है, पर कालिदास वन चित्रों से जरूर प्रभावित हुये होगें, एवं काव्य का सृजन किये होंगे।

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिस में मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणाम स्वरूप भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोको-मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएं भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयी और कालान्तर में भक्तिविषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई। परन्तु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी, शैव-शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन समुदाय तक इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना न रह सके।[2] भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात शंकराचार्य ने कर दिया थी। कलासृर्जन के मूल में बाह्य वातावरण और परिस्थितियों के बीच अद्‌भुत मनुष्य की सूक्ष्म तथा कोमल अन्तर्वृतियों की चेष्टाओं का निदर्शन मिलता है और कला धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति तक का माध्यम बन जाती है। कला का स्तर तब

1. चित्रदीपा: पद्मवनावतीर्णा: करेणुभिर्दत्त मृणालभग:।
नखकुशाघातविभिन्नकुंभा: संरव्यसिंह प्रहतं वहन्ति।।
स्तम्भेष योषित्प्रेतियातनाना मुत्कान्त वर्णक्रम घूस राणाम्।
स्तनोत्तरीयणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टा: फणिभिविमुक्ता:।।

रघुवंश, महाकवि कालिदास

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-89

और भी अधिक उजागर हो जाता है, जब वह चमत्कारिक बोध से ऊपर उठकर मिथ और इतिहास का आश्रय ग्रहण कर लेती है।

सगुण भक्ति धारा में भगवान की उपस्थिति साक्षात् रूप में की गई है, उन्हें अपने रूप में अपने मानस के अनुरूप बिठाया गया है, अतएव इसमें चित्रकला, मूर्तिकला ने बड़ी भूमिका निभाई। सगुण भक्ति आन्दोलन में भक्तगण ईश्वर का साक्षात् दर्शन के लिये चित्रों को अपने साथ रखते थे। राजनीतिक दासता अर्थात् मुगल शासकों की साम्राज्य-स्थापना के बाद हिन्दू जनता एक प्रकार की लाचारी, परवशता और निराशा में लीन होकर ईश्वर की शरण में जाने के सिवा त्राण का कोई उपाय ढूढ़ नहीं पाती थी। फलतः राम और कृष्ण की सगुण भक्ति द्वारा वह ऐसे अवतारी भगवान को अपने पास रखना चाहती थी जो निस्सम्बल, त्रस्त, पीड़ित और दुःखी हिन्दू जनता की रक्षा कर सकें। इन सगुणोपासक भक्त कवियों ने नाथ-पन्थ या अन्य निर्गुणपन्थी कवियों का अनुसरण न करते हुए अवतारी विष्णु भगवान को अपना आराध्य बनाया और उसके रूप, शील, गुण, सौन्दर्य आदि के मनोहारी चित्र अपनी कविता में अंकित किया।[1]

श्री वल्लभाचार्य (1479 ई0) का जन्म रायपुर जिले के चम्पारन नामक स्थान पर हुआ।... ये अपने समय के तेजस्वी, प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा थे। सम्राट अकबर भी इनकी विद्वता से प्रभावित थे।.... दार्शनिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त अर्थात् शुद्ध है-जिस प्रकार स्वर्ण अनेक रूपों में परिवर्तित होने पर भी शुद्ध स्वर्ण रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी शुद्ध है।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-174
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-178

वल्लभाचार्य ब्रह्म के सगुण उपासक होने के साथ-साथ एक कुशल चित्रकार व कवि थे। शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार भगवान् को जब स्मरण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनन्द आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव-रूप ग्रहण करता है। इस व्यापार को व्यक्त करने के लिए भगवान् को विविध माया रूपी जीव अंश को सत्य करने के लिए चित्रों का सहारा लेते हैं, जिससे वे ईश्वर का साक्षात्कार कर सकें। इस प्रकार वो ईश्वर के चित्रों का विनिर्माण करते थे। अत: स्पष्ट है कि वे एक ऊँचे दर्जे के चित्रकार थे और वे स्वयं ईश्वर की इन कृतियों पर रीझ कर फिर शब्दों से ब्रह्म का रूप खड़ा करते होगे।

सूरदास का जन्म-काल 1478 ई0 में स्थिर किया जाता है। उनके जन्मान्ध होने या बाद में अन्धत्व प्राप्त करने के विषय में अनेक किवंदन्तियाँ एवं प्रवाद फैले हुए हैं। वार्ता-ग्रन्थों के अनुसार 1509-10 ई0 के आस-पास उनकी भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई और तभी उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। अकबर से भी उनकी भेंट का उल्लेख मिलता है।[1]

सूरदास मूलतः लीलागान करते थे और वो ऐसा किसी न किसी प्रकार सापेक्ष दर्शन के पश्चात् ही कर सकते हैं।

सूरसागर के दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध में कृष्ण के जन्म से लेकर राधा की अनन्त भक्ति की चरम परिणति तक है। कृष्ण के जन्म के अवतार पर सूरदास ने जो चित्र उपस्थित किये हैं, उसमें 'देवनि दुदंभि बजाई' के साथ 'विद्याधर-किन्नर-कलोल' की स्थिति के साथ ही गोधर्वगान में 'सूर-नर रसिक,

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-201

सब नचति' हैं।[1] भरहुत, साँची, अजन्ता, ऐलोरा में जन्म अवसरों पर एवं प्रस्तुत सन्दर्भ, प्रस्तर और भित्ति पर उदे्खित और चित्रित है। सूर इस तथ्य को कृष्ण के जन्म के अवसर पर सर्वप्रथम प्रस्तुत करते हैं। यहाँ प्राचीन परम्पराओं का पुनः प्रस्तुतीकरण काव्य के माध्यम से हुआ है। इसके अन्दर पुत्र का मुख देखना, यमुना पार जाना, यशोदा के घर आनन्द, मंगल गाना, दान भेंट करना आदि के स्थिर गतिमय चित्र परक बिम्ब प्रस्तुत किये गये हैं।एक व्यापक गतिमय बिम्बपरक चित्र इस प्रकार है-

माथ मुकुट-श्रवण मनि कुण्डल,पति वस्त्र भुज चारि सुहाई।
बाजत-ताल मृदंग जंत्रगति-चरचि अरगजा अंग चढ़ाई ।
अच्छत दूब लिए लिपि ठाढ़े, बारनि बदंन बार बन्धई।
छिरकत हरत दही, हित हरषत, गिरत अंक भरिलेत उठाई।[2]

'चारि' भुजा सूर की अति कल्पना है, शेष है पवित्र कृष्ण का अलंकार है। स्थापत्यकला में अलंकरण प्रकृति का सन्निवेश 12वीं शताब्दी के लगभग प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इसके प्रतीक रंग पुरम् मन्दिर, गुजरात के मन्दिर तथा राजस्थान कीर्ति स्तम्भ चित्तौड़, आबू दिलवाड़ा का जैन मन्दिर, रनकपुर मन्दिरों की सज्जा, मण्डौर ओसलियों, केकिण्ड, नीलकण्ठ के मन्दिरों की सज्जा-शिल्प पद्धति है। शेष तीन पंक्तियों में गतिमय चित्रों की स्वाभाविक-अभिव्यक्ति है। यसोदा का हरि पालने में झुलाना कंस-पूतना प्रसंग, कागासुर वध, सकसुर वध, तृणावर्ध वध आदि **(चित्र क्रमांक-4)** के धर्म-जन्म प्रसंग चित्रकारों के चित्रण से प्रभावित हैं।

---

1. देवनि दिवि दुदंभी बजाई, सुनि मथुरा प्रगटे जादव पति।
   विद्याधर-किन्नर-कलोल मन उपजावति मिलि कंठ अमित गाति।
   गावत गुन गंधर्व पुलकित, नचति सब सुर-नारि रसिक आति।। नंददुलारे बाजपेयी, 'सूरदास', पृ0-229
2. सूरसागर, नंददुलारे बाजपेयी, पृ0-263

भारतीय इतिहास का मध्ययुग में (700-1800) का वह काल है जिसे हिन्दी साहित्य में 'रीतिकाल' (1643-1800) के नाम से पुकारा गया है। यह एक ऐसा काल है जबकि काव्य और कला एक दूसरे के अधिक निकट आए। इतने निकट संभवत: पहले कभी नहीं आए थे। जिस प्रकार उस काल में चित्रकला, वास्तुकला और संगीत-कला की विभिन्न सूक्ष्म रीतियाँ और शैलियों के अनुसार सजावट की गयी, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी भाव और भाषा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सजावट व पच्चीकारी की गयी है। वास्तव में समाज में कला वर्गों का प्राधान्य हो गया था, जो सामन्तों के आश्रय में रहकर अपना पालन-पोषण करते थे।

बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका जन्म 1595 ई0 में ग्वालियर में हुआ। बिहारी जन्म के कुछ समय पश्चात् वृन्दावन आ गये और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण परिवार में इनका विवाह हुआ। तदुपरान्त वे वहीं रहने लगे। इस बीच उन्होंने फारसी-काव्य का अभ्यास किया और बादशाह शाहजहाँ से भेंट की। शाहजहाँ के कृपा-पात्र बिहारी का सम्पर्क अन्य राजाओं से हुआ और अनेक राज्यों से इनके लिए वृत्ति बँध गयी। सन् 1645 के आस पास जब ये वृत्ति लेने जयपुर पहुँचे तो वहाँ के महाराजा जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते थे और राज-काज देखना छोड़ दिया था। सामन्तगण तथा प्रजा के लोग व्यथित थे। उसी समय बिहारी ने एक दोहा लिखकर महाराज के पास पहुँचाया, जो इस प्रकार है-

नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अली कली ही सी बिंध्यों, आगे कौन हवाल।।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-348

बिहारी के काव्य में, लोक जीवन की प्रवृत्तियाँ धार्मिक होने पर भी लौकिक और श्रृंगार रस जन्य ही सर्वाधिक हैं। बिहारी के कृष्ण और राधा सूर से भिन्न हैं, आम दरबारी परिवेश के नायक-नायिका, नट-नटी के समान सतसई के दोहों में, सामान्य जीवन के काम जन्य व्यापारों की संवदेनाओं के संवाहक हैं।[1]

बिहारी का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि वो चित्रों को देखकर काव्यों का सृजन किये हैं परन्तु उनके दोहों का अध्ययन करने पर यह बात प्रमाणित प्रतीत होती है। साधारणतः सृजक के मन में झीनी सी आकृति का प्रादुर्भाव होता है, जैसे किसी कवि की पहली पंक्तियाँ टूटती हुई जेहन में नाचती हैं। तदुपरान्त वह अपने माध्यमों, तूलिका से फलक पर उसे साक्षात् करने के लिए प्रयत्नरत हो जाता है, बिहारी के दोहों में भी यह बात भली प्रकार उपस्थित होती है।[2] इसमें कलाकार, कवि के अनुसार क्रमशः दृष्टिगतानुसार उसे अभिव्यक्त करता है। सर्वप्रथम बिहारी शीश पर मुकुट देखते हैं। इस सब के बाद बिहारी की दृष्टि हृदय पर पड़ी माला के ऊपर जाती है। बिहारी यहाँ कलाकार की दृष्टि से कृष्ण की अन्तः रेखांकित आकृति को देख रहे हैं। भक्त की दृष्टि सदैव प्रभु के चरणों में होती है और कलाकार की दृष्टि सरस रस से वेष्ठित साक्षात् वस्तु की उच्चतम प्रकाश प्राप्त जगहों को देखती है। नारी को जब कलाकार देखता है तब पहले ही उसकी दृष्टि नाक के प्रकाश से टकरा कर मुख पर बिखर जाती है।

---

1. राधा हरि-हरि राधिका बनि आए संकेत
   दंपति रति-विपरीत-सुखु सहज सुरतहुँ लेत-
   बिहारी रत्नाकर दोहा-155, पृ0-68

2. सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरल उस्माल।
   इहिवानक मो मन सदा वसो बिहारी लाल।।
   बिहारी रत्नाकर दोहा-301, पृ0-127

रीतिकाल में चित्रकला तथा काव्य कला में अलंकरण समान रूप से दृष्टिगत होते हैं, बिहारी के सतसई में भी इसी प्रकार अलंकरण हुआ है, मूर्तिकला तो 9वीं शती से ही इस क्षेत्र में पराकाष्ठा पर थी, चित्रकला के क्षेत्र में केशव के समय से यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। राजस्थानी शैली में जयपुर और बीकानेर शैलियों में इसकी प्रधानता है। जयपुर शैली तो इस प्रकार के चित्रण में माहिर हो गयी थी। बिहारी ने अलंकरणों के विषय में अपने दोहों को व्यक्त किया है-

अंग-अंग प्रतिबिम्ब परि दरपन सै सब गात।
दुहते तिहरे, चौररे भूषण जाने जात।।[1]

यह अलंकरण प्रवृत्ति युद्धक चित्रों में भी हाथी घोड़ों के सजावट के रूप में प्रति लक्षित होती है, देवी, देवताओं के अलंकरण की सामान्य दरबारी, सभा-सौबत की औरतों की तरह प्रस्तुत है। इसमें राधा-पार्वती, सीता जी के चित्रों को देखा जा सकता है। कृष्ण का चरित्र अलौकिक के बजाय लौकिक अलंकृत है। इसके साथ ही यदि पालकी को ढोने वाले चित्रित किये गए हैं तो वो भी सज्जित दिखाए गए हैं।

मौलाराम (1743-1833) के वंशज जो मुस्सवरों के खानदान से प्रख्यात थे, गढ़वाल राज्य की पुरानी राजधानी श्रीनगर में रहते थे। भारत की विविधताओं में एकता की जो संस्कृति गुथीत है वो अन्य कहीं अनुपलब्ध है, इसीलिए यहाँ पर थोड़ी-थोड़ी जगह की दूरी पर भाषा, खान-पान, रहन-सहन, गीत-संगीत व कला भिन्न-भिन्न रूप में उपस्थित होता है, परन्तु शाश्वत-सत्य है कि उन सब

1. बिहारी रत्नाकर, दोहा-680, पृ0-280

में एक सत्य है वो हैं हिन्दुस्तानी संस्कृति की एकता। इसीलिए कला शैलियाँ तो अलग-अलग दृष्टिगत होती है लेकिन उनके संविधान के मूल तत्व में वही शास्त्रीय पद्धति-

'रूपभेदाः प्रमाणानि भावालाण्य योजनम्।
सादृश्यं वर्णिका भंग इति चित्रं षड्गकम।।

हैं, इसलिए हम इन्हें अलग नहीं कर सकते, चाहे वो शास्त्रीय कला, जैन अपभ्रन्श, गुजराती, पाल, राजस्थानी, पहाड़ी, मुगल, तन्जौर, पटना, बंगाल तथा समकालीन ही क्यों न हो, भारतीय कला स्थूल जगत के अनुकरण को कभी न कर सकती न आधुनिक कला में ही उसके विशेष महत्व है (लोक-कलाओं तक में मानव-जीवन को नहीं देव-देवताओं के जीवन का बाहुल्य रहा है) ये सब ऐसे तत्व हैं जो एक ही सूत्र के गुण-दोष हैं, अतएव भारतीय कला एक ही माला के विविध पुष्पों के गुच्छे हैं।

मौलाराम एक ऐसे ही चित्रकार, कविकार, राजनीतिज्ञ व दार्शनिक का नाम है, जिसमें सब कुछ समाहित है। गढ़वाली चित्रकारों में से केवल तीन के नाम आते हैं। मौलाराम, माणकू और चैतू। मौलाराम राज परिवार के साथ श्रीनगर छोड़कर अलकनन्दा के उस पार टेहरी गढ़वाल नहीं गए। श्रीनगर में हस्तिदल चौतरिया को मौलाराम सन् 1903 ई0 में मिले। किन्तु मालूम होता है कि मौलाराम की की ख्याति नेपाल की राजधानी कान्तिपुर तक पहुंच चुकी थी। मौलाराम अपने काव्य में लिखते हैं कि हस्तिदल ने उनको ''कवि-वीर'' कह कर उनसे कहा-

कान्तिपुर में किरति तुहारी सुनत रहे।
अब आँख निहारि चित्र विचित्र देखे।।

जैसा समावेश कवि और चित्रकार का मौलाराम में था वैसा किसी और हिन्दू चित्रकार या हिन्दी कवि में अब तक देखने में नहीं आया। वह बहुधा अपने बनाये हुए चित्रों के ऊपर या उनकी पुस्त पर चित्रों का विवरण लिख दिया करते थे। जिसके कारण उसकी कविता और चित्र में बड़ा सौन्दर्य और रस आ जाता है। इस कारण मौलाराम की तसवीरों और उसकी कला की पहचान और उनके बनाने के समय का भी पता लगता है।[1]

मौलाराम स्वयं चित्रों का सृजन करते थे, तथा उस पर रीझ कर पद्य के माध्यम से उसका परिचय भी लिखते थे। जैसे ''चकोर खिलावत है'' के चित्र में उसके ऊपर लिखते हैं-

> बाग विलोकन की अवला, निकसी मुख चंद दिखावत ही।
> लखि संग चकोर करत, शब्द कझेर सुनावत 'ही'।।
> उझकि उझकि फिरकी सी फिरी, चहुं आस पासहि।
> कहत कवि मौलाराम चली हटि कै दुपटः पट चोंच पचावत हि।।

कृष्ण व राधा का ऐसा रूप है जिससे अलग होना ही नहीं जाया जा सकता। यही प्रतीक रीतिकाल के कवियों में नायक-नायिका का रूप ले लिया। मौलाराम भी इससे अछूते नहीं है, उन्होंने नायक-नायिका के विविध रूपों का सृजन कर उसका समूल वर्णन किया है। उन्होंने एक प्रोषितपतिका रेखाचित्र के ऊपर अपने हाथ से प्रोषितपतिका नायिका के सौन्दर्य और शृंगार की प्रशंसा में लिखा है-

---

1. कला अंक सम्मलेन पत्रिका, हिन्दी साहित्य, सम्मेलन, पृ0-232

कमल विकास पर राजै, चन्द्र इन्द्रवधू।
कीधौ सोम अंक पर, दुज भौम वार से ।।
मानक से जगै कीधौ, कुंदन खचित।
चारू जड़े हैं, झुमक ये काम सुनियार के।।
हेरत ही हरे मन, मनो-जग जीतबे को।
कंचन के पत्र लिखे, मन बसि कारे को।।
आनन्द के सदन कहत, वियोग हूँ के ।
प्यारी जू के बदन पर रंदन पयार के।।

इस कविता में मौलाराम ने प्रोषितपतिका नायिका-भेद ही दिया है। वह एक और रंगीन प्रोषितपतिका चित्र, जो महाराज टिहरी के संग्रह में है और जिसका रेखाचित्र (श्री मुकुन्दी लाल, बैलिस्टर) संग्रह में है, उसमें प्रोषितपतिका नायिका भेद लिखा गया है। प्रस्तुत कविता में मौलाराम ने केवल प्रोषितपतिका के सौन्दर्य की प्रशंसा की है। उनकी तुलना चाँद व इन्द्राणी से की है। उसके शृंगार और गहनों की सराहना की है जिनकी आभा ने उसके यौवन और सौन्दर्य को बढ़ा दिया है और जिनके कारण उनके इस छवि को देखकर उसके पति, जो परदेश में है केवल वही वश में नहीं हो जायेगा। वरन् वह अपने सौन्दर्य से जगत् को जीत सकती है। अपने सोने के गहनों द्वारा मानों, अपने प्रवासी पति को पत्र भेजा है। और उसे याद दिलाती है कि जाते-जाते उसने जो प्रेम प्रदर्शन किया था, उस प्रेम सूचक दाँतों के निशान उसके मुख पर अभी मौजूद है, जो उसके वियोग में उसका साथ दे रहे हैं। इस कविता में कवि मौलाराम ने अपने पूर्वजों के पेशों की भी प्रशंसा की है वे कितने अच्छे सौन्दर्यवर्द्धक गहने बनाते थे।[1]

1. कला अंक सम्मलेन पत्रिका, हिन्दी साहित्य, सम्मेलन, पृ0-234

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते भारत के हर कोने में हर क्षेत्र में हवा बदलने लगी। परिवर्तित जन-रुचि को भक्ति एवं श्रृंगार का पिष्टपेषण वेस्वाद प्रतीत हुआ।..... सुयोग्य से इस समय जनता की रुचि एवं आकांक्षाओं का पारखी तथा साहित्य की दिशा-निदेशक आचार्य के रूप में पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ। लगभग इसी समय बंगाल स्कूल का उत्थान हुआ और भारत के अतीत की गौरव को याद कर उनके अनुरूप अपने को व्यक्त करने के लिए पुरानी परम्पराओं का समन्वय, भारतीय चित्रकला के पुरोधा पुरुष आचार्य अविन्द्रनाथ ठाकुर ने किया। इनके चित्रों के विषय-इतिहास, पुराण, जनता के सेवक के रूप में भगवान, राष्ट्रीयता मुख्य विषय होकर उभरी। लेकिन कुछ चित्रकार पाश्चात्य धारा से पूरी तरह से प्रभावित हो, भारतीय विषयों का अंकन किये जा रहे थे, ऐसे में ही थे रवि वर्मा। चूँकि रवि वर्मा धार्मिक चित्रों का सृजन कर रहे थे, भले ही तात्कालीन समय में कटु आलोचना के वे पात्र बन गये हों, परन्तु उनकी कलाकृतियों को घर-घर में सजाने के रूप में पूजा करने के रूप में कैलेण्डर का रूप लेना पड़ा। चूँकि वह धर्म से सम्बन्धित है और हमारी संस्कृति में धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थिबन्धन किया है जो जीवन में भौतिक पक्ष से अधिक आध्यात्मिक पक्ष को पकड़ा है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1903 ई0 में 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक बने, इसके हर अंक में उस समय के अग्रणी चित्रकारों राजा रवि वर्मा, ब्रजभूषण राज चौधरी, बाबू वामापद बन्धोपाध्याय, श्रीयुत् एम0वी0धुरन्धर,

के चित्रों को, छापा जाता था, तथा उस समय के अग्रणी कथाकार या कवि इन चित्रों पर अपनी कविताओं का सृजन करते थे।

'कविता-कलाप' ऐसा ही संग्रह है, जिसके संपादक आ0 द्विवेदी जी है, जो 'सरस्वती' की सभी अंकों में प्रकाशित चित्र पर सृजित काव्यों का संग्रह है। यह काव्य संग्रह एक ऐसा संग्रह है जिसके पहले स्पष्ट रूप से यह कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि चित्रों को देखकर ही साहित्य का सृजन हुआ हो। हाँ स्पष्टतया यह बात रीतिकाल के कवियों में देखने को मिलली है कि चित्र किसी न किसी रूप में वहाँ प्रमुख भूमिका के रूप में रहा है अवश्य। 'कविता-कलाप' मे प्रसिद्ध चित्रकारों के 46 चित्रों पर छियालिस(46) काव्यों को भी पूर्ण किया गया है, जो अपनी भाषाभिव्यक्ति में पूर्ण लगते हैं। वैसे बीसवीं सदी के प्रारबद्ध में साहित्य हों या चित्र या फिर राजनीति ही क्यों न हो सब जगह अपने पूर्व काल को याद कर अपने में विश्वास रूपी ऑक्सीजन को भरा गया, जिससे, नये-उत्साह से उद्वेलित हो जनता 'अपने में व्याप्त कुत्सा को उतार फेकें, उन्हें याद कराया गया कि इस परतन्त्रता रूपी निशा के पहले सूर्य की चमकीली किरणे यहीं थी। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीय वर्क, मिल, स्पेंसर, रूसो आदि विचारकों की रचनाओं के सम्पर्क में आए, जिससे राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता-प्राप्ति की भावना को और बल मिला।[1]

पाश्चात्य से प्रभावित राजा रवि वर्मा के चित्र चूँकि उस समय देश में चारो तरफ चर्चा के विषय बन पड़े थे। इनके 10 चित्रों पर राय देवी प्रसाद साहब ने दस लम्बी कविताएँ लिख डाली। चूंकि ये चित्र ही ऐसे हैं कि जो

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-488

कोई भी देखेगा स्वतः ही उसके मन में उल्लास उद्वेलित होने लगेगा और अधरों से शब्द प्रस्फुटित हो जायेगा।

राय देवी प्रसाद साहब जी ने राजा रवि वर्मा के 'सरस्वती' नामक चित्र को देखकर कविता सृजन किया। सरस्वती ज्ञान की अधिष्टा हैं, उनके वीणा के तारों रूपी ज्ञान धारा से पूरा विश्व ज्ञान की धारा में बह गया है, धवल हंस पूरे विश्व को शान्ति का संदेश देते हुए, जीवन को जीने का सन्देश दे रहा है। इस प्रकार-

चारूता नवल कुन्द-वृन्द सी धवल सो है
कीरति अपार हिम धार सी सुहावे है।
सो है सेत सारी सुचि मोतिन किनारी बारी
आसन सरोज सेत सोभा सरसाई है।
....
....
वानी को प्रकाशवन्त ध्यान के निरन्तर यों
वन्दन अनंत सुरसतन्त समुदाई हैं।[1]

दूसरी कविता लक्ष्मी को देखकर व्यक्त की गयी, मानो लक्ष्मी स्वयं वहाँ दीप्त हुई हों और उनकी कीर्ति को शब्दकार अपने शब्दों में बाँधने का असफल प्रयत्न कर रहा है-

सत्य प्रभा, सत्य प्रकाशिकासी
प्रभातकालीन-प्रदीप्ति कासी।
सत्य पूर्ण-चन्द्रोज्ज्वल-जन्द्रिकासी,
आलोक विद्युत-द्युति-मालिकासी।।[1]

---

1. कविता कलाप, ले0-राय देवी प्रसाद, (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), क0स0-2, पृ0-1

इन चित्रों को देखकर कवि सिर्फ शब्दों के द्वारा एक ही रूप नहीं बनाता, बल्कि वो 'माघ' की प्रसिद्ध "युक्ति क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूप रमणीयताया:" के अनुसार अपने भावों को शब्दों के माध्यम से दूसरे रूप में भी उच्छादित करता है, इसका सीधा सा तात्पर्य है कि इस चित्र में क्षणे-क्षणे भाव प्रवर्तित हो रहा हैं 'रामचन्द्र जी का धनुर्विद्या शिक्षण' **(चित्र क्रमांक-5)** में चित्रकार ने राम की प्रत्यन्चा को इस प्रकार खींचते हुए दिखाया जैसे मानों प्रत्यंचा में जीवन को और धनुष के अगले शिरे में आत्मा का वास हो और तीर वह माध्यम है जिससे दोनों का मिलन हो रहा हो, गुरु की अंगुलिया लक्ष्य को दिखा रही हैं, मानो मोक्ष लक्ष्य है। इसको शब्दों में व्यक्त करते हुए कवि एक लम्बी कविता का सृजन कर डालता है। इसको देखकर-

देत दिकपाल सँदेसो, 'रहो सुख नियराय'।
छवि छके छिति छाँह, छिन-छिन रहे जलधार छाय।
विजन सीतल-सलिल-सरसित रहि समीर डुलाय।
करता यो अभ्यास रघुवर बालखेल बिहाय।
मनहुँ जानत लेन हमको आई है मुनि राम।[2]

वामन के चित्र में तो कमाल कर दिया है देखने में वामन महाराज छोटे प्रतीत होते हैं परन्तु अपलक निरखने के पश्चात् वो इस प्रकार प्रतीत होते हैं जैसे मानो अब आँखों में समा ही न पायें और आँख की पुतलियाँ फट जायें, इनको इस प्रकार कवि ने-

---

1. कविता कलाप, ले0-राय देवी प्रसाद, (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), क0स0-6,पृ0-3
2. कविता कलाप, ले0-राय देवी प्रसाद, (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), क0स0-11, पृ0-4

अरे मतिमान! कहाँ तुम ध्यान?
न दे वटु को अपनी-तल-दान।
लगै लघु देखन में यह व्यक्ति,
विशाल पराक्रम है अरूशक्ति।।[1]

बसन्त सेना में कवि पण्डिल नाथूराम शंकर शर्मा ने चित्र को देखकर प्रभावित तो होते ही हैं साथ ही वे चित्र के बसन्त से इतने उद्वेलित होते हैं कि बोल पड़ते हैं-

चित्र की विचित्रता में अंगों की गठन पर
रसिक सुजान भरपूर ध्यान दीजिए।

कोमल-कलेवरा की सुन्दर सजावट के
रंग-ढंग देखिए प्रसंग, रस पीजिए।।
जैसी सुनि पाई ठीक वैसी ही बनाई उस
चतुर चितेरे की बड़ाई कड़ी कीजिए।[2]

(चित्र क्रमांक-6) परशुराम नामक चित्र में परशुराम निर्भीक होकर बैठे हैं इसके पहले मानो सृष्टि के उद्धारक का कार्य निर्दयता पूर्वक किया हो और अब कोई उस डर से गलत कार्य नहीं कर सकता। परशुराम का चित्र इस समय इस तरीके से बनना मानो अपने को अंग्रेजों के खिलाफ खड़ा करने के लिए नायक का रूप हो और अपने में आत्मविश्वास पैदा हो कि आर्य कभी ऐसे भी रहे हैं सब कुछ तो अपने जैसा ही है, शिर के साथ शस्त्र मानो शिर न होकर वह तेज सूर्य हो जो अपने दीप्ति से ही भस्म कर देने की शक्ति

---

1. कविता कलाप, ले0-राय देवी प्रसाद, (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), क0स0-12, पृ0-5
2. कविता कलाप, ले0-पं0 नाथूरामशंकर शर्मा (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-10, पृ0-13

रखता हो, लेकिन इतना सहज इतना शान्त कि उसी में जीवन भी हो। पण्डित कामता प्रसाद गुरु लिखते हैं कि-

पर सहसा यह रूप देखा होता विस्मय-
आर्य लोग क्या समय थे ऐसे निर्भय।
क्या आज हम सब जो बने हैं निर्बल कामी
रहते थे स्वाधीन समर में होकर नामी।।[1]

इसमें स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीयता की भावना किस प्रकार तात्कालीन क्षणों में मुखरित हो रही थी। इसको इतिहास पुरुषों के माध्यम से जगाने का संकल्प किया जा रहा था। कुछ इसी प्रकार के भाव 'बाबू वामापद बन्धोपाध्याय के चित्र **(चित्र क्रमांक-7)** उत्तरा अभिमन्यु का विदा को देख कर मैथलीशरण गुप्त भी कह उठते हैं-

यह देखकर इस चित्र में कैसा मनोहर भाव है,
किस चित्र पर पड़ता नहीं इसका विचित्र प्रभाव है?

फिर मित्रवर! संक्षेप में इसकी कथा सुन लीजिए
निज शौर्य, साहस, धैर्य, दृढ़ता याद उससे कीजिए।[2]

*   *   *   *   *   *

करुण-सदन! तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगे।
चिन्ता-व्यथा सब पाण्डवों की शान्ति कर हरने लगे।
हे तात! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा
है प्रार्थना मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा।।[3]

---

1. कविता कलाप, ले0-पं0 कामता प्रसाद गुरु (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-11, पृ0-16
2. कविता कलाप, ले0-मैथलीशरण गुप्त (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-15, पृ0-20
3. कविता कलाप, ले0-मैथलीशरण गुप्त (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-18, पृ0-29

महिलाओं के चित्रण में चित्रकार ने जिस भारतीय महिला की सहजता, गम्भीरता, ममत्व प्रेम, तथा स्त्रीत्व का चित्रण किया है, **(चित्र क्रमांक-8, 9, 10, 11)** कवि ने उसे लेखबद्ध भी कर डाला है-

पलक निश्चल है स्थिर दृष्टि है,
भर रही उसमें रस वृष्टि है।
उषा कहीं कमलों पर सो रहे,
सुकवि तो उनकी उपमा कहे।[1]

* * * * * *

कर ओट वदन को अच्चल की
तून जो दृष्टि अंचजल की
जिसने यह रूप निहार लिया
मानों अपना मन हार दिया।।[2]

* * * * * *

भारतीय औरतों के त्याग-

न चाहता पर सम्प्रति स्वर्ग मैं
न अमरत्व तथा अपवर्ग (मोक्ष) मैं।
बस विभो! रिपु नाशन के लिए
निज अलौकिक आयुध दीजिए।।[3]

* * * * *

निश्चरियों के मध्य शोभित ये इस भाँति।
चन्द्रकला मानों घिरी सघन घटा की पाँति।[4]

---

1. कविता कलाप, ले0-मैथलीशरण गुप्त (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-16, पृ0-23
2. कविता कलाप, ले0-मैथलीशरण गुप्त (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-26, पृ0-43
3. कविता कलाप, ले0-मैथलीशरण गुप्त (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता संख्या-19, पृ0-39
4. कविता कलाप, ले0-मैथलीशरण गुप्त (सं0 आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी), कविता सख्या-21, पृ0-32

सरस्वती के कुछ समय पश्चात् 'चाँद' नाम पत्रिका की संपादिका कवयित्रि महादेवी वर्मा बनी, द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी क्षेत्र में बहुत परिवर्तन हो गया था। इस समय हिन्दी के जैसे दिग्गज लेखक व कथाकार पैदा हुए वैसे भक्ति काल में ही हो पाये थे।

साहित्य के इतिहास में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष महत्व है। साहित्य की नयी प्रवृत्तियाँ उसमें होने वाले प्रयोग और नूतन दृष्टिकोण सर्वप्रथम पत्रिकाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाते हैं। समीक्ष्य काल में विविध प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रहीं जिनसे पाठकों की अभिरुचि को समझने में सहायता मिली।

चाँद (प्रयाग) का प्रकाशन आरम्भ में 1920 ई0 में साप्ताहिक पत्र के रूप में हुआ था, किन्तु 1923 ई0 से रामरख और चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' के सम्पादन में इसका प्रकाशन मासिक पत्रिका के रूप में होने लगा इसमें नारी विषयक समस्याओं तथा लेखिकाओं को प्राथमिकता मिलती थी।[1] जीवन के रोज-मर्रा की जिन्दगी की हर बात उजागर किया जाता परन्तु सत्यरूपी सौन्दर्य को प्राप्त करने में भी इस पत्रिका का अमूल योगदान रहा। सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेती हैं, वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल वाह्य रूप-रेखा पर नहीं। प्रकृति का अन्तः वैभव, प्राणिजगत की अनेकात्मक गतिशीलता अन्तर्जगत की रहस्यमयी विविधता सब कुछ इसके सौन्दर्य-कोश के अन्तर्गत है और इसमें क्षुद्रतम वस्तुओं के लिए ऐसी भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते जिनमें वह पर्वतों के

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-603

समकक्ष खड़ी होकर सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ उपस्थित होते हैं जिसमें वह छोटे तृण के साथ बैठ कर ही कृतार्थ बन सकती है।[1] कला अपने समयानुकूल माहौल तलाश करती है। 'कला अपना विश्व आप बनाती है। उसमें उसकी स्वायत्तता है। उसके बाहर के विश्व से केवल उसका प्रतीकात्मक संवाद होता है। इस इष्टों के माप-दण्डों से हम कला के महत्व को नहीं पहचान सकते।[2] अतएव 'चाँद' इसमें पूरी तरह से सफल है।

'चाँद' के हर अंक में कुछ विशिष्ट चित्रकारों के चित्र मुद्रित किये जाते व उसके परिचय अथवा कविताओं को उस पर उद्धृत किया जाता। चूँकि ये कविताएँ इन्हें देखकर लिखी जाती थी अतः इन कविताओं में सफलता के बिम्ब प्राप्त होते थे कि नहीं वह बड़ा क्लिष्ट है, क्योंकि चित्रकार सरला वर्मा के चित्र को देखकर कवि कुमार कहते हैं-

यह टूटी सी कब्र और
टूटी सी अभिलाषा मेरी
तुम्हें शान्ति क्या दिला सकेगी
टूटी सी भाषा मेरी? [3]

जीवन चूँकि क्षण भंगुर है, इसके विनाश का कोई निश्चित समय नहीं है, ये कभी भी परित्यक्त करके चला जा सकता है, इसलिए ही भारतीय दर्शन जीवन के भौतिक पक्ष का हिमायती नहीं रहा है वो तो ईश्वर को प्राप्त करने की कामना करता है, चित्रकार वी0आर0 वर्मा के चित्रों पर यह पूरी तरह से यह दर्शन हावी है-

---

1. दीपशिखा, महादेवी वर्मा : संपादकीय
2. भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्व, ठा0 जयदेव सिंह, संपादकीय-डॉ0 जगदीश गुप्त
3. चाँद, पत्रिका, फरवरी, 1937

दो दिन की है यही जिन्दगी
यहाँ किसे किसका आधार
मेरा धन ही यह डलिया है
चकरी है मेरा परिवार।[1]

कृष्ण और राधा सदा से चित्रकारों और कवियों के प्रिय रहे हैं, उनके बिना साहित्य अधूरा है, या यों कहें कि 'कृष्ण-राधा' भारतीय साहित्य के रीढ़ हैं तो अतिशयोक्ति न होगी। 'कुमार' इन्हें ही इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

नभ में सन्ध्या मिली और यह किरण मिली जीवन-जल से।
मैं भी तुम से मिल कृष्ण! निर्बल दृग-जल से या बल से।[2]

अगर कृष्ण के बिना राधा अधूरी हैं तो मुरली बिना कृष्ण। अगर कृष्ण की पूरी कल्पना कर ली जाय और भूलवश बंशी न हो तो वो कृष्ण हो ही नहीं सकते ऐसा भ्रम अनायास ही हो जाएगा-

मोहन मुरारी मेरे दंश की दिशा में मज्जु,
मुरली तुम्हारी प्यारी नित्य बजती रहे।[3]

नायिका का नयन सदा से आकर्षण का केन्द्र रहा है राजस्थानी चित्रों में तो आँखों से पूरे चित्र का भाव प्रदर्शित हो जाता है-

नयन नीलोत्पल चरण
किसलिए नये पटल अरुण कर!
मृदुलता साकार आई क्या
विजय-रथ शंख में भरे।[4]

---

1. चाँद, पत्रिका, 1937
2. चाँद, पत्रिका, 1939
3. चाँद, पत्रिका, 1939
4. चाँद, पत्रिका, 1937

पत्रिकाओं के इतिहास में 'माधुरी' की अहम भूमिका है, यह उस समय आयी जब चारों तरफ पत्रिकाओं की एक नयी बाजार बन रही थी, इससे समाज में जन-चेतना का विकास हो रहा था, सस्ती होती थी तथा उस समय के सभी ज्वलन्त मुद्दे उसमें व्यवस्थित रूप से रहते थे साथ में साहित्यिक लेख, कविताएँ तथा भारतीय सभ्यता व संस्कृति की गाथा भी। माधुरी का प्रकाशन लखनऊ से 1922 ई0 में आरम्भ हुआ। जाहिर तौर पर इसके संपादक भार्गव थे, पर वास्तविक संपादक रूपनारायण पाण्डेय तथा कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा किया जाता था। कुछ दिनों के लिए प्रेमचन्द और शिवपूजन सहाय का आगमन भी इसके संपादकीय विभाग में हुआ...., 'माधुरी' उन थोड़ी सी पत्रिकाओं में से थी जिन्हें छायावाद का समर्थन मिला था।[1] 'माधुरी' में कुछ विशिष्ट चित्रकारों की चित्राकृतियों का प्रकाशन होता था साथ में कुछ पद्य रचे जाते थे, उन्हीं पर अथवा मतीराम, बिहारी आदि की पंक्तियाँ उद्धृत कर दी जाती थीं।

ये चित्र तात्कालीन बेरोजगारी, धर्म, इतिहास, जीवन के विभिन्न पक्षों से लिये जाते थे यहाँ तक की हास्य के भी। एक ऐसा ही चित्र, चित्रकार श्रीयुत् रामेश्वर प्रसाद वर्मा ने सृजित किया जिसमें एक वृद्ध महिला को सम्पूर्ण साजो-शृंगार के साथ घूंघट के आड़ से तिरछे देखते हुए दिखाया गया है, इस पर कवि ने पंक्तियाँ रची हैं वो ये-

सावन सजे सिंगार सब, बुढ़िया सहित हुलास,
बुढ़ऊ मिलिबे को मगन, मूर्तिमन मनु 'हास'।[2]

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-604
2. 'माधुरी' पत्रिका-1925

भारतीय संस्कृति की अगर बात आए और वो भी नवयौवना की तो पूजा अनिवार्य तत्व के रूप में सामने उपस्थित होता है और मन्दिर पर भिच्छुकों का होना स्वाभाविक है, परन्तु यह भिक्षा वृत्ति नहीं वरन, मोक्ष को प्राप्त करने का साधन के रूप में प्रस्तुत होता है, या मानवता का रूप भी-

अली चली पूजन कली, भिच्छुक मागत दान।
कछुक देती, विहंसति वदन, धन्य रूप गुन मान।[1]

संगीत भारतीय संस्कृति के अनिवार्य तत्वों में से एक माना जाता है इसीलिए इसकी उपज की परिकल्पना ब्रह्मा से की गयी है, संगीत रूपी सुधा मनुष्य को तो आत्म सन्तुष्टि प्रदान करती ही है साथ में जीव-जन्तुओं और यहाँ तक की पेड़-पौधों को भी राजस्थानी चित्र शैली या पहाड़ी चित्र शैलियों में इसके अम्बार नजर आती है, राजस्थानी में तो पूरी राग-माला का ही सृजन इसी आधार पर कर दिया गया है। अतएव ये चित्रकारों के प्रिय विषय रहे हैं, चित्रकार एम0ए0 रहमान चगताई ने इसको अपने चित्र में पूरी तरह प्रकट कर के रख दिया है तो साथ में कवि ने शब्दों का जादू भी बिखेरा है-

खरी पातरी भात की निखति बादन-जल
सुतो मनौ संगीत की बिल सातिई सुभम् स्वतन्त्रता।।[2]

<u>महादेवी वर्मा</u> (1907-1987) का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ था। इन्होंने आरम्भिक शिक्षा घर पर ही पायी। इसके बाद इनकी विधिवत शिक्षा प्रयाग में हुई जहाँ इन्होंने सन् 1933 में दर्शन शास्त्र में एम0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की। वे आरम्भ में व्रजभाषा में कविता लिखती थीं बाद में खड़ी बोली में लिखने

---

1. 'माधुरी' पत्रिका-1925
2. 'माधुरी' पत्रिका-1925

लगीं और शीघ्र ही इस क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। वे कुशल चित्रकार भी थीं उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि "जब मैं बचपन में थी तभी से लालटेन की रोशनी में रंगों के साथ खेला करती थी" और वो इस तरह उनके जेहन में समा गयी। उनके कविताओं में चित्रों जैसा संस्मरण का आभास प्राय: मिला करता है। महादेवी जी के चित्रों को यह भी कहा जा सकता है कि चित्र काव्यात्मक प्रतीत होते हैं।

'संसार में सबसे अधिक दण्डनीय व्यक्ति वह है जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला क्योंकि इस चित्र में मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन-चुनकर ऐसे व्योरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने में नरक गढ़ा जाने लगा। इसके उपरान्त, उसे, यथार्थ के अकेले सुखपक्ष को पुंजीभूत कर इस तरह सजाना पड़ा कि मनुष्य उसे खोजने के लिए जीवन को छिन्न-भिन्न करने लगा।

एकान्त यथार्थवादी काव्य में यथार्थ के ऐसे ही एकांगी प्रतिरूप स्वाभाविक हो जाते हैं। एक ओर यथार्थ-द्रष्टा केवल विरूपताएँ चुनकर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर उसके हृदय को चीर-चीर कर स्थूल सुखों की प्रदर्शनी रचता है केवल उत्तेजक और वीप्साजन्नक काव्य और कलाओं के मूल में यह प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनों सीमाओं से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना पड़ेगा। क्योंकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तर गतिशीलता पा सकता है।[1] इस प्रकार महादेवी के सारे विचार इसी में परिलक्षित नजर आते हैं।

---

1. दीपशिखा, लेखिका-महादेवी वर्मा, पृ0-8

कुछ लोगों का मानना है कि उनके गीत चित्रात्मक हैं, पर उनका मानना है कि "मेरे आत्म-निवेदन है, उनके विषय में कह सकना मेरे लिए संभव नहीं। इन्हें मैं अपने उपहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानती।"

अपने चित्रों के बारे में कहते हुए मुझे जिस संकोच का अनुभव हो रहा है वह भी केवल शिष्टाचार जनित न होकर अपनी अपात्रता का यथार्थ जनित ज्ञान है। मैं सत्य अर्थ में कोई चित्रकार नहीं हूँ, हो सकने की संभावना भी कम है परन्तु शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है।[1]

महादेवी जी चित्रकार को सफल कवि मानती हैं, इसलिए उनके काव्यों में वो भाव है, देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यों को रचने के उपरान्त नहीं अपितु चित्रों को तूलिका का सहारा देकर उसी तूलिका से काव्यों को सहारा दी हैं।

'दीपशिखा' उनका प्रिय बिम्ब है, उनके विश्लेषण से भी यही सत्य व्यंजित होता है। यद्यपि दीपक की एक आध्यात्मिक उपयोगिता भी है- वह आराधना का अनिवार्य उपकरण है, किन्तु वही दीपक संसार के लिए प्रकाश फैलाता है जिसमें पथिक अपना मार्ग खोज पाता है।[2] महादेवी जी का दीपक कोई और नहीं बल्कि दीपक की लम्बी निकलती लौ जीवन के समान लम्बी है नायिका का छरहरा लम्बा रूप इस सृष्टि में लम्बे समय तक अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की है। महादेवी जी के 38वाँ चित्र में हाथों तथा पैरों को अंकित

---

1. यामा, लेखिका-महादेवी वर्मा, पृ0-7
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-554

करने में पर्याप्त कुशलता प्रतीत होती है। अभिशापों तथा वरदानों के प्रतीक काँटों और फूलों में बँधे हुए हाथों को प्रस्तुत करता हुआ 'दीप-शिखा' का अन्तिम चित्र -

अली में कण-कण को जान चली!
सब का क्रन्दन पहचान चली! [1]

की रेखाएं इतनी सशक्त हैं कि पूरे गीत को एक गति प्रदान करती हैं। सारी 'दीप-शिखा' में ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब केवल चरणों के या केवल हाथों के चित्रण मनो भावों को व्यंजित करने की चेष्टा की गयी है जो अधिकांश-बहुत सफल हैं।

एक स्थान पर 'सुधि लो झंझा में निश्चरन' का चित्रण है, इसमें लौ को घेरे हुए वृत्तों का आवरण समीप बैठी हुई नारी के सिर के ऊपर की गयी है। सम्भवतः इसमें इसका संकेत करने के लिए कि वह लौ की तरह दग्ध है। इस तरह का चित्रण काव्य के विशेष प्रभाव के कारण सदैव आ जाते हैं; क्योंकि सामूहिक रूप से चित्र और गीत दोनों मिलकर एक विशेष प्रकार का वातावरण उपस्थित कर रहे हैं, जिसमें कुछ आश्चर्य, कुछ रहस्य, कुछ अस्पष्टता और बहुत सी कोमलता एक स्थान पर मिल जाती है।[2]

पंथ माँगना इन्हें नहीं पाथेय न लेना,
उन्नत मूक असीम मुखर सीमित तल देना,
बादल सा उठ इन्हें उतारना है जकरण सा
नभ विद्युत के वाण, सजा शूलों को रजले! [3]

---

1. दीपशिखा, लेखिका-महादेवी वर्मा, कविता संख्या-51
2. कला के पद् चिन्ह, ले0-डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0-50
3. दीपशिखा, लेखिका-महादेवी वर्मा, कविता संख्या-5

चित्र में 'भाव लावण्य योजनम्' की विशेषता अधिक है, इन चित्रों में वाह्य व आन्तरिक जगत से तादात्म्य स्थापित करता मानों इस दुनिया से अलग थके पाँव लेकिन उमंगें भरे, सभी वेदनाओं को तोड़ते, विद्युत गति से, आत्म-परिचय प्राप्त कर रही है।

दूसरे सब दीपकों को जला देने की भावना की अतिरंजना अवश्य है, परन्तु यह स्वाभाविक नहीं हो सकी। इसका कारण यह है कि दीप स्वत:-दु:ख-दग्ध प्राणों का रूपक है। यदि कोई स्त्री एक साथ अनेक दीपकों को जलती दिखा दी जाती तो अनर्थ हो जाता। परन्तु यहाँ शरीर के शिरा-शिरा से ज्वालाओं का फूटकर निकलना उसी भावना का अन्य रूपक है, जिससे कि 'सब बुझे दीपक जलाऊ' की आकांक्षा फूट चली। एक कविता के उपयुक्त रहा और एक चित्र के यहाँ यथार्थ रूप में चित्र कविता की मानसिक पृष्ठभूमि उपस्थित करता है।

सामान्यत: उनके हाथों में विवशता, पैरों में गति और आँखों में करुणा का भाव विशेष रूप से तरल होकर आया है, बादल और बिजुली जैसे उनके कविता को आलोकित और आच्छादित करते रहे हैं वैसे ही उनके चित्रों को भी, नारीत्व की सबसे प्रधानता जो स्वाभाविक ही है।[1]

महाप्राण सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला' (1897-1962) का जीवन अनेक अभावों एवं विपत्तियों से पीड़ित रहा, किन्तु इन्होंने किसी विपत्ति के सामने झुकना नहीं सीखा। अभावों की तीव्र एवं मर्मान्तक व्यथा को झेलते हुए भी साधना में तल्लीन रहे। मगर कब तक कोई इस तरह जी सकता है? निराला

---

1. कला के पद् चिन्ह, ले0-डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0-51-52

का मन और बुद्धि तो संघर्षों की उपेक्षा करते हुए अविचलित रहे, किन्तु उनकी चेतना के भीतर जैसे कुछ टूट रहा था, घुल रहा था। उनके जीवन के अन्तिम वर्ष जहाँ उनकी चेतना के अथक-अविचल संघर्ष की कहानी कहते हैं वहाँ उनके जीवन की विपत्तियों और व्यथाओं की दुर्निवार शकित को व्यंजित करते हैं।[1] निराला का जीवन एक अत्यन्त व्यापक विशाल जीवन है, उन्होंने जीवन के सूक्ष्मतम गहराइयों को समझा इसका प्रधान कारण था उनके जीवन की मौलिकता, उन्होंने उस समय चल रही सभी धाराओं को तोड़ा इसलिए उनके काव्य में विविधता के दर्शन होते हैं।

निराला अपने कोलकाता प्रवास के दौरान चित्रों पर भी कविताओं का सृजन किये। उन्होंने पं0 मोती लाल शर्मा के तीस चित्रों पर तीस कविताएँ लिखीं। दुर्भाग्य से ये कविताएँ अभी असंकलित, खोज-खबर से बहिष्कृत और 'मनहर-चित्रावली' के गोदाम में कैद पड़ी हैं। चित्रों की व्याख्या में लिखी निराला की ये कविताएँ मुक्ति की राह तलाश रही हैं। 'चित्र और कविता' की संवेदनात्मक समानता का जो परिचय इन कविताओं द्वारा दिया गया है वह हिन्दी के रचनात्मक इतिहास में अप्राप्य है।

... इनमें रंगों , और रेखाओं के विन्यास को शब्द-संयोजन द्वारा अभिव्यक्त करने की कितनी गति और त्वरा है अगर मोती लाल शर्मा के चित्रों और उन चित्रों को आधार बनाकर लिखी निराला की कविताओं का तुलनात्मक पाठ किया जाय तो शर्मा जी के चित्रों में रंगों के नियोजित घनत्व की संवेदनाएँ मुर्छित थी, परन्तु निराला ने सृजनात्मक शब्द-विन्यास द्वारा उनमें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-547

भावों की संगति निवेशित की। मोती लाल शर्मा के बनाए चित्र 'नारी' को निराला ने शीर्षक दिया- 'विनय' (Humanity) और फिर कविता लिखी-

> पुष्पों के अंगों में,
> प्रभु, अगणित रंगों में,
> व्यथा-वाहिनी-विपुल भाव की,
> शत-शत तरल तरंगों में
> अपनी मृदुल तूलिका के चित्रण में तुम बहते हो,
> अपनी भाषा में अपने भावों में क्या कहते हो?

देखा जा सकता है कि निराला ने 'विनय' शब्द को परम्परागत परिभाषा से अलग एक नया पाठ दिया। परम्परा में विनय शब्द का पाठ धर्म और नीति प्रधान यानी 'विद्या ददाति, विनयम्' अथवा 'विनय न मानत जलधि जड़ गए तीन दिन बीत; जैसा पाठ परन्तु निराला ने 'विनय' को भावधर्मी चित्रात्मक पाठ दिया यह था अगणित रंगों में प्रवाहमान प्रभुता सौन्दर्य का पाठ तथा अपनी भाषा में अपने भावों में क्या कहते हो? की जिज्ञासा के नैरन्तर्य का पाठ।

निराला ने पं0 मोतीलाल शर्मा के चित्रों में शब्दों के कृतित्व की नयी प्रयोगशाला बनाई थी चित्रों के आधार पाकर निराला के शब्दों की आकृति महत्तर हो गयी थी। .... कहना न होगा कि निराला ने चित्रों पर कविता लिखने के नए युग का प्रवर्तन किया। यह चित्र और कविता का प्रतिस्पर्धा युग बना।.... निराला की कविता ने सौन्दर्यानुभूति की जो प्रतिच्छवियाँ निर्मित की उनसे चित्रों के रंगाख्यान में एक नई दास्तान जुड़ गयी थी। मिसाल के तौर पर 'युवती' शीर्षक चित्र पर निराला ने कविता लिखी-

असल-उप्पल-दल-पलकों में,
अनिल-कम्पित-मृदु बातों से,
झूम अधरों में. अलकों में.
प्रणय के प्रिय आघातों से,
नग्न नयनों में अपनापन,
खौलता क्यों नवीन यौवन?

स्त्री के 'नवीन यौवन' को खुलते हुए देखकर निराला के मन में अपनेपन की आकुलता का जो भाव-गुच्छ बना था उसे उन्होंने शब्दातीत होने के कारण प्रश्न बनाकर छोड़ दिया। फलत: कविता की सघनता चित्र की विरलता का आच्छादन बन गई। यह थी चित्र को कविता में परिणति करने की कला जो निराला के अतिरिक्त शायद ही किसी के पास थी।

पं0 मोतीलाल शर्मा के 'मनहर चित्रावली' में कुल तीस चित्र थे, निराला ने प्रत्येक चित्र पर एक-एक कविता लिखी। एक तरफ से 'मतवाला' के लिए 'जागृति में सुप्ति' की (12 सितम्बर 1925) और 'शेफालिका (26 सितम्बर 1925) लिख रहे थे तो दूसरी तरफ चित्र और कविता के बीच संवाद की नवीन संस्कृति रच रहे थे। चित्र-विद्यात्मक कविताओं में लयात्मक सवाद की जो शैली निराला ने बनाई, वह हिन्दी कविता के लिए नया शिल्प-प्रवर्तन था। हालांकि मैथलीशरण गुप्त के चित्रों की भाव-भंगिनी का कवितात्मक निलयन करना सत्रह वर्ष पूर्व (सरस्वती दिसम्बर 1908 पृ0-1) शुरू कर दिया था, लेकिन वे इन दोनों विद्याओं में एकात्मक प्रभाव-वृत्त नहीं खींच सके थे। यह काम निराला ने प्रारम्भ किया। उन्होंने चित्रों को शब्दों के साँचों में गलाया। चित्रों में रंग आरक्षण को जरा भी धूमिल नहीं होने दिया। यदि जरूरी समझा

तो थोडा और चटक किया तथा सौन्दर्य की उत्कंठापूर्ण तलाश की ललक पैदा की। मोतीलाल शर्मा के नारी चित्रों में अनुभूति का धीमापन था, परन्तु निराला की कविताओं में क्षिप्रता आ गई। मसलन निराला ने स्त्री के एक चित्र को 'आनन्दिनी' शीर्षक दिया और कविता लिखी-

अगणित लहरों पर यौवन की
तिरती हो।
क्यों उतावली हो समीर-सी
फिरती हो?
चंचल अलकों में पाया है!
किसने अमर विराम?
अपलक आँखों पर छाया है
किसका मौन महान?

निराला की छोटी रचना में भी अन्तः प्रवेशी काव्य प्रेमियों को दार्शनिक सौन्दर्य का एक अनूठा आस्वाद मिल सकता है। साथ ही अलस-चंचल तथा मौन-मुखर का तरंग-प्रतिरंग। निराला ने चित्र और कविता को समानान्तरता प्रदान करते हुए कला की दो भिन्न विधाओं में आत्मसंगति स्थापित की।

निराला ने चित्रों की अमूर्त भाषा को ललित भावानुप्रवेशी कविताओं में ढालने की जिस कला का परिचय दिया था, वह रवीन्द्रनाथ टैगोर को छोड़कर भारतीय साहित्य में अनुपस्थित थी। उनकी इस चित्र-कविताओं की समीक्षा करते हुए 'घी का लड्डू टेढ़ा भला' (नवजादिक लाल श्रीवास्तव) ने लिखा था चित्र की बाँई ओर चित्र-परिचय के रूप में हमें निराला की कविताएँ सुन्दर, भावपूर्ण और तुली हुई जान पड़ी। 'मोहन' पर लिखी उनकी एक कविता देखिए-

सोभित मयूर-पंख मुकुट किरनि सीस,
जगति मनोज शत कोटि द्युति अंग-अंग
नायिका नवेली त्रिगुनों की मुकतान-लरी,
गारति गुमान कच-प्रीतम-कुठिल संग।।

(मतवाला 10अ01925 पृ0-13)

शिवपूजन सहाय ने आलंकारिक भाषा में, 'दही में चीनी है निराला जी की कविता। ..... निराला जी की सभी रचनाओं में अद्‌भुत सौकुमार्य और माधुर्य है।' (मतवाला 5 दिसम्बर 1925 पृ0-5) शिवपूजन सहाय को 'लक्ष्मण,' 'मोहन', 'विनय', 'गोपाल' तथा 'कमल लोचन' शीर्षक कविताओं में विशेष तृप्ति मिली थी, क्योंकि इन कविताओं का रस परिपाक खूब हुआ। (मतवाला 5 दिसम्बर 1925, पृ0-5)[1]

शमशेर बहादुर सिंह का जन्म सन् 1911 ई0 को देहरादून में हुआ .... उनकी अधिकांश कविताओं का स्वर कुण्ठित प्रेम है। संवेदना और अभिव्यक्ति दोनों में ये प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं। इनकी अतिशय व्यक्तिवादिता केवल अपने प्रतिबद्ध होने के कारण पाठकों की समझ की उपेक्षा कर दी जाती है और ऐसे-ऐसे महीन जाल बुनती है तथा खण्डित बिम्बों की योजना करती है कि पूरी कविता अपने अभिप्रेत प्रभाव के साथ उभर नहीं पाती। शमशेर बहुत सूक्ष्म सौन्दर्य बोध के कवि माने जाते हैं किन्तु कठिनाई यह है कि सौन्दर्य यहाँ-वहाँ की पंक्तियों में अलग-अलग ढंग से उभरकर रह जाता है। मुक्त आसंग, चेतना-प्रवाह, अमूर्त चित्रात्मकता, शब्द-संगीत आदि

---

1. हिन्दुस्तान-दैनिक अखबार : 2 फरवरी, 2000 (रचना)

शमशेर के शिल्प को एक नया रूप अवश्य देते हैं, किन्तु वे अनुभव-लोक को मूर्त करने के स्थान पर उलझा देते हैं।[1]

शमशेर चित्रकला से प्रभावित थे और खास तौर पर अमूर्त चित्रण की अभिव्यंजना से, जो व्यक्ति को समझने में कठिनाई तो महसूस होती है परंतु समझ आ जाने के बाद अतल गहराइयों में प्रकाश पुंज बिखेर देती है। वे खुद कहते हैं कि 'कला कैलेण्डर' की चीज नहीं है। वह कलाकार की बहुत अपनी निजी चीज है। जितनी ही अधिक वह उसकी अपनी निजी है, उतनी ही कालान्तर में औरों की भी हो सकती है-अगर यह सच्ची है, कला पक्ष और भाव पक्ष दोनों ओर से। वह 'अपने-आप-प्रकाशित' होगी। और कवि के लिए सदैव कहीं-न-कहीं प्रकाशित है। अगर वही सच्ची कला है, पुष्ट कला है।[2]

इनका व्यक्तितत्व बड़ा अजीब रहा है, कभी इन्होंने लीक पर चलने की राह का अनुसरण नहीं किया। इसीलिए उस समय जबकि लोग कुछ प्रतिष्ठित विषयों पर अपने को रमा रहे थे, शमशेर बहादुर ने 'वानगो', 'गोग्वँ' और 'पिकासो' की कृतियों को देखा और आत्मसात् करके कविताओं का सृजन करने लगे। जबकि उस समय तक 'सुरियालिष्टवाद' भारत में नहीं आ पाया था। जिसमें व्यक्ति के व्यक्तितत्व के एकांतिक पहर की प्रमुखता थी। शमशेर बहादुर खुद ही इन चित्रों से इतने प्रभावित थे कि इन्होंने अपनी कुछ और कविताओं के संकलन में इन्हें संकलित करने का आधार इस प्रकार दिया है ..'तीन और कविताएँ भी जरूर ऐसी हैं जो मुझे जी से पसन्द हैं और जो 'सुरियालिस्ट'

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-637
2. कुछ कवितायें और कुछ और कवितायें, ले0-शमशेर बहादुर सिंह, भूमिका

पेन्टिंग है..... मगर ये लहरें घेर लेती हैं'[1] ये गोग्वँ के पेन्टिंग के सहारे पूरी तरह अपने को व्यक्त करने को तत्पर पूरे ब्रह्माण्ड को घेरे ये लहरे टूटती भी हैं और उन्हें घेरने का प्रयत्न भी करती हैं, कुछ इस प्रकार-

ये लहरे घेर लेती हैं
ये लहरें.....
उभर कर अर्द्ध द्वितीया,
टूट जाती हैं ....
अन्तरिक्ष में
ठहरा एक,
दीर्घ रहेगा समतल --मौन।[2]

अतियथार्थवादिता में उनको ये जीवन व्यर्थ सा लगता है क्योंकि जिन्दगी में चारो तरफ कष्ट के अम्बार पड़े हैं, पेन्टिंग में इस भाव का यथार्थ दर्शन होता है, उसे चाँद का निकलना व्यर्थ प्रतीत होता है, जीवन में सूनापन के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता। विश्व युद्ध के दौरान पिकासों की बनी पेंटिंग पर शमशेर ने दृष्टि डाली है।

जिन्दगी की चार तरफें,
    मिट गयी हैं।
बंद कर दो साज के पर्दे
    चाँद क्यों निकला, उभर कर ...?
घरों में चूल्हे,
    पड़े हैं ठंडे।[3]

---

1. कुछ कवितायें और कुछ और कवितायें, ले0-शमशेर बहादुर सिंह, पृ0-78
2. कुछ और कवितायें, ले0-शमशेर बहादुर सिंह पृ0-151
3. कुछ और कवितायें, ले0-शमशेर बहादुर सिंह

स्वस्थ-व्यस्क सारे सौन्दर्य में ऐसी सूक्ष्म-एन्द्रिक दृष्टि जो सिर्फ उन्हीं की है, शिल्प के प्रतिवद्ध और नाजुक प्रयोग, जिनमें प्रगल्भता और प्रदर्शन का नितान्त अभाव है. 'उर्दू' और 'हिन्दी' का कारगर मेल, छन्दो, गजलों और नजमों की वेपरहेजगी कई सांस्कृतिक परम्पराओं का अपनी रक्त-यज्जा में एहसास 'परम्परा' और 'आधुनिकता' का सहज मेल इस सबके साथ और सबके ऊपर सर्वहारा-भारतीय सर्वहारा के साथ तादात्म्य। ....सौन्दर्यानुभूति, संगीत, चित्रकला, विश्व समाज तथा राजनीति और प्रतिबद्धता के सर्वश्रेष्ठ पहलुओ को अपनी अद्वितीय प्रतिभा में ढालकर जो अपना केवल ...शमशेर ...काव्यशास्त्र ...।[1]

'एक मौन' शीर्षक कविता में चित्रकला के प्रतीकों को अपने बिम्वों में प्रतिष्ठित करते हुए शमशेर ने ऐसा अपने शब्दों की तूलिका का सहारा लिया है कि दोनों में ही सभ्यता पूरी तरह से नजर आती है--

पपड़ीले पत्थर की पीठ पर,
साँप केंचुली उतारता रहा:
लहर जहाँ काँस में, सिवर में
पेट उचकाती सी,
अंडों के छिलके उतारती-सी,
हिलती ही रही लगातार-
नशे का खुमार लिए हुए वहाँ हमा में,
चिनक-चिनकर मीठा दर्द-सा
होता ही रहा और,
एक मौन, सन्ध्या के सपनों में
सोता ही रहा वहाँ
कवि-सा ।[2]

---

1. कुछ कवितायें और कुछ और कवितायें, ले0-शमशेर बहादुर सिंह, भूमिका 'विष्णु खरे'
2. कुछ और कवितायें, ले0-शमशेर बहादुर सिंह , पृ० - 153

कला की भाषा मेरी दृष्टि में सबसे अधिक मानवीय और सार्वभौम भाषा है, क्योंकि इसका सम्बन्ध सीधे मनों भावों से है और जिसको समझने की प्रकृति की ओर से ही सब मनुष्यों को प्राप्त हैं यह दूसरी बात है कि किसी में अस्फुट और किसी स्फुट। अस्फुट क्षमता को सजग संस्कार के द्वारा ही स्फुट बनाया जा सकता है, अतएव कला दोहरा कार्य करती है, एक ओर तो मनोभाव को स्पर्श करती है और दूसरी ओर वह सोए हुए संस्कारों को जगाकर, जल पर से काई की तरह चेतन मन की जड़ता को हटाती हुई, अस्फुट प्रतिभा क्षमता को स्फुट बनाती चलती है। बौद्धिक उत्कर्ष को प्रतिबिम्बित करने वाले श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विचार कला का आधार पाकर ही मनोग्राह्य हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।[1]

अपनी कविताओं, समालोचनाओं, लेखों तथा व्याख्यानों में संवेदना व विचार का सर्वथा पृथक और आधुनिक वातावरण निर्मित करने वाले वरिष्ठ हिन्दी कवि अशोक बाजपेयी हैं। समकालीन अपने साहित्य पर इनका विचार है। शुरू में तो सब कुछ अपने आप हो गया। बहुत जान-बूझकर यह सब किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। लेकिन बाद में जाना मैं मुखर किस्म की सामाजिकता का सख्त विरोधी हो गया। इस तरह की सामाजिकता पर मुझे सन्देह पहले भी था जो कि बाद में जाकर और भी प्रबल हो गया। अब तो हालत यह है कि मैं इसका बहुत ही आक्रामक विरोधी हो चुका हूँ। मैं जिन तथाकथित प्रगतिशील कवियों को पसन्द करता था, उनमें सामाजिकता के अलावा बहुत ही दृढ़ व्यक्तितत्व का भाव भी था।

---

1. कला के पद् चिन्ह, ले0-डॉ0 जगदीश गुप्त, मनोभूमिका (ख)

जैसे मुक्तिबोध और शमशेर। ...मुझे लगा कि निजता, अंतरंगता, परिवार, प्रेम, पड़ोस इत्यादि ऐसे भी धर्मस्थल है जिनमें शायद अधिक उत्तर जीविता है या अधिक संभावनाएँ हैं, खासकर मेरे जैसे कवि के लिए।[1]

अशोक बाजपेयी ऐसे कवि हैं जो साहित्य, कला, संगीत पर समान अधिकार रखते हैं, इन्हें किसी एक विधा में बाँधकर नहीं रखा जा सकता, इन्होंने चित्र देखकर कविता लिखी तो उस्ताद अकबर अली खाँ का सरोद वादन को सुनकर भी रह नहीं सके। इसी तरह ये शमशेर बहादुर से इतने प्रभावित थे कि उनके पहले काव्य संग्रह को देखकर इनके अधरों से शब्द फूट पड़े। आज भी वे इसमें तल्लीन हैं।

अशोक बाजपेयी ने 'कल्पना' (मासिक पत्रिका) में प्रकाशित मकबूल फिदा हुसैन के चित्र को देखकर कविता लिखी। फिदा हुसैन के चित्रों के विषय पूर्णतः भारतीय हैं, जबकि ये प्रभावित हैं पेरिस के कला आन्दोलन से, खास तौर पर पिकासो के 'घनवाद' से। इस पर कविता लिखकर अशोक बाजपेयी ने चित्र पर कविता लिखने की परम्परा में श्रीवृद्धि की खास तौर पर भारतीय चित्रकार के समकालीन अभिव्यंजना को आत्म-सात करके प्रगतिवाद में इन्होंने काव्य रूप दिया।

फिदा हुसैन के चित्र में जो गहरी प्रताड़ना थी, अपने में, अपने से, अपने ही इर्द-गिर्द कैसे रूप बदल कर रहती है, जैसे पानी का अपने ही करीब धुन्ध का रूप बदलकर पड़े रहना। इन्होंने पेंटिंग का सार शब्दों में इस प्रकार किया है-

---

1. आजकल, पत्रिका, सितम्बर, 2001

तात्माव पर सोये धुन्ध में,

खिल-खिलाकर एक भूरी हँसी

हँसता है कोई

पेड़ों की अँधेरी कतारों के शिखरों पर

हँसता है कोई

घिरता जाता है आकाश-काला,

- घर मेरा उभरता है, डूबता है।....[1]

इस प्रकार सम-सामयिक विषयों में समकालीन पत्रिकाएँ चित्र और काव्य का संगम बनाने में अग्रसर हैं।

---

1. शहर अब भी सम्भावना है, ले0-अशोक बाजपेयी, कविता संख्या-49

साहित्य (काव्य) से प्रेरित चित्रसृजन -

मनुष्य ने जब-जब अपनी आँखों को प्रकृति की गोद में खोला, तो वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो तड़प पड़ा, इस तड़पन को उसने आड़ी-तिरछी रेखाओं के द्वारा अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। व्यक्ति विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए जब भाषा का विकास कर लिया तो उसे रात और दिन के समागम के समान ही काव्य और चित्र प्राप्त हो गया और इन दोनों का सम्बन्ध 'चोली-दामन' का हो गया। इन दोनों के पारस्परिक सहयोग से भारतीय धर्म व मानस का सुदूर देशों तक प्रचार व प्रसार हुआ। अजंता के भित्ति-चित्रण काव्य चित्रण का परोक्ष उदाहरण हैं।

भारतीय राज्यों के क्षीण होने तथा इस्लाम के आक्रमण से भारतीय चित्रकला का वो रूप नहीं रह सका जो शास्त्रीय काल में था। परन्तु हम देखते हैं कि तब एक धारा बलवती हुई वो ये कि बौद्ध ग्रन्थों के अनेक दृष्टान्तों पर चित्रण होना प्रारम्भ हो गया। 9वीं शती में पूर्वी भारत में पाल शैली का उदय हुआ, इस शैली में 'प्रज्ञापरमिता', 'साधन-माला', 'पंचशिखा' तथा 'करनदेव गुहा' महायान बौद्ध पोथियाँ हैं।

काव्य के आधार पर चित्रांकन या काव्य के साथ ही चित्रों के अंकन की परम्परा अपभ्रंश चित्रों में बराबर बनी रही। राय कृष्ण दास ने इस समय को 'अपभ्रंश शैली' के नाम से कहना अधिक उपयुक्त समझा।

अपभ्रंश शैली का जौनपुर प्रधान केन्द्र था। लाहौर, बंगाल और उड़ीसा में भी इस शैली के चित्र उपलब्ध होते हैं।

इस शैली में ताड़पत्रों पर चित्रों को जो सब प्राय: श्वाचश्म तथा एक ही ढंग के हैं, लाल, नीला तथा पीला रंग प्रमुख रूप से लगाए गए हैं, सुवर्णों के प्रयोग से इसकी चमक दमक और बढ़ गयी है।[1]

ताड़पत्रीय ग्रन्थ चित्रों में - श्वेताम्बरी जैनों की पुस्तकें - 'निशीथचूर्णी', 'अंगसूत्र', दशवैकालिक-लघुविधि', 'ओधनियुक्ति', 'त्रिष्ठीशलाकापुरुषचरित', 'नेमिनाथचरित', 'कथासरित्यसागर', 'संग्रहणीय-सूत्र', 'उत्तराध्ययन-सूत्र', 'कल्प-सूत्र' और 'श्रावकप्रतीक्रमणचूर्णी' उल्लेखनीय हैं। इनका लिपिकाल 1100-1500 ई0 के अन्तर्गत है और ये सभी पोथियाँ पाटन, खम्भात, बड़ौदा और जैसलमेर आदि ग्रन्थकारों तथा बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[2]

15वीं शताब्दी चूंकि भारत में सांस्कृतिक रूप से कायापलट का समय है, इस समय भक्ति आन्दोलन अपने शिखर पर था। चूंकि राजनीतिक दासता अर्थात् मुगल शासकों की साम्राज्य-स्थापना के बाद हिन्दू जनता एक प्रकार की लाचारी, परवशता और निराशा में लीन होकर ईश्वर की शरण में जाने के सिवा त्राण का कोई उपाय ढूंढ़ नहीं पाती थी। फलत: राम और कृष्ण की सगुण भक्ति द्वारा वह ऐसे अवतारी भगवान को अपने पास रखना चाहती थी जो निस्सम्बल, त्रस्त, पीड़ित और विवष्ण हिन्दू जनता की रक्षा कर सके। इन सगुणोपासक् भक्त कवियों ने नाथ-पन्थ या अन्य निर्गुणपन्थी कवियों का अनुसरण न करते हुए अवतारी विष्णु भगवान को अपना आराध्य बनाया और उसके रूप, शील, गुण सौन्दर्य आदि के मनोहारी चित्र अपनी कविता में अंकित किया।[3]

---

1. कला और कलम, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-118
2. भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैलोरा, पृ0-136
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले0-डॉ0 नागेन्द्र, पृ0-174

उधर हम पाते हैं कि पूर्वी प्रान्त बंगाल में चैतन्य ने कृष्ण के रूप में 'बावलीया' गा कर कृष्ण के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया, तथा बिहार में मैथली के कवि विद्यापति ने भी राधा-कृष्ण के प्रेम का सुन्दर वर्णन किया। चंदीदास के कीर्तन में राधा-कृष्ण के प्रेम की झाकियाँ मिलती हैं। इनकी कविताओं में एन्द्रिय भावना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर आध्यात्मिक आनन्द में परिवर्तित हो गयी हैं।

चैतन्य के वैष्णव मत में ईश्वर को प्रेमी के रूप में आत्मा को प्रेमिका के रूप में स्वीकारा गया है।.... इस भाव में कृष्ण को ईश्वर तथा राधा को आत्मा के रूप में चित्रित किया गया है।

सगुण भक्ति धारा ने चित्रकला को बलवती किया, जितने भी भक्ति काल के प्रमुख ग्रन्थ थे, सभी चित्रकारों के प्रिय विषय हो गया है। पन्द्रहवीं शताब्दी में कला राज्याश्रीत थी, इसलिये यह राजाओं तथा दरबारियों के भी प्रिय रहे तथा इससे कलाकार भी अपने को भक्ति में सराबोर-रूप में प्राप्त करता था। इस समय 'रामायण' और 'रामचरित् मानस' का चित्रण बहुतायत में हुआ, सुरवाया के प्रस्तर-चित्र में रामकथा, पंचवटी से लेकर भरत मिलन तक उल्लेखित है।[1] राम कथा की तरह राम की अभिव्यक्ति, संगीत, चित्र से इतर शिल्प-साध्य मूर्ति में प्रस्तुत हुई है।

राजपूत कलम की कोई भी शैली और स्थल नहीं है, जहाँ तुलसी की रामकथा का चित्रण न हो। राम काव्य औरकथा का चित्रण मालवा की कलम में इस तरह मिलता है। मालवा (1635) राम कथा का प्रसंग है। चित्र में एक

---

1. 1962 चित्र अलबम, पुरातत्व विभाग, जनपथ, नई दिल्ली

ओर वाटिका है, दूसरी ओर खुला हुआ चार स्तम्भों पर आश्रित मंदिर, जिसमें सीता सहेलियों के साथ बैठी हैं। वाटिका में इसके अतिरिक्त राम, लक्ष्मण, गुरु वशिष्ठ के साथ चित्रित किए गये हैं। चित्र का विस्तार बहुत है इसके विस्तृत कोने में झाड़ के पास दो मृगों को प्रस्तुत किया गया है।[1] यह चित्र पूरी तरह से-

समय सप्रेम विनीत अति, सकुच सहित दो भाई।
गुरु पद पंकज नाई सिर, बैठे अयसु पाई। बालकाण्ड, 225

मालवा कलम के 1650 ई0 में बने दो चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय 51-63/1829 में हैं। तथा इसी समय के लगभग 99 अन्य चित्र इसी संग्रहालय नई दिल्ली में 51-65/1 से 99 तक उपलब्ध हैं। इन चित्रों में रामकथा के संदर्भित अंश को लिपिबद्ध नहीं किया गया है। इसमें राम की कथा को चित्रमाला के रूप में चित्रित किया गया है। इन चित्रों के चित्र विधागत तथा काव्य की रसानुकूलता का बोध समर्थ रूप में है। चित्रों में वातावरण के अनुकूल रसनिष्पत्ति में पूर्णतः समर्थ है। 51-63/28 में रावण-सीता में रावण को भी भागता हुआ चित्रित किया गया है। लक्ष्मण रेखा दृश्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी-अभी लक्ष्मण यहाँ से गए हैं और सीता जी इस रेखा से बाहर होकर इस दुष्ट को भिक्षा देने वाली हैं, जिसके उपरान्त यह खल सीता को पकड़ कर ले जायेगा। सभी प्रेक्षक के मन पर आते हैं। पूर्व बोध जागृत होता है। 51-65/47 में हनुमान राक्षसों से लड़ते हुए चित्रित हैं, चित्र में युद्ध का वातावरण प्रस्तुत किया गया है। जिसमें वीर रस की सहज सृष्टि होती है। इसी क्रम में चित्र संख्या-57 में राम का रौद्र रूप समुद्र तट पर समुद्र में सर

---

1. राजपूत पेंटिंग-प्लेट, 18 वाई मान्टगोमरी, न्यूयार्क

साधन करते समय का प्रस्तुत किया है। चित्र संख्या-68 में वानर-राक्षस युद्ध में वीभत्स चित्रकार और कवि दोनों को ही अभिप्रिय रही है। चित्र संख्या-72 में सीता का शुद्धिकरण दिखाया गया है। बीकानेर कलम में 47-110/119 वी0 राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में राम को स्थानीय रूप में पोलो खेलते हुए दिखाया गया है। जयपुर कलम में प्रस्तुत राम और उनके सम्बन्ध में राजसी ढंग के हैं जबकि मारवाड़ के राम, लक्ष्मण और दशरथ (147-110/30 रा0सं0 नई दिल्ली) एक मारवाड़ी परिवार के सदस्य प्रतीत होते हैं।

1650 के लगभग बूंदी के रामकथा पर प्रस्तुत चित्रों में भक्ति का परिवेश चतुर्दिक है। भक्ति के साथ ही आहार्य चित्रण में तात्कालीन सामयिकता है तथा क्रिया में समरूपता मिलती है। जैसे कि राम क्र सपत्नीक अयोध्या में समारोह में साथ आगे बढ़ रहे हैं। (31.65 चित्र माला राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली) इसमें चित्रकार के समक्ष बूंदी नरेश की राजसवारी का बढ़ता हुआ समारोह रहा है। इसमें कुछ चित्र राम और इनके भाई, ताड़का वध, सुबाहु वध, अहिल्या उद्धार, केवट उद्धार, सीता स्वंयवर, राम व सीता आदि के चित्र भक्ति के भावों में प्रेक्षक में सम्प्रेषित करने वाले समर्थ चित्र हैं। कोल शैली में 51.34/50 राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली का चित्र जिसमें वन में राम और सीता चित्रित किए हुए हैं। अपनी विशेष प्रकृति की आवृत्ति के लिए उल्लेखनीय हैं।[1] **(चित्र क्रमांक-12)**

मुगल सम्राट अकबर ने पुस्तक चित्रावली तैयार कराने में उसने विशेष उत्सुकता दिखायी। संस्कृत और फारसी की हस्तलिखित पोथियों के दृष्टान्त

---

1. भारतीय चित्रकला और उसके मूल तत्व, ले0-डॉ0 रघुनन्दन प्रसाद तिवारी

चित्रों को उसने बड़ी रुचि से तैयार कराया, जिसमें 'रामायण'[1] भी प्रमुख रहा है।

पहाड़ी शैली के चित्रकारों का भी 'रामायण' प्रिय विषय रहा है। रामायण पर आधारित विभिन्न चित्र भारत के विभिन्न संग्रहालयों तथा निजी संग्रहों में सुरक्षित हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में चित्र संख्या 49.19/272 जो चम्बा शैली में बना है, 'राम के दूत के रूप में अंगद' तथा 'रामायण का एक दृश्य' 62.2449 आदि प्राप्त होते हैं। बंगाल स्कूल के कलाकारों ने भी इसको अपना प्रिय विषय बनाया, तथा आज भी कला के चाहे जितने भी नये वाद हों उसमें रामायण अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है, जिसके आधार परचित्रों का निर्माण होता है। **(चित्र क्रमांक**-13)

हमने अब तक रामायण को विभिन्न समयों में देखा इसी तरह उस समय वल्लभाचार्य के वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार के कारण कृष्ण भक्ति का ही सर्वोपरि महत्व माना जाने लगा था, तो तत्कालीन कलाकारों ने अपने आदर्श के रूप में 'भागवत् पुराण' **(चित्र क्रमांक-14, 15, 16)** की बहुत-सारी सचित्र प्रतियाँ प्राप्त होती है ('भागवत' की एक मेवाड़ शैली **(चित्र क्रमांक**-17) की सम्पूर्ण सचित्र प्रति उदयपुर केन्द्र के कलाकार साहवादी द्वारा उपलब्ध है, काल खण्डेल वाला द्वारा 'मार्ग', वाल्यूम 4, संख्या-3 में प्रकाशित) यह प्रति जोधपुर महाराज के संग्रह में है और इसी प्रकार की एक प्रति कोटा लाइब्रेरी में उपलब्ध है। 'भागवत' के कुछ सचित्र पृष्ठ नेशनल म्यूजियम और दूसरे संग्रहालयों में देखने को मिलते हैं। कृष्ण के माता-पिता को विष्णु के रूप का दर्शन मेवाड़ शैली

---

1. भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैलोरा, पृ0-182

का राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली चित्र सं0 94.65/13 'कृष्ण द्वारा शंखासुरावध' रा0सं0 नई दिल्ली 49.19/263 मुग्ध-खंडिता नायिका, भानुदत्त, बसोहली, चित्र सं0 60.1676 इसी प्रकार राजस्थानी के हर उप शैलियों में 'भक्ति रत्नावली' 'पृथ्वीराज रासो', 'दुर्गामात्म्य' और पंचतन्त्र पर आधारित बड़े चित्रों या चित्र अलबमो की भी अधिकता रही है **(चित्र क्रमांक**-18), जब कि नायक-नायिका भेद, बारहमासा और रागमाला के चित्र भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय दर्शन कराते हैं।

आचार्य केशव द्वारा प्रमाणित दो मुख्य रीति ग्रन्थों का सबसे अधिक चित्रण हुआ है- वे हैं 'रसिक प्रिया', 'कविप्रिया'।

रसिकप्रिया **(चित्र क्रमांक**-19) कलाकारों का प्रिय विषय रहा। आचार्य केशव ने पूरी रसिक प्रिया में जमकर यदि निरूपण किया है तो श्रृंगार एवं नायिका भेद का। 'कविप्रिया' में काव्य रीतियों के अतिरिक्त मुख्यतः अलंकार निरूपण की है। बारहमासा के चित्र इसी ग्रन्थ पर आधारित हैं।

'बिहारी सतसई' केशव के बाद सबसे प्रिय रहे। बिहारी सतसई **(चित्र क्रमांक**-20) का दोहा चित्रोपयोगी है। राजस्थानी व पहाड़ी में चित्रकारों ने अपना विषय बनाया है।

मतिराम के 'रसराज' एवं 'मतिराम-सतसई' के आधार पर अनेक चित्रों का निर्माण हुआ है। मालवा शैली में अधिकतर चित्र मिलते हैं। नगरीदास की रचनाओं में श्रृंगार परक रचनाओं का अधिक चित्रण मिलता है। नगरीदास कवि के साथ उच्च-कोटि के चित्रकार भी थे उन्होंने राधा-कृष्ण को युगल रूप में चित्रित किया है। और परवर्ती किशनगढ़ शैली का आधार बना 'बनी-ठनी' के

रूप में राधा का चित्रण अपनी श्रेष्ठता और भावनात्मकता के कारण 'मोनालिसा' से कम नहीं है।

'नागर समुच्चय' पर आधारित चित्र केवल किशनगढ़ शैली में चित्रित हैं।[1]

इस प्रकार 15वीं शताब्दी के पश्चात् जितने भी प्रसिद्ध ग्रन्थ रहे हैं चाहे वे धार्मिक रहे हो या लौकिक सभी पर चित्रों का सृजन हुआ है। मुगल काल में 'किस्सा अमीर हम्जा', 'शाहनामा', 'तबारिख-खानदान-ए-तैमूरिया', 'रज्मनाम', 'बाकआत-बाबरी', 'अकबर नामा', 'अनवर-सुहैली', **(चित्र क्रमांक**-21) 'अयार दानिश', 'तारीख रशीदी दराबनाम', 'खम्सा-निजामी', **(चित्र क्रमांक**-22) 'वह रिस्ताने जामी', 'रामायण', 'हरिवंश-पुराण', 'नलदमयन्ती कथा', 'शकुन्तला', 'कथा सरित्सागर', 'कालियादमन', 'चंगेजनामा', 'जफरनामा', 'दशावतार', 'कृष्णचरित', 'तूतीनामा', 'अजीबुल मखलूकात', 'निजामी के काव्य', 'जसवंत तथा वसावन की कृतियाँ', 'आई-ने-अकबरी' आदि पर चित्रण हुआ है।[2] इन ग्रन्थों पर चित्रण हुआ है, जिसको विभिन्न संग्रहालयों तथा निजी संग्रहालयों में सुरक्षित रखा गया है। एक ऐसा ही चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में है 'इन्द्र अपने गज एरावत् पर' सवार हैं, चित्र सं0 20/17, इसी तरह संगीत के राग-रागिनियों पर भी चित्रण हुआ है, 'श्री राग' जो भारतीय शास्त्रीय संगीत पर आधारित है चित्र सं0 70.24/15, रागिनी लेड़ी, पं0सं0-65.136 आदि हैं।

अकबरनामा के चित्रों में अकबर, उसकी सेनाओं तथा मुगल दरबार की विविध झाँकी मिलती है। अनेक चित्रों में ऐसा आकुलतामय ओज है जो

1. रीतिकाल साहित्य में चित्रकला, (शोध ग्रन्थ), डॉ0 श्याम बिहारी अग्रवाल, पृ0-122
2. भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैलोरा, पृ0-181

अकबर के व्यक्तितत्व को प्रतिध्वन्ति करता है। शान-शौकत तथा वैभव के मध्य कहीं-कहीं प्राचीन विशाल भारत की झाँकी मिल जाती है, पंचतन्त्र के जो अनुवाद हुए हैं उनके कारण मुगल चित्रकारों में प्रकृति के प्रति कुछ संवेदनशीलता जागी। अनेक सन्तों, साधुओं तथा आखेट के दृश्य भी बने हैं। यद्यपि कृषकों, चरवाहों तथा लोक-जीवन के दृश्यों का अंकन हुआ है तथापि प्रधान रूप से मुगल-दरबारी जीवन की ही झाँकी इन चित्रों में प्रस्तुत की गयी है। कहीं-कहीं तम्बुओं एवं रानिवासों के चित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं। इन चित्रों में दास-दासियों, संगीतज्ञों गणिकाओं तथा पहलवानों के भी अंकन हुये हैं।

अकबर के समान जहाँगीर अत्यधिक उदार नहीं था, इसलिए उसके समय में चित्रकला का दायरा बहुत सीमित हो गया। हिन्दुओं के पौराणिक, धार्मिक गाथाओं का चित्रण बन्द हो गया और चित्रकला का मुख्य सम्बन्ध जहाँगीर-विषयक घटनाओं से हो गया। इसीलिए दरबारी जीवन तथा आखेट के चित्र अधिक बने। चित्रित ग्रन्थों में 'कलील' व 'दम्नह' तथा 'जहाँगीरनाम' को प्रमुखता दी जा सकती है।[1]

'हम्जनामा' के चित्रों का कथानक आवेगपूर्ण है और इसी प्रकार उसकी चित्र शैली भी। भारी भरकम पहाड़, वृक्ष, छलकता हुआ जल, अलंकारिक बादल से पृष्ठभूमि बनी है।

पहाड़ी शैली की जो अनेक शाखाएँ आज हमारे सम्मुख विद्यमान हैं उनमें कांगड़ा कलम का नाम उल्लेखनीय है।

---

1. कला और कलम, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-197

कांगड़ा की इस कलात्मक थाती ने ही विभिन्न रूपों में विकसित होकर प्रभावशाली पहाड़ी शैली को जन्म दिया और अपनी सौन्दर्यात्मक प्रकृति के कारण अंत तक उसने अपनी उन सहयोगी शैलियों के साथ अटूट सम्बन्ध बनाए रखे।

भारत कला भवन, वाराणसी में कृष्ण जीवन लक्षीराम कृत 'करुणाभरण' की एक सचित्र प्रति सुरक्षित है, जिसको कि पहाड़ी शैली का बताया जाता है। मध्यकालीन भारत की जितनी भी चित्र-शैलियाँ प्रकाश में आयीं प्रायः सभी में ग्रन्थ चित्रों अथवा चित्रावलियों की योजना देखने को मिलती है। यह हम आगे देख ही चुके हैं। परन्तु पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने इस दिशा में विशेष उत्सुकता दर्शित की हैं उन्होंने 'रामायण', **(चित्र क्रमांक**-23) 'महाभारत', 'भागवत', 'दुर्गासप्तशती', पौराणिक कथाओं' के चित्र बनाये हैं। ऋषियों द्वारा कैलाश पर्वत पर शिवलिंग पूजा, कांगड़ा, रा0सं0 नई दिल्ली 63.1551 जो कि पूरी तरह से आलंकारिक है। कृष्ण एवं सत्यभामा द्वारा द्वारिका में अपने महल में पारिजात वृक्षारोपण 'हरिवंश पुराण' पर आधारित, कांगड़ा रा0सं0 नई दिल्ली चित्र संख्या 51-19/55 कृष्ण द्वारा गोपियों का वस्त्र-हरण, भागवत पुराण, कागड़ा, चित्र सं0 58.18/11 देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति, भागवत पुराण चित्र सं0 58.14/11 आदि चित्र हैं।

इन पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त 'रसिक प्रिया', ललित ग्राम', 'बिहारी सतसई', 'गीत-गोविन्द' आदि प्रिय विषय रहे हैं, **(चित्र क्रमांक-24, 25, 26)** इनके चित्रों का संग्रह राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली में है। जो कुछ इस प्रकार हैं, वर्षा में आतुर प्रेमी-युगल भानुदत्त रचित 'रस-मंजरी' पर आधारित है वसौली शैली में है। पं0सं0 47.110/324, जिसमें कृष्ण बरामदे में बैठे हैं तथा

आतुर प्रेमिकायें भीगते हुए आ रही हैं। 'मुग्धा-खंडिता नायिका 'रस-मंजरी', बसोहली पं0सं0-60.1676, कृष्ण की गोपियों से प्रेम क्रीड़ा, जयदेव रचित 'गीत-गोविन्द', बसोहली पं0 सं0 51.207/13, खंडित नायिका, केशवदास रचित 'रसिक-प्रिय', कांगड़ा पं0सं051.207/6 'कृष्ण का माँ यशोदा से चाँद के लिए हठ, गढ़वाल पं0सं0 47.110/419, राधा कृष्ण का छवि दर्शन, दर्पण में निहारते हुए, 'रसिक-प्रिया', गढ़वाल पं0 सं0 191/29, 'शुक्लाभिसारिका', केशव के काव्य पर मण्डली पं0सं0-49.19/130 इत्यादि बने हैं।

पुनरुत्थान के कलाकारों ने भी अपनी कृतियों में काव्यों को आधार बनाया हैं, इनमें राजा रवि वर्मा प्रमुख हैं, हमने पहले कहा है कि इनके चित्रों को आधार बनाकर कविताओं का सृजन हुआ है, तो ये भी इनसे अछूते नहीं रहे हैं, 'उषा' द्वारा अनिरुद्ध और दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के छविचित्रों में और 'राम द्वारा समुद्र का मान भंग', 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र', 'श्रीकृष्ण और बलराम', 'दूत के रूप में श्रीकृष्ण', 'रावण और जटायु', 'मत्स्यगंधी', आदि चित्रों के दृश्याकनों में प्राचीन पौराणिक अध्ययन सजीव हो उठे हैं।[1]

भारतीय चित्रकला की सर्वांगीण उन्नति के लिए एक महाशक्ति के रूप में अविन्द्रनाथ ठाकुर का अभ्युदय उस समय हुआ था जब कि यहाँ चिर-सृजनाकांक्षा उन्मुक्त विचरण छोड़कर विदेशी कंचनधारा में आबद्ध हो चुकी थी। वर्तमान कला धारा का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जिसका श्रीगणेश इस साधक के हाथों से न हुआ हो। अबनी बाबू के चित्रों में उनकी आत्मा प्रतिबिम्बित हो उठी है और अन्तर के रस में डूबकर 'राधा-कृष्ण', 'उमर ख्याम

1. कला के प्रणेता, ले0-साचिरानी गुर्टू, पृ0-12-23

की चित्रावली 'तिक्ष्यरक्षिती', 'शकुन्तला', 'भगवान तथागत', 'दुर्गा', 'अर्जुन' आदिचित्रों का सृजन किये,[1] इसके अलावा इन्होंने तात्कालीन नाटकों तथा काव्यों को आधार बनाकर भी चित्र सृजन का कार्य किया, जिनमें एक रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'ताप्तीनाटक' को आधार बनाकर किया है। राष्ट्रीय आधुनिक कला विथिका प0सं0 1208, इसी प्रकार एक नाटक में कवि प्र0 क्रं0 1209।

गगेन्द्र नाथ ठाकुर के पौराणिक विषयों और कल्पित आख्यानों को लेकर यदाकदा बनाए गए उनके चित्र बड़े सुन्दर बने हैं। माँ से विदा लेते समय चैतन्य का भक्ति-विह्वल कीर्तन तथा अन्य कितने ही चित्रों में इस बंगाल के सन्त की विमोहक भाव-भंगिमाओं का दर्शन होता है।[2]

नन्दलाल बोस ने एक सहस्र से अधिक चित्रों का निर्माण किया है। उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ अजन्ता और बाघ गुफाओं से प्रभावित तो थीं ही, हिन्दू 'देववाद' के भी प्रबल समर्थक थे, पौराणिक और धार्मिक विषयों से प्रेरित 'सती', 'शिव का विषपान', 'शिव-विलाप', 'शिव-ताण्डव', 'उमा की तपस्या', 'बिरहणी उमा', 'युधिष्ठिर की स्वर्ग- यात्रा', 'दुर्गा', 'यामा सावित्री', 'कैकेयी', 'अहिल्या', 'सुजाता', 'कर्ण' आदि के चित्र बड़े उत्कृष्ट बन पड़े हैं। उन्होंने लाइन स्केच भी बनाए हैं और रेखाओं द्वारा अत्यन्त सुकोमल एवं सूक्ष्मभाव भी व्यंजित किए हैं। इन्होंने 'महाभारत' के चक्रव्यूह पर चित्र सिरीज तैयार की है। 'अभिमन्यु को तैयार करती हुई राज बालाएँ,' प्र0सं0 4932, 'रथ पर आरूढ़ हो चक्रव्यूह के प्रथम द्वार में प्रवेश करते हुए' प्र0सं0 4932(2), 'सातवें चक्रव्यूह में

फँसे हुए,' कोई भी अस्त्र-शस्त्र नहीं बचा है तब 'रथ का पहिये से वार करते हुए' तथा कौरव पक्ष से सातों योद्धा एक साथ वार करते हुए 4932(3) तथा अन्तिम चित्र में 'अभिमन्यु का संस्कार,' शोकाकुल राजपरिवार, भीम अपने आप पर घृणा करते हुए तथा अर्जुन प्रतिज्ञा की मुद्रा में हैं जो कि राष्ट्रीय आधुनिक कला वीथिका के संग्रह में है।

क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार ने चैतन्य की जीवनी तथा राधा-कृष्ण के माधुर्य भाव को चित्रित करके कला के क्षेत्र में चैतन्य कहलायें हैं।[1]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भले ही चित्रों की शैली पाश्चात्य के अनुकरण पर चल पड़ी हो, लेकिन उनका विषय आज भी भारतीय पौराणिक आख्यानों तथा साहित्यों पर आधारित हैं। आज के कई चित्रकारों, निराला, मुक्तिबोध जयशंकर प्रसाद,। महादेवी वर्मा आदि के काव्यों को अपना आधार बनाया हैं इसके अलावा 20वीं शताब्दी के बाद के काव्यों तथा कहानियों में उसके साथ उसी आधार पर विभिन्न पत्र तथा पत्रिकाओं में चित्रों को भी प्रकाशित किया जा रहा है। जगदीश गुप्त ने अपने एक साक्षात्कार में इस बात को कहा कि 'मेरा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी से बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा है। उनके कृत्यों प बहुत से आवरण चित्र मैनें ही बनाए हैं। उन दिनों पाठक भी मेरे चित्र से इतने प्रभावित थे कि जो पुस्तकें खरीदते उस पर मेरी कला वाली पुस्तक को प्राथमिकता देते थे...'[2]

---

1. रीतिकाल साहित्य में चित्रकला (शोध ग्रन्थ) डॉ० श्याम बिहारी अग्रवाल, पृ०-118
2. आजकल, पत्रिका, अगस्त, 2001

काव्य के आधार पर निर्मित उपर्युक्त चित्र दो रूपों में उपलब्ध हैं- (1) प्रथम है चित्रित ग्रन्थ तथा द्वितीयक चित्रावली। चित्रित ग्रन्थ में चित्र वाङ्मय का अनुयायी होता है। किन्तु चित्रावली में ठीक इसका उल्टा। दूसरे चित्रावली के चित्र अलग-अलग रहते हैं जबकि ग्रन्थ चित्र एक में आबद्ध। तीसरे बड़े से बड़े चित्रित ग्रन्थमें भी चित्रों की संख्या सौ-दो-सौ से अधिक नहीं रहती। इस भाँति भारत के सबसे बड़े चित्रित ग्रन्थ अकबर द्वारा प्रस्तुत कराए गये, महाभारत (रज्मनामा) में डेढ़ सौ से कुछ ही अधिक चित्र हैं।

चित्रावली में वाङ्मय चित्र के पीछे चलता है और उसका उतना ही अंश चित्र के ऊपरी सिरे पर अथवा पीछे की ओर दिये जाते हैं, जिससे चित्र का विषय ज्ञात हो जाय। साथ ही चित्रावली में चित्रों की संख्या बहुत अधिक होती है। दूसरे शब्दों में सारी कहानियाँ चित्रों में कह दी जाती हैं। चित्रित ग्रन्थ की अपेक्षा चित्रावली में चित्रकार अधिक उन्मुक्त रहता है। 'रामायण', 'महाभारत', 'चण्डीचरित', 'रसिक-प्रिय', 'बिहारी सतसई' आदि अगणित चित्रावलियाँ निर्मित की गयीं, जिसमें से अधिकांश छिन्न-भिन्न हो गयी हैं।[1]

इस प्रकार चित्रित ग्रन्थ तथा चित्रावली दोनों रूपों में काव्य तथा चित्रकला जीवन के सत्य को प्रस्तुत करने में परस्पर सहयोग करते दिखायी देते हैं। काव्याश्रित चित्रकला अतीत में इतनी लोकप्रिय हुई कि यह चित्रकला का एक प्रमुख भेद ही बन गयी थी।

---

1. करुणाभरण नाटक और उसकी चित्रावली, ले0-गोपाल कृष्ण, कलानिधि, अंक 1, पृ0-67

अध्याय - तृतीय

शब्द और चित्र का रिश्ता अत्यन्त गहरा है। साहित्य, चित्र हम लोगों को और अधिक संभ्रांत बनाते हुए दिखता है। मानव ने अपनी उत्पत्ति के बाद, शब्दों की खोज की जो उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है, उसने इन शब्दों के द्वारा ही साहित्य का प्रणयन किया। परन्तु मानव ने प्रकृति के आगोश में अपनी आँखें खोलने पर सबसे पहले चित्रों से अपने को व्यक्त किया।

भारत में प्राचीन साहित्य से प्रेरित चित्रों की परम्परा अत्यन्त विशाल है। प्राचीन साहित्य प्रधानतः संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध किया गया है। भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी है, परम्परा के अनुसार इसकी उत्पत्ति स्वयं ब्रह्मा से हुई है। नारद स्मृति में कहा गया है कि "ब्रह्मा यदि लिपि द्वारा उत्तम नेत्र का विकास नहीं करते तो लोगों की शुभगति ही नहीं होती।"[1] अतः भारतीय साहित्य की परम्परा दो वर्गों में विभक्त की जा सकती है-

(क) धार्मिक साहित्य
(ख) लौकिक साहित्य

धार्मिक साहित्य, शाश्वत आध्यात्म की अखण्ड ज्योति से आलोकित होते हैं ये इस प्रकार से हैं- 'वेद', 'ब्राह्मण ग्रन्थ', 'आरण्यक ग्रन्थ', 'उपनिषद्, वेदांग', 'पुराण', 'स्मृति ग्रन्थ', 'बौद्ध-साहित्य', 'जैन-साहित्य' इत्यादि।

वैदिक संस्कृति के पश्चात् लौकिक संस्कृति में भारतीय साहित्य का प्रचुर रूप से निर्माण हुआ, जिसका विषय, भाषा, व्यवहार आदि सभी दृष्टियों से

---

1. ना करिष्यति यदि ब्रह्मा लिखितंचक्षु रूत्तम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य ना भविष्यत् शुभां गतिम्।। - नारद स्मृति

महत्वपूर्ण स्थान है। लौकिक साहित्य की भाषा पाणिनि द्वारा परिमार्जित लौकिक संस्कृत है जो सामान्य जनता की पहुँच में है। लौकिक साहित्य अत्यन्त विशाल है जो अग्रलिखित है- 'रामायण', 'महाभारत', संस्कृत के प्रमुख कवियों में अश्वघोष, कालिदास इनके ग्रन्थ 'ऋतुसंहार', 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', श्री हर्ष का 'नैषाधचरित', भास का 'स्वप्नवासदत्ता' जो भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक है, विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', शूद्रक का 'मृच्छकटिका', हर्षवर्धन का 'रत्नावली', 'नागानन्द' तथा 'प्रियदर्शिका', भवभूति का 'उत्तररामचरित' इत्यादि पायी जाती हैं इन सब पर चित्र सर्जन कर्ता ने अपनी तूलिका से वर्णों व रेखाओं के माध्यम से चित्रों का सृजन किया है, जो आज विलुप्त अवस्था में यदा-कदा पड़े हुए हैं।

इन साहित्यों का समय इस शोध ग्रन्थ से न होते हुए भी इनकी चर्चा यहाँ इसलिए कर दी गयी है कि ये साहित्य हमारे शरीर में आत्मा की तरह समाये हुए हैं और आज भी विभिन्न साहित्यकारों के साहित्य के आधारभूत तत्व हैं, जिनके विभिन्न अवयवों से कृतियों का प्रणयन हो रहा है।

संस्कृत साहित्य से पनपती हुयी सनातन धार्मिक उत्साह, विलास एवं ऐश्वर्य की भावना के परिणामस्वरूप अनेक धार्मिक व श्रृंगारिक साहित्यों को सृजित किया गया है। श्रृंगार की जो धारा संस्कृत से प्रभावित हुई वह आदिकाल और भक्तिकाल की भूमि को सरस बनाती हुई रीतिकालीन काव्यों में उल्लास के तरंगों के साथ हिलोरें भरने लगी।

पूर्व के अध्यायों में हम देख चुके हैं कि 15वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी तक साहित्य और कला अपने सम्पूर्ण अंगोंपांग के साथ विकसित होती रही हैं। धार्मिक, मानवता व श्रृंगार के प्रति कला का आकर्षण बराबर बना रहा यही कारण है जिस प्रकार धार्मिक विषयों में 'रामायण', 'महाभारत' व 'कृष्णलीला' के विभिन्न अवयव मिलते हैं। भक्तिकाल में तुलसी, सूर, मीरा इत्यादि की वाणियों को राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने बड़े ही भावपूर्ण ढंग से उनके साहित्य के सभी रूपों को साकार किया है, चाहे तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सम्पूर्ण व्यक्तित्व हो चाहे सूर का वात्सल्य। रस-विषयक ग्रन्थों में रसराज श्रृंगार का सांगोपांग वर्णन मिलता है उसी प्रकार चित्रकला में श्रृंगार प्रधान चित्रों का बाहुल्य है। राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली के चित्रों में श्रृंगार के संयोग तथा वियोग की स्थितियों और परिस्थितियों में उभरती नारी का अंकन बड़े ही कलात्मक ढंग से हुआ है, उन्हें कुशल चितेरों ने बड़े ही आकर्षक रूप से चित्रित कर साकार कर दिया। रत्नों की भाँति दमकते; छोटे आकार के ये चित्र इतनी सूक्ष्मता एवं चतुरता से निर्मित हैं कि समय का व्यवधान इनकी आभा को मलिन नहीं कर पाया है। इस युग की चित्रकला में नायक-नायिका का प्रेम अत्यन्त गहन, भावुक तथा आनन्दातिरेक की ऊँचाईयों को छूता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इन चित्रों की कलात्मकता हमें निरन्तर यह स्मरण दिलाती रहती है कि मधुर आनन्दातिरेक में छिपी आत्मा कभी मलिन नहीं होती।

राजस्थानी कला में ही साहित्य और चित्रकला की घनिष्ठता प्रगाढ़ होने लगी थी परन्तु रीतिकालीन युग में चित्रकला एवं साहित्य परस्पर जितने निकट

आये उतने शायद किसी अन्य समय में नहीं। अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रीतिकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन बिना उस काल वाले चित्रों के अध्ययन के अधूरा और अपरिपक्व रहा है। हो सकता है, क्योंकि कवि जो लिखता था, चित्रकार उसे अंकित करता था, परन्तु इतना ही नहीं, अनेक बार चित्रकार जो अंकित करता था, उसे कवि की वाणी कविता में अनुदित करती थी। कितनी ही बार, कवि जिस बात का संकेत मात्र कर देता था, उसे चित्रकार अपनी कल्पना से आकृतियों द्वारा अधिक स्फुट करके दिखाता था। कविता के अनेक ख्याल, जिनके अर्थ विवरणात्मक हैं, इन चित्रों की सहायता से स्पष्ट होते हैं। कविता और चित्रकला का सम्बन्ध बहुत पुराना है।[1]

हिन्दी रीतिकालीन साहित्य के आधार पर तात्कालीन चित्रकारों ने बहुसंख्यक चित्रों की रचना की, लेकिन इन कृतियों में मौलिकता भी इतनी अधिक है कि आप यह न कह सकेंगे कि ये साहित्य रचना पर अवतरित हैं। काव्य का चित्रकला में रूपान्तरण ही काँगड़ा कला का अद्वितीय गुण है। काव्य की पीठिका में प्रवाहमान लयात्मक रेखाओं ने काँगड़ा कला को गेयता दी है। इसे सहज ही शान्त संगीत कहा जा सकता है।[2] इसी प्रकार राजस्थानी तथा कुछ-कुछ आधुनिक साहित्यों में भी दृष्टव्य हैं।

राजस्थानी एवं काँगड़ा शैली के चित्रकारों ने भक्ति कालीन, रीतिकालीन कवियों यथा-तुलसीदास, सूरदास, केशवदास, बिहारी, मतिराम, देव आदि की कविताओं से प्रेरणा प्राप्त कर उनके अनेक पदों को चित्रित किया है। इन कवियों द्वारा श्रृंगार के उभय पक्षों का जैसा सुन्दर वर्णन किया गया है उसी

---

1. भारत-कला-भवन का 'सूची पत्र' (निवेदन से) राय कृष्णदास
2. काँगड़ा पेन्टिंग्स आफ दी भागवत पुराण, एम0एस0 रंधावा, पृ0-35

भाँति उस युग के चित्रकारों ने सूक्ष्म और लयात्मक रेखाओं और अद्‌भुत रंग-विधान द्वारा उसे अत्यन्त लालित्यपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है।

पूर्व के अध्यायों में विस्तृत विवेचन हो चुका है कि किस प्रकार चित्र सृजनकर्ता का साहित्यकार पर व साहित्यकार का चित्र सृजनकर्ता पर प्रभाव पड़ता है व उससे व्याकुल हो उसी को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न माध्यमों का आलम्बन लेता है। भक्तिकाल में भगवान् के शाश्वत रूप को साकार करता हुआ सिर्फ आराध्य के लिए चित्र सृजन हुआ तो, रीतिकाल वस्तुतः 'कला' कला के लिए' जैसे सिद्धान्त का प्रतिपादक है। रीतिकालीन कवियों का उद्‌देश्य कला के चमक में मात्र शृंगार का ही आशय डालना था। 'रसचन्द्रोदय' तथा 'बिहारी सतसई' में कहा गया है-

> रसिक चकोरन को सदा, सूझि परै रस पन्थ।
> साते रच्यो कवीन्द्र यह, रस चन्द्रीदय ग्रन्थ।।[1]
>
> जो कौऊ रस रीति को समुझयों चाहे सार।
> पढ़े बिहारी सतसई, कविता को सिंगार।।[2]

उपर्युक्त पँक्तियों से स्पष्ट है कि इनका मुख्य उद्देश्य शृंगार-साधक रसिक-चकोरों को रस-रीति व शृंगार रस का मार्ग बताना था। ये रसिक चकोर थे, तात्कालीन सामन्त वर्ग, जिनके आश्रय में ये कवि रहा करते थे, वे उनकी विलासी रुचि को समझते हुए तद्‌नुकूल शृंगारिक-वर्णनों को ढालने का प्रयास किया करते थे। लेकिन यह विलासिता कोरी विलासिता नहीं थी, उसमें कलात्मकता का पुट होने के कारण जीवन्त थी। 'थोथी विलासिता में केवल

---

1. रसचन्द्रोदय और रस दृष्टि, उदयनाथ कवीन्द्र, पृ0-1, छन्द संख्या-3
2. बिहारी सतसई - टीकाकार-कृष्ण कवि, पृ0-260

भूख रहती है - नंगी जुगुप्सा पर कलात्मक विलासिता संयम चाहती है।"[1] एक कलाकार की दृष्टि से प्रकृति की हर वस्तु सुन्दर है तथा हर कार्य-व्यापार इस विराट के प्रति एक प्रकार का समर्पण है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की खोज में हम उस मृदंग को तोड़कर यह देखने का प्रयास करें कि इतनी मधुर आवाज कहाँ से आ रही थी।

इसी प्रकार छायावादी व उत्तरछायावादी युग में भी कला और साहित्य एक दूसरे से गुथे हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि उस समय में जितनी भी पत्र-पत्रिकाओं- 'चाँद', 'सरस्वती', 'धर्मयुग', 'दैनिक हिन्दुस्तान' इत्यादि में दोनों को समान महत्व प्रदान कर साथ-साथ प्रकाशित किया जाता था। आज भी 'आजकल', ''बहुवचन, 'उत्तरप्रदेश', 'कथादेश' इत्यादि इस क्षेत्र में अग्रणी हैं।

चूँकि बीसवीं शती में साहित्य और चित्रकला के क्षेत्र में व्यापकता आयी है इसलिए भी दोनों ने अपनी नयी भूमि तलाशी है।, नये बिम्बों की परिकल्पना व नये सृजन तत्वों का सम्मिश्रण किया है, फिर भी इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम आपस में गुथे हुए हैं, इनका विषय सिर्फ श्रृंगार न होकर आज मानव के विभिन्न रूपों ने ले लिया है। जिनके विस्तृत विवेचन पूर्व के पृष्ठों पर हो चुके हैं।

डॉ0 मुल्कराज आनन्द के अनुसार अजन्ता के चित्रों में हमें "भारतीय संवदेनशीलता का सार तत्व द्वितीय शताब्दी ई0पू0 से लेकर गुप्त-काल के स्वर्णिम युग की शास्त्रीय पराकाष्ठा एवं सातवीं-आठवीं शताब्दी तक के अत्यलंकारित परिणामों में देखने को मिलता है। अजन्ता (तथा एलोरा) के बाद,

---

1. प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद, पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0-2

सातवीं-आठवीं शताब्दी के चित्रांकन समूचे भारतवर्ष में जैन लघुचित्रों से सम्बन्ध जोड़ते हैं।" जैन चित्रों का सबसे प्राचीन उदाहरण प्रारम्भिक सातवीं शताब्दी के सित्तनवासल के भित्त चित्र हैं। सित्तनवासल गुफाओं के चित्रांकनों का विशेष महत्व इस बात में है कि वे दिगम्बर जैनों से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु दसवीं शताब्दी के पश्चात जैन चित्रकला में श्वेताम्बर जैनों से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन हुआ है।[1]

इस प्रकार दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच और उसके बाद भारतीय चित्रकला की समृद्धि के लिए सर्वाधिक उल्लेखनीय योग जैन कलाकारों का रहा है।इस युग में जैन ग्रन्थकारों तथा चित्रकारों ने जिस निष्ठा और जिस एकाग्रभाव से चित्रकला की पूर्व परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा और भविष्य में राजपूत तथा मुगल शैलियों का जो नये प्रयोग एवं नये भाव-विधान दिये उनका विशिष्ट स्थान है। जैन कलाकारों की निपुणता का दर्शन ताड़पत्रीय पोथियों में देखने को मिलता है। स्थानाभाव के कारण इन ताड़पत्रीय पोथियों में उनके निर्माता कलाकारों ने अति सूक्ष्म रेखाओं में जिन विराट भावों को समाविष्ट किया है उसका उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकता। (चित्र क्रमांक-64)

पन्द्रहवीं शताब्दी में जैन धर्मानुयायी गृहस्थों ने जहाँ लाखों रुपये कला के निर्माण में व्यय किया, वहीं जैन मुनियों ने भी एकाग्र भाव से हजारों ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना एवं प्रतिलिपि करके ज्ञान-भण्डारों की समृद्धि में अपूर्व योग दिया। इसी समय सोने और चाँदी की स्याही से बहुमूल्य चित्रों का निर्माण

---

1. जैन मिनिऐचर पेण्टिंग्ज फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया, डॉ0 मोतीचन्द्र, पृ0-80

हुआ। कागज के चित्रों के हाशिये प्राकृतिक दृश्यों से इतने सुन्दर पहले सुसज्जित नहीं किये गये थे। इस युग के बेल-बूटे का अंकन तो अद्वितीय है। राजपूत और मुगल काल-शैलियों में जो बेल-बूटों की बनावट का गुणगान किया जाता है, उसकी मूल प्रेरणा वस्तुतः जैन चित्रों में सुरक्षित थी। जैन ग्रंथकारों या कलाकारों की कृतियों में एक विशिष्ट बात यह देखने को मिलती है कि लिखते समय बीच-बीच में वे इस ढंग से स्थान छोड़ते जाते थे कि अपने-आप छत्र, कमल, स्वास्तिक आदि उभर आते थे।[1]

आधुनिक अनुसन्धान के द्वारा कुछ ऐसी चित्रकारियाँ प्रकाश में आयी हैं जो उन चित्रकारियों से भिन्न हैं जिन्हें मिस्टर फारुकी ने "बेरून चश्मी" शैली कहा है जो अहमदाबाद की मुस्लिम सल्तनत के राजदरबार से सम्बन्धित प्रतीत होती है। ये चित्रकारियाँ अमीर खुसरो के 'खम्सा' से लिए गये उदाहरण हैं।[2] सल्तनत युग की प्रारम्भिक चित्रांकित हिन्दू-मुस्लिम पांडुलिपि अमीर खुसरो देहलवी की 'खम्सा' नामक पांडुलिपि है। इस पांडुलिपि के बीस-पच्चीस बिखरे हुए पृष्ठ मिले हैं, जिसमें आड़े चित्र बनाये गये हैं। 1961 में रिचर्ड एटिंगहाउसेन द्वारा प्रकाशित किया गया। इसके बाद भी इस पांडुलिपि के अनेक चित्रांकित पृष्ठों को प्रकाशित किया गया। इन चित्रों की शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिस्री मामलुक चित्रों और ईरान के इंजु चित्रकला शैली से मिलते-जुलते हैं।[3] **(चित्र क्रमांक-38)** इन लघुचित्रों को रंगों के खुले प्रयोग

1. भारतीय चित्रकला, वाचस्पति गैलोरा, पृ0-140
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ0-211
3. मध्यकालीन भारत, संपादक-हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ0-475

और जिस उच्च कोटि की सफाई के साथ पूरा किया गया है उससे लगता है कि पांडुलिपि को शाही संरक्षण के अन्तर्गत तैयार किया गया होगा।

चित्र क्रमांक-55 छोटा सचित्र रामायण के एक दृष्टान्त से लिया गया है, जो कि अब मुख्यत: 'प्रिंस ऑफ वेल्स' संग्रहालय बाम्बे में श्रीमान् कोवा जहाँगीर द्वारा मुम्बई में संग्रहीत है, चिरस्थाई रूप से इसका लिपिबद्ध हस्तलिपि कलाकृति सम्वत् 1706 में ''मेडापता'' देश में उदयपुर नाम शहर में महाराणा जगत सिंह के क्षेत्र से मिला है। इसे सृजित करने वाले रचनाकार का नाम 'मनोहर' है जो कि मेवाड़ कलम का सुप्रसिद्ध चित्र स्रष्टा था।

इस चित्र में रचनाधर्मी तत्वों का प्रयोग करते हुए रचनाकार ने रामायण के उस अंश को उकेरा है, जब अयोध्या के महाराज दशरथ पुत्रोत्सव को पूरे धूम-धाम से अयोध्या शहर में मनाने के पश्चात वापस राजमहल की औरतों द्वारा राजमहल के प्रमुख द्वार पर उनका भव्य स्वागत किया जा रहा है। यह दृश्य महल द्वार के बाहर एक खुले आँगन का है। जो स्त्रीयाँ महाराजा दशरथ के स्वागत के लिए थीं वे सामूहिक प्रक्रिया को सन्तुलित करने के लिए तीन कतारों में व्यवस्थित खड़ी हो गयी हैं। जो महिलायें उत्सव का नेतृत्व कर रही हैं वे अपने सर पर सोने का मंगलकारी घड़ा लिये हैं, इनका वस्त्र पारम्परिक रूप से मेवाड़ शैली का है। दाँयी ओर दशरथ को सफेद घोड़े पर सवार, पीछे अश्वारोही एवं पैदल दरबारी दर्शाये गये हैं।

मेवाड़ विद्यालय का भेदकारी लक्षण इसके महत्वाकांक्षी रंग-योजना और दोहरी योजना युक्त टूटी हुई पृष्ठभूमि में भेद पूर्ण जुड़ाव इसके दृष्टांत में दिखायी पड़ता है। चित्र दृष्टान्तों में मुगल चित्रकला का प्रभाव एवं वास्तुकला

का प्रभाव समान रूप से झलकता है, जबकि यह 17वीं शताब्दी के मध्य से पहले के मेवाड़ कला की बहुमूल्य प्रवृत्ति को चिन्हित कराता है। बहुत से गौण चित्रों को फलक के खाली स्थानों पर प्रशंसनीय ढंग से विभक्त कर फलक को भर दिया गया है, फिर भी संगठन में घुड़सवारों का विस्तार चित्र में दाँये तरफ ऊपर से नीचे तक व्यवस्थित ढंग से साथ-साथ पंक्तिबद्ध सृजित किया गया है।

पृष्ठ भाग में आँगन की चहारदीवारी के रूप में स्थापत्य को स्थान दिया गया है जो कि मुगल स्थापत्य के समान स्पष्ट सफेद संगमरमर से विरचित है। इसमें मेहराब, झरोखा तथा जालियाँ लगी हैं, जो स्थापत्य की उत्कृष्टता को भी भली प्रकार व्यक्त करती हैं।

'भागवत् पुराण' में एक घटना में भगवान कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। हेमन्त ऋतु में गोपियाँ यमुना में स्नान करने और देवी कात्यायनी की पूजा करने गयी थीं। प्रत्येक गोपी देवी से प्रार्थना कर रही थी कि उसे पति के रूप में कृष्ण मिल जाए।

तत्पश्चात् (**चित्र क्रमांक**-37) गोपियाँ यमुना में स्नान करने में खो जाती हैं, कृष्ण पानी में गोपियों की क्रीड़ा को देखकर उनके मग्न अवस्था का लाभ उठाते हैं और सभी गोपियों के वस्त्र चुराकर यमुना किनारे ही कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ जाते हैं। जब गोपियाँ स्नान करने के पश्चात् अपने वस्त्रों को नहीं पायीं तो उनकी शंका मुरलीधर के प्रति बलवती हुयी, इसका समाधान करने के लिए वे व्यग्र हो उठीं, तत्पश्चात् उनकी चक्षु घुमते हुए कदम्ब के वृक्ष पर टकरायी जहाँ कृष्ण इनके वस्त्रों के साथ आराम फरमा रहे थे, कृष्ण का दर्शन

पा गोपियाँ लज्जा में डूब गयीं और कृष्ण से अपने वस्त्रों को वापस करने की प्रार्थना करने लगीं। तब कृष्ण ने एक शर्त रखी कि प्रत्येक गोपी बारी-बारी से आये और अपने-अपने वस्त्रों को ले जाये, इस पर गोपियाँ बिफर पड़ीं और कहने लगीं कि वे नन्द बाबा से इसकी शिकायत करेंगी, परन्तु सृष्टि के रचयिता, इस चराचर जगत् के खेल में इतने तल्लीन थे कि उनको इन धमकियों का कोई असर होता न दिखायी पड़ता देख, गोपियाँ परेशान हो उठीं, व अब तक उन्हें ठण्डी भी लगने लगी थी, इस पर गोपियाँ यमुना से निकलकर अपने हथेलियों से अपने अंगों को ढक कर उनके सामने प्रस्तुत हुईं, इस पर भी कृष्ण नहीं माने, वे कहे कि हथेली से ढककर तथा झुककर न आयें, केवल मेरी आज्ञा का अनुपालन करके आयें तभी वस्त्र मिल सकते हैं।

दूर गाँव का दृश्य व गाँव से आती हुयी यमुना तट की तरफ गोपियों को भी अंकित किया गया है।

यह चित्र काँगड़ा कलम का है, जो राष्ट्रीय-संग्रहालय में संरक्षित है। सावन मास में आकाश में बादलों का आगमन होता है, जिसका स्वागत प्रचण्ड गर्मी से व्याकुल धरती के समस्त चराचर करते हैं। वर्षा ऋतु का आगमन होता है आसमान मेघों से, पृथ्वी नवीन जलधारा से, दिशाएँ चंचल चपला की ज्योति से, वायुमण्डल आर्द्रता से तथा नदियाँ जल से भर जाती हैं। इस माह में वर्षा के कारण एक असीम सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त रहता है और प्रकृति के इसी सौन्दर्य को अपनी आँखों से निरख कर उसके इस अभिनव रूप का रसपान कर पहाड़ी चित्रकारों ने प्रकृति के विभिन्न उपादानों का जैसा सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है **(चित्र क्रमांक**-27) 'सावन मास'

के चित्र में नायक-नायिका भवन के ऊपरी छत पर बैठे प्रकृति के इस मनोहारी रूप छटा का दृष्यावलोकन कर रहे हैं। वे एक अलंकृत चौकी पर बैठे हैं। नायक श्रीकृष्ण सर पर लाल पगड़ी, मलमल का सफेद जामा, कन्धे पर धवल गोटदार पटका तथा कमरबन्द धारण किये हुए हैं और नायिका राधा गुम्पकित सुनहला लहंगा, चोली, लाल दुपट्टा तथा विविध प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित हैं। नायिका का मुख-मण्डल प्रेम से दीप्त है और उसके रूप-सौन्दर्य का कहना ही क्या, वह देखा ही जा सकता है कहा नहीं जा सकता। पृष्ठ भाग में आकाश में उमड़-घुमड़ कर बादलों का आना दिखाया गया है। उन मेघों के बीच सुनहरे रंग से दामिनी की दमक दिखायी गयी है। हंस-पक्षी अज्ञात औत्सुक्य से चंचल एक साथ मानसरोवर की ओर उड़े जा रहे हैं।[1] काले बादलों के बीच सफेद हंस बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। दूर पहाड़ी पर मोर उत्सुकता से काले बादलों का आना देख प्रफुल्लित हो रहा है। पेड़-पौधे हरी-भरी पत्तियों से लद गये हैं तथा उनसे लिपटी पुष्पित लतिकाएँ उझक-उझक कर उन्हें देख लेती हैं। नदी में वर्षा जल के वेग को दर्शाया गया है जो समुद्र से मिलने को बेचैन तीव्रगति से आगे बढ़ी जा रही हैं। वर्षा ऋतु का ऐसा सुन्दर एवं मनमनमोहक चित्रण काँगड़ा शैली में ही सम्भव है। यह चित्र केशव दास की 'कविप्रिया' के इस छन्द पर आधारित है-

केशव सरिता सकल, मिलत सागर मनमोहैं।
ललित लता लपटति, लस्नतन तरुवन सोहैं।।
रुचि चपला मिलि मेघ, चपल चमकत चहुँ ओरन।
प्रनभावन कहं भेट भूमि, कूजत मिस मोरन।।

---

1. मेघदूत, 1-11

इहि रीति रमन रमनी सकल रमन लगे मनभावने।
पियगमन करन की को कहे गमन न सुनियत सावने।।[1]

जीवन के आनन्दमय क्षणों को अपने में समाहित करती हुयी नायिका जब विकल हो उठती है तो उसके बदन से सरसता का नूर बिखरने लगता है व मधुमाती सी नव आलोक के क्षितिज में अपने को प्रस्तुत करने के लिए अपने-आप को व्याख्यायित करने लगती है। बूँदी शैली के चित्रों में प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। घने वृक्षों के पत्तों में सफेद मिश्रित रंगों से गहरी हरी पृष्ठभूमि पर बनाया गया है, इसमें वृक्षों को सुन्दर, कोमल, सफेद-सफेद पुष्पों से पुष्पित तथा लतिकाओं से आच्छादित बनाया गया है। कर्कीय प्रदेश की जलवायु वाली प्रकृति को बूँदी शैली के चित्रों में एक सुन्दर और संवेगात्मक रूप प्रदान किया गया है और प्रकृति को उद्दीपन का रूप दिया गया है। **(चित्र क्रमांक-19)** नायक के प्रेम के घने श्याम वर्ण में पारदर्शी वस्त्र पहने सिर पर पगड़ी बाँधे सेज पर बैठे, अगूंठी सेविका को प्रदान कर रहा है। तथा निचले तह पर नायिका स्वर्ण आसन पर बैठी अंगड़ाइयाँ ले रही है। नायिका के कुन्तल उसकी कमर तक नागिन सा लहरा रहे हैं व कमर डमरू के समान स्वर्ण रंग की साड़ी पहने सहेलियाँ सज्जा करने के तत्वों को लिए उसके रूप को निखारने में प्रयत्नशील हैं। भवन में विभिन्न प्रकार के पर्दे, गुम्बज, चबूतरे तथा बरामदे अपनी सांस्कृतिक उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। यह फलक केशवदास के द्वारा सृजित 'रसिक प्रिया' के आधार पर बनाया गया है जो इसी पर अद्योलिखित है-

---

1. कविप्रिया, दसवाँ-प्रभाव, छन्द संख्या-28, केशवदास

अथमालिनि कौ वचनु श्री राधा जूसौ।।

डुरि है कौ : नूषन बसन टुति जोब नकी देहही की जो तिहोतिधौस औसीराति है।।

नाह कौ सुबा सुलगै छै है कैसी के सबसु नाइही की बासु नौस्नीरफा रैविंति है।।

देखि तेरी सूरति की मूरति विसूरति हैं। लालन कीड़िगदेषि बेकौ ललिचाती हैं।।

चलि है कौ वदमुषी कुचनि कैनारन अैंकचनि कै नारतौलचकि कटिजाती है।।[1]

चित्रकला एवं साहित्य जिस विषय पर समन्वयात्मक रूप से मुखरित हुए हैं, वह नायक-नायिका भेद का चित्रण है। इस तरह के चित्र राजस्थानी तथा पहाड़ी कला में बहुतायत से बनाये गये हैं।

श्रृंगार रस स्थायी भाव पर आधारित है और यह स्थायी भाव स्त्री पुरुष के रति सम्बन्ध में प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के रति-सम्बन्ध की अनेक स्थितियाँ श्रृंगार के आलम्बन के रूप में उदित होती हैं।

नायिकाओं के अवस्था या परिस्थिति-भेद के अनुसार आठ या दस भेद होते हैं। धीरा, अधीरा, धीराधीरा, उत्तमा, मध्यमा, अधमा, रूपगर्विता, प्रेमगर्विता, गुणगर्विता, वचनविदग्धा, क्रियाविदग्धा आदि की दृष्टि से इनके भेदोपभेद का अनन्त पाना कठिन है। स्वाधीन-पतिका नायिका **(चित्र क्रमांक-28)**

यदि नायक पूर्णतः नायिका के अधीन है, तो सर्वथा सुखी और सन्तुष्टमना नायिका स्वाधीन पतिका कहलाती है-

केशव जाके गुन बंध्यो, सदा रहे प्रति संग।
स्वाधिनपतिका तासु को वरनत प्रेम-प्रसंग।।[2]

---

1. बिहारी सतसई, दोहा संख्या-231
2. रसिकप्रिया, केशवदास, दोहा संख्या-4

स्वाधीनपतिका का नायक उसके प्रेम में इस प्रकार अनुरक्त रहता है कि उसे लोक-लाज की कोई चिन्ता नहीं रहती। एक तरह से नायक उससे प्रेम करने के लिए बाध्य होता है। मतिराम की स्वाधीनपतिका का यह वर्णन दर्शनीय है जिसमें कई दृश्य एक साथ उभरते हैं, यथा-

आपने हाथ से देत महावर आप ही वार सँवारत नी के।
आपुन ही पहिरावत आनिकै हार संवारिकै मौरसिरी के।।
हो सखि लाजन जात मरी मतिराम सुभाव कहा कहो पी के।
लोग मिलैं घर घैरू करैं अबही ते ये चेरे भय दुलही के।[1]

काँगड़ा शैली में स्वाधीनपतिका नायिका का चित्रण विविध रूपों में किया गया किन्तु प्रत्येक चित्र की नायिका, 'राधा' का मुखमण्डल की दिव्य कान्ति जो आत्माभिमान से परिपूर्ण है देखने योग्य है। कई चित्रों में नायिका एक चौकी पर बैठी दिखायी गयी है और नायक 'श्रीकृष्ण' उनके पैर में महावर लगा रहे हैं। **(चित्र क्रमांक-28)** किसी अन्य चित्र में बैठे कृष्ण, राधा, की चोटी गूँथ रहे हैं, टीका लगा रहे हैं या हार पहना रहे हैं। मतिराम के उपयुक्त छन्द में जिसमें नायक के कार्य-व्यापार एक साथ वर्णित किये गये हैं, चित्र निर्माण के लिए उतना उपयुक्त नहीं जितना कि केशव दास का यह छन्द जिसमें प्रछन्न स्वाधीनपतिका का वर्णन है, यथा-

केशव जीवन जो ब्रज को पुनि जोबहु से अति वासही भावे।
मापर देव-अदेव-कुमारिनि वारत माह न गार लगावै।
ता हरि पै तू गंधार की बेटी महावर पाई झखाई दिखावै।
है तौ बची अब हंसि नहीं ऐसे और जो देखै उतारू आयै।।[1]

---

1. रसराज, छन्द संख्या-179, मतिराम ग्रंथावली, पृ0241

उपर्युक्त छन्द जिसमें कृष्ण द्वारा नायिका को केवल महावर लगाने की बात कही गयी है चित्र-विषय के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है शायद इन्हीं विशेषताओं के कारण केशव चित्रकारों में विशेष लोकप्रिय हुए। महावर लगाते हुए काँगड़ा शैली में बहुत चित्र बने हुए हैं। यहाँ पर प्रस्तुत चित्र भारत कलाभ:वन, वाराणसी के संग्रह में संग्रहीत है, जिसमें नायिका एक चौकी पर बैठी हुई दिखाई गयी है और नायक नीचे जमीन पर बैठ कर उसके पैर में महावर लगा रहे हैं। नायिका के पैर के नीचे उन्होंने अपना दुपट्टा लगा रखा है, जिससे नायक के अनुराग की पुष्टि होती है। राधा का मुख गर्व से दीप्त है तथा कृष्ण के पीछे खड़ी सखी आश्चर्य से नायक के इस कार्य को देख रही हैं। अग्रभूमि पर पैर धोने का पात्र लम्बे गर्दन की टोटीदार सुराही तथा रंग (महावर) का प्याला दिखाया गया है। पार्श्वभूमि में प्रकृति एवं अलंकरण से सुसज्जित भवन का अंकन सजीव एवं सार्थक है। प्रेम प्रतीक के रूप में छज्जे पर मोर का अंकन साभिप्राय है। इस चित्र में नायक-नायिका के कोमल मनोभावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त लालित्यपूर्ण ढंग से हुई है।

महावर देने की कल्पना कालिदास ने भी की है जब नायक अग्निवर्ण अपनी रमणी के पैरों में स्वयं महावर देता है - 'स स्वयं चरणराग-मादधेयोपिता'[2] मुग्धा के समस्त चेष्टाओं को व्यक्त करने की दृष्टि से यह सचमुच अति रमणीय है।

'उत्का' वह नायिक है जिसके प्रेमी ने निमन्त्रण के निश्चित समय पर न आकर अपने विश्वास को खोया है-

---

1. रसिकप्रिया, आचार्य केशव, छन्द संख्या-5, पृ0-46
2. रघुवंश, सर्ग-19, श्लोक-26

'कौनहुं हेत न आइयो, प्रीतम जाके धाम।
ताकों सोचति सोचि हिय, केशव उत्का वाम।।'[1]

आशा और निराशा के मध्य दोलायमान ऐसी नायिका का चित्रण काँगड़ा शैली में बड़ा ही मार्मिक एवं सुन्दर है। बहुधा ऐसी नायिका को नदी किनारे, वृक्ष के नीचे, कुंजों के आसन, चमेली के पुष्पों से बिछी सेज पर विचारशील मुद्रा में खड़ी या बैठी अंकित किया गया है। अंधेरी रात में बादलों की घुमड़ और बीच-बीच में चपला की चमक से आलोकित उत्कंठिता को उत्कंठा से प्रतीक्षा करते हुए दिखाया गया है। कहीं मृग को पानी पीते हुए दिखाकर प्रतीक के रूप में उसके मनो·भावों को व्यक्त किया गया है। केशवदास ने प्रच्छन्न उत्का नायिका के उहापोह का वर्णन बड़ी कुशलता से किया है, यथा-

'किधौं गृह-काज कै न छूटत सखा-समाज,
किधौं कछु आज व्रत-वासर विभात तै।
दीनौ तै न सोध, किधौं काहू सो भयो विरोध,
उपज्यो प्रबोध किधौं उर उवदात तैं।
सुख में न देह किधौं मोहीं सौ कपटनेह,
कियो देखि मेह आती डरे अधरात तैं।
कियो मेरी प्रीति की प्रीतीति लेत केशवदास,
अजहू न आए मम सुधों कौनी बात तै।[2]

उपर्युक्त पद के आधार पर गुलेर शैली में अंकित उत्का नायिका का चित्र बहुत ही सुन्दर और प्रभावोत्पादक है। **(चित्र क्रमांक-29)**

---

1. रसिकप्रिया, आचार्य केशवदास, दोहा संख्या-7, पृ0-147
2. रसिकप्रिया, आचार्य केशवदास, दोहा संख्या-8, पृ0-147

चित्र में नायिका की मनोदशा को चित्रकार ने बड़े ही चतुराई से सृजित किया है। नायिका संकेत-कुंज की डालियों को चंपे की माला से सजाती है, लेकिन प्रिय को दूर-दूर न देखकर उन मालाओं को उतार कर चलने को उद्धत होती है लेकिन पुनः कुछ सोचकर रुक जाती है सोचती है उसे प्रिय की प्रतीक्षा करनी चाहिए ऐसा न हो कि वे आ रहे हों। वह तिरछी गर्दन से रास्ते की ओर बार-बार देख रही है। प्रिय के न आने की चिन्ता उसे उदास किये हुए है। चित्र में नायिका का रूप सौन्दर्य चाँदनी रात में आलोकित हो रहा है जो उचित वस्त्राभूपणों से सुसज्जित है। पार्श्वभूमि में प्रकृति का चित्रण बड़ा ही सजीव है। हरे-भरे पेड़ों से निकलती सूखी डालियाँ नायिका के मनोभावों को प्रकट करते हैं। प्रेम से आलोकित नायिका के चेहरे की कांति एवं आभा बड़ी ही मनोहारी हैं। इस चित्र में कवि का भाव साकार हो उठा है।

काँगड़ा शैली में चित्रित खण्डिता नायिका (**चित्र क्रमांक**-30) का चित्र बड़ा ही नयनाभिराम है। नायक सुबह-सुबह दूसरे स्था न पर रात बिता कर आता है, वह नायिका का हाथ पकड़ने का प्रयास करता है, जिस पर नायिका किंचित गुस्से से नायक की ओर दृष्टिपात करती है। पुष्ट नायक की आँखे नायिका के क्रोध को देखकर झुक जाती है; शायद सत्य के उद्घाटन हो जाने के कारण नायिका नायक को प्रताड़ित करती हुई दिखायी गयी है। प्रातः काल का चित्रण उषा की लालिमा तथा स्त्रियों को झाड़ू लगाते, एवं फूल चुनकर लाते हुए दिखाकर किया गया है जो मुखर तथा सशक्त कल्पना को व्यंजित करता है। पास ही कपोत-कपोती को अलग-अलग दिखाया गया है। पृष्ठभाग में भवन, घास का मैदान, तालाब तथा हरित वृक्षों का सुन्दर अंकन हुआ है।

बरामदे की दीवारें फूल-पत्तियों के अलंकरण से सुसज्जित हैं। यह चित्र खण्डिता नायिका के सुन्दर चित्रों में से एक है जो भारत कला भवन वाराणसी में संग्रहीत है। नायिका नायक को प्रताड़ित करती हुई कहती है-

आँखनि जौ सूझत न कानन तौ सुनियत,
केसौदास जैसे तुम लौकनि में गए हौ।
बस की बिसारी सुधिकाक ज्यों चुनत फिरौ,
जूठे सीठे सीध सठ-ईठ दीठ ठाए हौ।
दूरि-दूरि करतहूँ दौरि दौरी गहौ पाई,
जानौ न कुठारू ठौरू जानि जिय पाए हौ।[1]

जल-केलि के समय विपत्तिजनक प्रसंग भी आता है लेकिन वह प्रिय का सहारा पाकर सुखद अनुभूति को जगाने वाला ही होता है। पद्माकर की नायिका जमुना के गम्भीर जल में डूबने लगती है उस समय उसकी मनोदशा दृष्ट रूप है-

जोर जगी जमुना जलधार में, धाई धँसी जलकेलि की माती।
स्यों पद्माकर पेग चलै उछलै जब तुग तरंग विधाती।
टूटे हरा छटा छूट सबै सराबोर भई अँगिया रंगराती।
को कहतो यह मेरी दशा महतो न गुविन्द तो मैं बहि जाती।।[2]

इस प्रकार जल-केलि के विविध प्रसंग रीतिकालीन साहित्य में स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होते हैं, जिनके आधार पर चित्रकारों ने विविध शैलियों में नाना प्रकार के चित्रों को निर्मित किया है।

---

1. रसिकप्रिया, केशवदास,
2. ग्रन्थावली, पद्माकर, छन्द-77

जल-केलि का एक सुन्दर चित्र भारत कला भवन, वाराणसी के संग्रह में संग्रहीत है। **(चित्र क्रमांक-31)** जो केशवदास के 'जल विहार को मिलन' छन्द पर आधारित है, यथा-

> हरि राधिका मानसरोवर के तट ठाढ़े री हाथ सो हाथ छियें।
> पिय के सिर पाग प्रिया मुकताहल छाजत माल छुहूनि हिये।
> कटि केशव काछनी सेत कछे सबही तन, चँदन चित्र कियें।
> निकसे छिति छीर समुद्र ही ते संग श्रीपति मानहु श्रीय लिये।।[1]

पहाड़ी शैली में चित्रित इस चित्र में नायक नायिका कमलदल से पुष्पित सरोवर में खड़े दिखाये गये हैं। कवि का वर्णन के अनुरूप वेशभूषा में सुशोभित वे दोनों स्पर्शजनित सात्विक् भाव से रोमांचित हैं, कवि के भाव से चित्रकार का भाव अधिक मधुर एवं प्रभावोत्पादक है।

जो नायक से मिलने के लिए संकेत-स्थल पर जाय ऐसी कामातुर नायिक को अभिसारिका कहते हैं, यथा-

> हित ते कै मद मदमतै, पिय से मिलै जु आई।
> सो कहिये अभिसारिका, दरनी विजिहा बनाई।।[2]
> आभरन राजी मरकत मनियारी में।
> मोहन छबीले को मिलन चली ऐसी छवि,
> छाँह लौ छबीली छवि छाजत अध्यारी में।[3]

मुग्धा नायिका का चित्र, जिसमें नायक नायिका के रूप राशि को देखकर ऐसा रुक जाता है कि वहाँ से हटता ही नहीं यथा-

---

1. रसिकप्रिया, आचार्य केशवदास, छन्द संख्या-36
2. कविप्रिया, आचार्य केशवदास, दोहा-25
3. रसराज, मतिराम ग्रन्थावली, छन्द-197

कुच-गिरि चढ़ि आति थकित हवै चली डीठि मुँह-चाड़।
फिरी न टरी, परिगै रही, गिरी चिबुक की माड़।।[1]

नायक स्वागत करता है कि उरोज रूपी पहाड़ पर चढ़कर अति थकित शोभा से मुग्ध होकर भी मुख की चाड़ (लालच) से उधर चली पर चिबुक के गढ्ढे में गिर गई। फिर वहाँ से अत्यन्त थकित होने के कारण टली नहीं वहीं पड़ी रही।

उपर्युक्त दोहे के भाव के अनुसार काँगड़ा शैली में बनाये गये चित्र 'सुन्दर नारी' **(चित्र क्रमांक-32)** में भी परस्पर दर्शन का बड़ा अनुपम चित्रण हुआ है। नायिका की मुद्रा तथा भाव-भंगिमा का निरूपण बड़ी कुशलता से किया गया है। कृष्ण चहारदीवारी के पास खड़े मुग्धा नायिका को निरख रहे हैं। कृष्ण का प्रेम का रंग श्याम तथा नायिका का रंग गौर है, नायिका लाल पारदर्शी ओढ़नी से अपने भावों को अभिव्यक्त कर रही है, कृष्ण पार्श्व में खड़े हैं तो एक महिला कृष्ण को तथा दूसरी उस नायिका को निरख रही हैं। पीछे घास का मैदान तथा दूर नायक का भवन दिखायी पड़ रहा है। वृक्ष पर दो बुलबुल दो डालियों पर बैठे अपने मिलने का प्रयास कर रहे हैं, व जमीन में एक नया संचार करने को प्रयासरत हैं। इस प्रेम के दृश्य को हल्के-हल्के बादल तथा उसमें सूर्य के तेज लाल रंग कहीं-कहीं उद्दीपन का कार्य कर रहे हैं।

शुक्लाभिसारिका का एक अन्य चित्र काँगड़ा शैली में है 'बिहारी सतसई' के आधार पर प्राप्त है। **(चित्र क्रमांक-33)** बिहारी का दोहा इस प्रकार से है-

जुवति जोन्ह मिलि गई, नैक न होति लखाह।

---

1. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या-26

सौयें कै डोरैं लगी अली चली संग जाई।।

चित्र को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि कवि की कल्पना को चित्रकार ने किस सूझ-बूझ एवं कुशलता से साकार किया है। कवि शब्दों द्वारा जो चित्र पाठकों के मन में उभारने का प्रयास करता है उस मानस छवि में पाठक की कल्पना एवं अनुभूति-सौन्दर्य की विभिन्नता के कारण अन्तर अवश्य रहता है। लेकिन चित्रकार अपनी गहरी अनुभूति एवं प्रखर कल्पना से उसे सर्व सुलभ कर देता है। वह पाठक को कवि की अनुभूति तक ही नहीं ले जाता बल्कि उससे भी आगे ले जाने का प्रयास करता है। इस प्रकार चित्रकार काव्य को आधार बनाकर जो भाव चित्रित करता है उसमें उसकी भी गहरी अनुभूति होती है। इसलिए ये चित्र इतने सरस और प्रभावी हैं। निश्चय ही इस प्रकार के चित्र, जो काव्य के आधार पर चित्रित किये गये हैं वे कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं तथा बड़े मनोरम हैं, भाव-प्रवण एवं हृदयग्राही हैं।

जस अपजस देखत नहीं देखत सावल गात।
कहा करौ, लालच भरे चपल नैन चल जात।।[1]

"क्या करूँ (मेरा कुछ वश नहीं चलता), (मेरे ये लालच भरे चपल न यन श्याम सुन्दर को देंखते हैं) यश अपयश नहीं देखते उसी ओर चले जाते हैं।"

टेहरी गढ़वाल के राजा मानवीन्द्र शाह के संग्रह में संग्रहीत चित्र 'नयनावाण' **(चित्र क्रमांक-70)** उपर्युक्त दोहे के भाव पर आधारित हैं। अलग-अलग आयताकार खिड़कियों में राधा एवं कृष्ण को बड़े ही सुन्दर ढंग से संयोजित कर परस्पर एक दूसरे को देखते हुए दिखाया गया है। नीचे छत

---

1. बिहारी रत्नाकर, दो0-157

पर खड़ी दो सखियाँ उनकी गतिविधियों पर नजर रखे हुए हैं। काँगड़ा शैली में चित्रित लगभग 1775-1800 ई0 का यह चित्र बड़ा ही आकर्षक है। मानव आकृतियों का चित्रण निश्चय ही सुन्दर तथा अतुलनीय है जो काँगड़ा की सर्वप्रथम विशेषता है। प्रात: कालीन हल्की लालिमा से युक्त आकाश उनके प्रथम प्रेम को व्यक्त करता है।

परस्पर-दर्शन की उत्कट अभिलाषा से नायिका का अधीर हो जाना भी बड़ा स्वाभाविक है कवि बिहारी का यह कथन दर्शनीय है-

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैक न थकित देह।
भई रहति नट की बटा, अटकी नागर नेह।।[1]

अर्थात् वह झटके से अटारी पर चढ़ती है, उसकी शरीर किंचित मात्र भी थकित नहीं होती। नागर के स्नेह रूपी डोरे मे अटकी हुई वह नट की चकई बनी रहती है।

खेलन चोर-मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाई।
आली कहा कहों भई मतिराम नई यह बात तहाई।
एकहि भौन बुरे एक संग ही अंग से अंग छुआयों कन्हाई।
कप छुट्यो धनरूवेद बढ़यों तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आई।।[2]

सन् 1775-1800 ई0 के लगभग काँगड़ा शैली में निर्मित 'आँख मिचौली' (**चित्र क्रमांक**-35) उपर्युक्त भाव पर आधारित है। ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि में अंकित इस चित्र में एक ओर ग्राम्य जीवन की व्यस्तता दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर ग्वालवाला का उन्मुक्त खेलकूद। शान्त वातावरण में यह आँख

---

1. बिहारी रत्नाकर
2. रसराज, मतिराम ग्रन्थावली, छन्द संख्या-19

मिचौली बहुत मुखर हो उठी है और इसी मुखर वातावरण में जिसमें गोप-गोपियाँ छिपने के लिए भाग रही हैं राधा एवं कृष्ण का साथ छिपना, कृष्ण का आलिंगन करना और राधा का लज्जा से दोहरी हो जाना किशोर प्रेमी-प्रेमिका की मन:स्थिति का अनुपम चित्रण है। चित्र के परिपाश्र्व में सुन्दर गोधूलि के चित्रण के साथ ही साथ गायों का लौटना, उनका छुट्टा जाना, छोटे-छोटे थारों तथा पेड़-पौधों का अंकन बहुत कुशलता से किया गया है। चित्र में राधा कृष्ण के प्रथम आलिंगन के इस दृश्य को चित्रकार ने अपनी मौलिक उद्‌भावना के साथ चित्रित किया है जो अज्ञात यौवन मुग्धा नायिका के समस्त लक्षणों को प्रकट करता है।

आँख मिचौली के इस प्रथम परस्पर आलिंगन के पश्चात् तो वे दोनों इस संयोग-सुख की बार-बार आकांक्षा करते हैं। बिहारी के नायक-नायिका इस प्रकार बार-बार छिपकर आलिंगन करने से तृप्त नहीं होते--

दोऊ चोरमिहीचनी खैलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाई कै, छुवत हियै लपटात।।[1]

दोनों नायक-नायिका चोर मिहीचनी (आँख मिचौली) का खेल खेल कर अघाते नहीं। दोनों एक दूसरे से लिपट कर छिपते हैं और छूते समय भी परस्पर हृदय से लिपटते हैं। अर्थात् जब इन दोनों के अलावा दूसरे की पारी होती है तब ये साथ-साथ एक ही स्थान पर लिपट कर छिपते हैं और यदि इनमें से ही किसी की पारी होती है तो यह छिपन के स्थान पर पहुँचकर

---

1. बिहारी रत्नाकर, दोहा-530

हृदय से लगाकर एक दूसरे को छूते हैं। इस प्रकार नायक-नायिका बार-बार स्पर्शजनित सुख का आनन्द लेते हैं।

बिहारी सतसई पर आधारित ही यह चित्र **(चित्र क्रमांक-71)** नायक-नायिका के पूर्वानुराग को व्यक्त करता है जिसमें प्रत्यक्ष दर्शन जनित भाव का सुन्दर चित्रण हुआ है।यह चित्र काँगड़ा शैली में निर्मित है और लगभग 18वीं शती ई0 के अन्त का है। दोहा इस प्रकार है-

> कर समेटि कुच भुज उलटि, वाए सीस-पटुटारि।
> काको मन बाँधे न यह जूरा बाँधन हरि।।[1]

नायिका राधा जमुना जल में स्नान करने के पश्चात् किनारे खड़ी अपना जूड़ा बाँध रही है, रस के लोभी एवं सौन्दर्य प्रेमी नायक श्यामसुन्दर वहाँ पहले से ही इस दृश्य को देखने के लिए बैठे हैं। नायिका की सखी इसे लक्ष्य करती हुई उक्त दोहा कहती है। चित्र सुन्दर एवं मनोहारी है जो शायद मानक नामक कलाकार द्वारा चित्रित किंया गया है जिसने 'गीत गोविन्द' के प्रसिद्ध चित्र बनाये थे।

मानक का यह चित्र **(चित्र क्रमांक-39)** में ईर्ष्याभान का सुन्दर चित्रण हुआ है। नायिका भेद के अन्तर्गत खण्डित नायिका के उपालम्भ को इसी मान के अन्तर्गत रखा गया है प्रातः काल अन्य स्थान पर रम के आये हुए नायक से नायिका व्यंग्य से पूर्ण उक्ति दर्शनीय है-

> पलनु पीक, अंजन अधर, धरे महावरू भाल।
> आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल।।[1]

---

1. बिहारी रत्नाकर, दोहर-686

प्रात: काल नायक उस नायिका से मिलकर आता है, नायिका उसके शरीर पर लगे रति-चिन्हों को देखकर पहचान लेती है। नायक के पलकों पर लगी पान की पीक, अधरों पर अंजन तथा भाल पर लगे महावर को इंगित करती हुई नायिका व्यंग्य से 'भले बने हौ लाल' कहकर मान प्रकट करती है। चित्र में नायिका की हस्त-मुद्रा इस सम्पूर्ण भाव को व्यक्त कर देता है। चित्र के पृष्ठभूमि का अंकन सुरुचिपूर्ण एवं आकर्षक है। प्रात: कालीन आकाश में उषा की लाली, दूर छोटी-छोटी पहाड़ियों पर स्थित छोटे-छोटे वृक्ष, मन्थर गति से बहती सरिता, पेड़ पर बैठे युग्म पक्षियों का चहचहाना तथा गायों का बाहर निकल पड़ना आदि दृश्य जो इस चित्र में चित्रित है बड़ा ही लुभावना है। इस सरस वातावरण में मान के भाव का अंकन इतना सुन्दर है कि चित्र की चारुता मन को बाँध लेती है।

आम या खास हर पलों में व्यक्ति जब भी निद्रा के आगोश में जाता है तो तरूणोदय उन्मेष उसके जेहन में आनन्द के हिलोरे लेने लगता है, व्यक्ति का हृदय अर्पण करने या अपूर्व होने के लिए छटपटाने लगता है, जीवन को शान्ति की इच्छा में एक नये अर्पण की चाहत बहुत दूर तक खींच लाती है, ऐसे में व्यक्ति स्वप्नों के द्वारा ही अपने को अर्पित कर बैठता है। **(चित्र क्रमांक-40)** एम0ए0आर0 चुगताई द्वारा सृजित बंगाल शैली का एक साहित्य से स्वतन्त्र चित्रण 'स्वप्न' नाम चित्र राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली में संग्रहीत है। सामाजिक बन्धनों के चलते युगल मिल नहीं सकते अतएव उनको अपने मानसिक क्षितिज पर तो उतारने से कोई नहीं रोक सकता,

---

1. बिहारी रत्नाकर, दोहा- 22

इस चित्र में भी नायक श्याम वर्ण का क्षीण तथा लम्बी शरीर धारण किये, बंगाल शैली की पूरी विशेषताओं के साथ, नायिका गौर वर्ण की लाल साड़ी तथा काली ब्लाउज पहने उदास भाव से नीचे सिर किये हुए बैठी है। नायक की आँखे अजन्ता शैली से ली गयी है। जिससे उसमें शास्त्रीयता की लोच आ गयी है, नायक एवं नायिका के इस भाव को देखकर यह कहा जा सकता है कि जीवन के इहलौकिक जगत् से पारलौकिक जगत् की अनुभूति हो गयी है, जो कि शाश्वत सत्य व प्रेम के अमर दीप को प्रज्ज्वलित कर झीनी कुहरा मय धुँधलाहट से तेज दीप्त अरुण के नूर से रोशन हो गयी है। यह चित्र किसी साहित्य के आधार पर तो सृजित नहीं किया गया है, परन्तु इसके पृष्ठभूमि में रीतिकालीन साहित्य की रिक्तता विद्यमान है।

पराकाष्ठा से ऊपर समर्पण, त्याग, बलिदान, श्रद्धा व प्रेम की अनुभूति कोई कर सकता है तो वो है माँ का रूप, सृष्टिकर्ता ने सृष्टि का सृजन करते हुए इस कुटिल समाज में कुछ अलग अवयव प्रदान किया तो 'माँ' के रूप का ही। **(चित्र क्रमांक-41)** 'माँ और शिशु' यामिनी राय द्वारा सृजित राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली में संग्रह किया हुआ एक अमूल्य निधि है। यामिनी राय की यह कृति समस्त चराचर जगत को व्यक्त करती है, माँ के रूप में मातृत्व सिर्फ एक बच्चे तक सीमित नहीं अपितु वह तो बच्चे के रूप में सम्पूर्ण जगत् को अपने ममत्व रूपी प्रेम से भिगो रही है व बच्चे का यह रूप जो बरबस ही यह कहने को आकुल रहता है कि 'माँ मेरा जीवन तो तेरे आँचल तक सीमित है, इससे परे मेरे लिए जीवन का कोई रूप नहीं है, तृष्णाओं से सुदूर अँचल की छाह माँ तेरा आँचल है यहाँ आने पर मेरा

चित्त अथाह शान्ति के सागर में गोते लगाने लगता हैं, तब जेहन सुकून की पराकाष्ठा पर होता है।' इस चित्र में सृजनकर्ता ने बंगाल की लोक कला का दामन पकड़ा है सम्पूर्ण फलक पर जो कि सम्पूर्ण जगत् के रूप में यह उदीप्त है, में माँ का रूप त्रिभंगी मुद्रा में अपने कृष्ण रूपी बच्चे को गोद में लिए हुए किसी आने वाले अनिष्ट से बचाने के लिए तैयार दिखती है। इस फलक का सृजन भी सृजनकर्ता के स्वतन्त्र चित्रण का परिणाम है लेकिन अगर हम भक्तिकाल के तरफ रुख करते हैं, तो सूर तत्पर होते हैं इस स्थान की पूर्ति करने के लिए/सूर के पद पूरे भारत में गाये जाते थे, इसलिए उनके पदों का या चैतन्य के बाऊल गीतों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति की गाथा की अगर हम बात करते हैं, तो है, सब कुछ एक साथ सहज रूप से सुलभ एक समुच्च के रूप में पतिव्रता नारी के रूप में है। नारी का यह रूप भारतीय संस्कृति को सहस्त्रों वर्षों से भारतीय परिवेश को भारतीय रखने में अपना आमूल-चूल योगदान कर रहा है। **(चित्र क्रमांक-42)** ए0 रामचन्द्रन द्वार सृजित 'गान्धारी' के रूप में है। गान्धारी का यह रूप वह रूप है जो महाभारत के सभी नारी चरित्रों में त्याग और प्रेम की एक नयी मिसाल कायम करती है, ये प्रेम ऐसा है जो विवाहोपरान्त प्रारम्भ होता है परन्तु त्याग का एक ऐसा रूप लेता है जो मरणोपरान्त ही बिछुड़ता है। इस फलक का लगभग सम्पूर्ण भाग लाल व पीले से पटा हुआ है, लाल क्रोध व त्याग का वर्ण है तो पीला तेज व शुभ का, रामचन्द्रन ने गान्धारी को एक ऐसे आसन में दिखाया है जो कि आसन कम मानवता का एक नया रूप ज्यादा लगता है।

माँ के रूप में गान्धारी एक गुफा में है, जो अन्धेरे वातावरण का आभास कराता है लेकिन गान्धारी का अस्पष्ट रूप उसके इस भाव को व्यक्त करता है कि जीवनोपरान्त उसने इस सृष्टि को इसी रूप में अपने बन्द चक्षुओं से निरखा है। भ्रूण-बच्चे अपने विकास से पहले ही काल के गाल में समा गये लगते हैं और यही यथार्थ भी इनके सौ बच्चों का, जो कि अपना सम्पूर्ण जीवन देखने से पहले ही महाभारत के युद्ध में समाप्त हो गये। यह फलक महाभारत के किसी एक घटना क्रम को चित्रित नहीं करता अपितु गान्धारी से संबंधित सम्पूर्ण घटना क्रम को व्यक्त करता है। 'निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कलाकार ने गहरे आत्मसंघर्ष से गुजरकर कला का नया सौन्दर्य शास्त्र आविष्कृत करने का जोखिम अपने सिर पर लिया है।'

कृष्ण का नटखट रूप भारतीयों के मन में ऐसे बसा है कि उसके रूप कितने भी बदल जायें परन्तु वो एक नये सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ हमारे सम्मुख अवतरित हो ही जाता है, ऐसा ही रूप मंजीत की कृतियों में देखने को मिलता है। **(चित्र क्रमांक-43)** 'गुलाबी कृषि भूमि व बाँसुरी वादक' बनाया गया यह फलक एक अजीब छटा को निखारने का प्रयत्न करता है, मंजीत बाबा का बाँसुरी वादक कोई और नहीं बल्कि वही कृष्ण है, जिनके 18 गुणों की चर्चा की जाती है, कृष्ण का रंग भी नीला है जो प्रेम का प्रतीक है, उनकी गायें कुछ विचित्र प्रकार की हैं जो समकालीन जगत की आधुनिकता की द्योतक हैं, समकालीन समय में 'क्लोन-संस्कृति' का प्रादुर्भाव हो चुका है ऐसे में हम जैवकीय रूपों को एक नया आयाम देने को तत्पर दिखते हैं, ऐसे में मंजीत बाबा का जीव मण्डल उन सब का उपहास उड़ाता हुआ चिढ़ा रहा

है, कृष्ण के ऊपर पेड़ रूपी 'शेष' अपने को जड़ता से समाप्त करने को व्याकुल है, गुलाबी रंग का मैदान कहीं बाबा को मार्क्स से तो नहीं जोड़ता यह प्रश्न का विषय है। उनकी कल्पना से सम्पूर्ण जगत एक समान यानी मजदूर वर्ग और बुर्जुआ वर्ग का समापन हो जायेगा और सम्पूर्ण पृथ्वी पर समाजवाद के रूप में गुलाबी सरजमीं अपने मोहक अन्दाज से सब में एक नया उत्साह, उल्लास भर देगी तब हमें गुलाब इसलिए फेकना न पड़े कि इससे भूख नहीं मिटती, बल्कि गुलाब भी हरित्मा के लिए सब के दिलों में साथ-साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करा सकता है और सम्पूर्ण मानव कृष्ण के समान बंशी बजा कर जीवन के सम्पूर्ण आयामों को प्राप्त कर सकेगा।

चित्र क्रमांक 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50, 51, 52, 53, 54, कला के परम्परागत रूप से मुक्ति की ऐसी ईमानदार कोशिश है, जो एक लम्बे चिन्तन के उपरान्त ही उपलब्ध की जा सकती है, हम उसकी 'आत्मा' तथा 'रचे गये के मध्य टहलती विदग्धता' को पहचानने का सामर्थ्य खोजें, यह रचनात्मकता की दिशा को नये सिरे से परिभाषित करती है। समकालीन कलाकार और कला के विषय में प्रभु जोशी इसको इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, 'यह एक गहरी तन्मयता की सुचिन्तित अभिव्यक्ति है।'[1]

कला और साहित्य की भी 'समीक्षा-भाषा' खुद कातर होकर ('कलादृष्टि' के मुखौटे पहने लोगों) उनसे कुछ समय के लिए अवकाश चाहती है, ताकि वह 'क्रीड़ा' भर में ही अपना जीवन न गँवाती रह जाये, वह अब 'आशय-गर्भित' होना चाहती है, वह चाहती है कि उसकी कोख में 'अर्थ' का

---

1. कथादेश, फरवरी, 2000, पृ0-55

बीज पले चित्रकार-चित्रकार का मन रखते हुए वह बाँझ रह जाना नहीं चाहती, क्रीड़ा में लगाये रहने से वह 'जन्मदात्री' होने से बची रह गयी है, वह अर्थ को जन्म देने के गौरव से भर जाना चाहती है, वह सुख उसके लिए अलभ्य न रह जाये, क्रीड़ा और 'रमण' से वह ऊब चुकी है, चित्रकार के पास 'रमण' और क्रीड़ा के लिए कदली जैसी जँघाएँ हैं, फिर वह भाषा को ही 'रमण' का अभीष्ट क्यों बनाए हुआ हैं, इस 'फोर-प्ले' ने इसे 'रमणीया' भर में अवघटित कर दिया है। समकालीन कला और साहित्य को इस प्रवृत्ति से अलग एक स्थान चुनना ही होगा।

अध्याय – चतुर्थ

कलाकृति का लक्ष्य उसके स्रष्टा कलाकार से लेकर सहृदय सामाजिकों तक को आनन्द की अनुभूति कराना है। इस आनन्दानुभूति में कला का तकनीकी ज्ञान विशेष सहायक होता है। यों तो कलाकृतियों को देखकर एक साधारण व्यक्ति भी कुछ न कुछ प्रभावित होता ही है, किन्तु कलागत सूक्ष्मताओं से अवगत दर्शक ही उसके मर्म तक पहुँचने में समर्थ होता है। अतएव कलाकृति के रसास्वादन के हेतु कला-सम्बन्धी नियमों का ज्ञान परमावश्यक है। इस प्रकार के नियमों का निर्देशन करने वाले शास्त्रों का मूल अभिप्राय ज्ञान के संपादन से बुद्धि में प्रसाद उत्पन्न करके भावना में सौन्दर्य आस्वादन की क्षमता उत्पन्न करना है। इसी दृष्टि से यहाँ साहित्यिक पृष्ठभूमि के चित्रों का कलातत्वों के परिपेक्ष्य में अनुशीलन किया जा रहा है।

यूरोप के आधुनिक कला-आलोचना के अनुसार प्रत्येक कलाकृति में तीन तत्व होते हैं-

1. वह पदार्थ जिससे किसी कलावस्तु का कलेवर बनता है, जैसे मूर्ति में प्रस्तर-खण्ड, चित्र में रंग, काव्य में भाषा आदि। इस तत्व को 'भोग' कहते हैं।
2. प्रत्येक कलाकृति में अवयवों की संस्थिति अथवा आकृतिगत विशेषता होती है। समान 'भोग' से हम दो विभिन्न कलाकृतियों की रचना कर सकते हैं। कलाकृति का यह दूसरा तत्व ही उस आकृति अथवा रूप की विशेषता है।
3. 'भोग' और 'रूप' तत्व किसी कलाकृति के साध्य नहीं होते वरन उसके द्वारा किसी आन्तरिक अनुभूति अथवा विचार को व्यक्त किया जाता है।

सौन्दर्य का 'वास्तविक' आधार भोग-तत्व है। इस तत्व का आस्वादन मनुष्य अपनी स्वाभाविक सौन्दर्य-चेतना द्वारा करता है। बुद्धि और संस्कृति का

विकास होने पर यद्यपि सौन्दर्य में रूप और अभिव्यक्ति का आस्वादन सम्भव हो जाता है, तथापि हमारी रुचि भोग के प्रति वैसी ही बनी रहती है। क्रोचे महोदय कहते हैं कि "सौन्दर्य का एकमात्र अनुभव करने वाले कवि, चित्रकार, मूर्तिकार आदि के मुख पर शिशुता की झलक प्रौढ़ होने पर भी बनी रहती है।"[1] इस प्रकार भोग का सम्बन्ध हमारी ज्ञानेन्द्रियों से है।

भोग वस्तुगत रूप की रचना होती है, और भोग ही विभिन्न अवयवों में विन्यास होकर 'रूप' बन जाता है। इस भोग की व्यवस्था देना ही कला में 'रूप' कहलाता है। डॉ० हरद्वारी लाल का विचार है कि "भोग्य पदार्थ के विन्यास से 'रूप' का आविर्भाव होता है।"[2] भोग पदार्थ रूप के अवयव हैं। रूप से पृथक् इनकी सत्ता है, किन्तु रूप स्वयं न. किसी अवयव में रहता है और न उनके निरर्थक समूह में। जिस प्रकार रंगों तथा रेखाओं से चित्रगत रूप का निर्माण होता है, उसी प्रकार ध्वनि से काव्य का, ध्वनि या काव्य से संगीत का तथा प्रस्तरखण्डों से मूर्ति एवं भवन का रूप अस्तित्व प्राप्त करता है। गन्ध, स्पर्श एवं रस से भोग का विन्यास असम्भव है। अतः इन्हें दृश्य और श्रव्य रूपों के द्वारा केवल व्यंजित किया जा सकता है। इस प्रकार दृष्टि तथा श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित रूपों का ही प्रमुख महत्व है। काव्य में प्रायः दृष्टिणेन्द्रिय के विषय अर्थात् बिम्बों का विधान किया जाता है।[3]

'रूप' में प्रयुक्त भोग यदि स्वयं भी आकर्षण का कारण हो तो रूप में मधुर-तत्व उत्पन्न हो जाता है। रूप का दूसरा गुण लावण्य है। जब मोती की

---

1. सौन्दर्य शास्त्र, ले०-डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा, पृ०-56
2. सौन्दर्य शास्त्र, ले०-डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा, पृ०-58
3. काव्य के विषयों के सम्बन्ध में अमरचन्द्र यति का कथन हैं-
   'ये केऽपि पदार्थ हग्गोचरी भवन्ति ते वर्ण्याः(काव्य कल्पलता वृति प्रथम प्रतान पृष्ठ-10)

छाया के समान रूप में तरंग की प्रतीति होती है तो इसे लावण्य कहा जाता है। शोभा, कान्ति, दीप्ति आदि रूप के अन्य गुण हैं।[1]

'रूप' सत्य नहीं है कलात्मक सर्जना में वह एक काल्पनिक धारणा है। क्योंकि चित्रकार अलग-अलग रूप निर्मित करके चित्र सर्जना को संचालित किया करता है। रूप की सर्जना के साथ चित्रकार का मानसिक अनुभव सदैव विद्यमान रहा करता है। इसीलिये भोग के लिये रूप और रूप के लिये अनुभूति महत्वपूर्ण समझे जाते हैं।

कला के तत्वों की विस्तृत विवेचना करने के साथ-साथ प्राप्त चित्रों का दार्शनिक विवेचन करने के लिये चित्रकला के गुणों का अनुशीलन भी कर लेना जरूरी है।

स्थान, मान, आधार, कोमलता, विभक्तता, समानता, क्षय और वृद्धि (आवश्यकतानुसार घटाना और बढ़ाना) ये आठों चित्र के गुण हैं।[2]

जिसके स्थान, प्रमाण और आधार ठीक हो, अंगों में कोमलता, विभक्तता और सामंजस्य हो तथा पक्ष में वृद्धि हो, वह चित्र सुन्दर माना जाता है। चित्रकारी के लिए रेखा, वर्तना आभूषण और वर्णभूषण हैं। आचार्य रेखाओं की प्रशंसा करते हैं, बिचक्षणन्जन वर्तना की, स्त्रियाँ भूषण देखना पसन्द करती है, और अन्य जन्य वर्णो की समृद्धि।[3] जो चित्र अत्यन्त कोमल सुस्पष्ट तथा सुन्दर वर्ण वाली रेखाओं से युक्त, देश-विशेष के वेशों से सुसज्जित और पूर्वोक्त प्रमाण की शोभाओं से संपन्न होता है वह अति आकर्षक होता है।[4]

---

1. रूप गोस्वामी: उज्जवल नीलमणि (विभावेपूद्दीपना-रूप प्रकरण) चित्रसूत्रम्, 43/19
2. रूप गोस्वामी: उज्जवल नीलमणि (विभावेपृद्दीपना-रूप प्रकरण) चित्रसूत्रम्, 43/19
3. रूप गोस्वामी: उज्जवल नीलमणि (विभावेपूद्दीपना-रूप प्रकरण) चित्रसूत्रम, 41/9-19
4. रूप गोस्वामी: उज्जवल नीलमणि (विभावेपूद्दीपना-रूप प्रकरण) चित्रसूत्रम्, 41/19

जो चित्र स्थान तथा रस से हीन हो, आकाश की ओर दृष्टि किये हो, मलिन हो या चेतनारहित हो, वह गर्हित होता है।[1]

जो चित्र आधार-युक्त होता हुआ सुशोभित-सा हो रहा हो, जो डर सा रहा हो, जो मुस्करा सा रहा हो,जो सजीव-सा दीख रहा हो, श्वास लेता हुआ प्रतीत होता हो, वह चित्र शुभ लक्षण होता है।[2]

दृष्ट पदार्थ का चित्र तो हू-बहू उसी के समान बनाना चाहिये । चित्रकला में सादृश्यकरण प्रधान तत्व माना गया है। चित्रकार को अपनी बुद्धि से रूप, वेश तथा रंग का अनुपात ठीक करके जिस देश का मनुष्य हो उसका चित्र उसी सादृश्य बनाना चाहिये। देश प्रवृत्ति, स्थान तथा कर्म को यत्न पूर्वक समझ कर आसान, शयन, वाहन तथा वेश का चित्रण करना चाहिये।[3]

जो चित्र वर्तना (लिखावट) में सूखा प्रतीत हो व मध्यम कोटि का चित्र कहा गया है, जो कुछ सूखा और कुछ गीला प्रतीत हो, वह 'अधम कोटि' का और जो केवल गीला प्रतीत हो वह 'उत्तम कोटि' का माना गया है। जो चित्र स्थापना, समय, देश और व्यवस्था के अनुरूप बनाया जाता है वह प्रशंसनीय होता है और इसके विपरीत प्रकार का बनाया गया चित्र निन्दनीय होता है। जो चित्र कुशल च्चित्रकार की बुद्धि से व्यवस्थित इंद्रिय, कान्ति, विलास, रस आदि से समन्वित, दृष्टपात नेत्र आदि से युक्त अंकित किये जाते हैं वे अह्लादजनक सिद्ध होते हैं।[4]

---

1. रूप गोस्वामी उज्जवल नीलमणि (विभावेपूद्दीपना-रूप प्रकरण) चित्रसूत्रम, 43/20
2. रूप गोस्वामी उज्जवल नीलमणि (विभावेपूद्दीपना-रूप प्रकरण) चित्रसूत्रम, 43/21-22
3. 'चित्रसूत्र' 41/48-50
4. 'चित्रसूत्र' 42/82-84

मार्कण्डेय के अनुसार चित्र के नौ रस हैं : श्रृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। श्रृंगार रस वाला चित्र कान्ति, लावण्य-युक्त रेखा तथा माधुर्य से विभूषित हो तथा उसके वेश और आभूषण कौशल से सजाये गये हों। अधिकतर कुबड़े, बौने कुछ विकट रूप से ताकते हुये तथा व्यर्थ ही हाथ संकुचित किये हुए चित्र हास्य रस के होते हैं। याचना, वियोग, शरणागत-त्याग, विक्रय और व्यसन आदि में दयनीय प्रतीत होने वालों का चित्र करुण रस का होता है। रौद्र का चित्र कठोरता, विकार, हिंसात्मक भाव, चमचमाते हुये शस्त्र तथा आभूषण से युक्त होना चाहिये। वीर रस के चित्र में प्रतिज्ञा, शूरता, उदारता, तथा गर्व का भाव दिखाना चाहिये। त्यौरी चढ़ी हुई हो और वे देखने में अद्भुत हो। भयानक रस की चित्रकारी में दुष्ट, क्रूर, उन्मत्त, हिंसक और घातक प्राणी को अंकित करना चाहिये। जो चित्र श्मशान के समान निंदित, घात का साधन और स्थान के कारण दारूण हो वह वीभत्स रस के लिये श्रेष्ठ होता है। जो विनय, रोमांच तथा चिन्ता से युक्त हो तथा गरुण के मुख के समान झुका हुआ हो वह अद्भुत रस का चित्र है। शान्त रस के चित्र की आकृति सौम्य हो, ध्यान, धारणा और आसन से युक्त हो तथा वह बहुत कुछ तपस्वीजन के सादृश्य हो।[1]

समस्त प्रतिरूपात्मक कला का लक्ष्य चाक्षुण रूप-आकार को अभिव्यक्त करना और उस रूप-आकार को सम्पूर्ण या प्रभावशाली अनुभव की वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना है। यह रूप-भावना मानवीय भावना की इतनी त्वरा के साथ अभिव्यक्त करता है कि वह भावना से आलुप्त-सा प्रतीत होता है।

---

1. 'चित्रसूत्र' 43/1-10

इसका आशय यह है कि दर्शक के लिए कलाकृति स्थानिक आकृति ही नहीं, वरन् स्थान का आकृतिकरण होता है।

व्यावहारिक जगत् में स्थान की कोई आकृति नहीं होती। विज्ञान में भी उसकी कोई आकृति नहीं होती, यद्यपि उसका तार्किक रूप आकार होता है, स्थानिक सम्बन्ध होते हैं, किन्तु स्थान की कोई ठोस सम्पूर्णता नहीं होती। स्थान स्वयं हमारे क्रियाशील जीवन में अनियमित रहता है। जिस स्थान में हम रहते हैं और क्रिया संपादित करते हैं वह वही नहीं है जिसे कला व्यवहृत करती है। एक चित्र में सामंजस्य रूप में व्यवस्थित स्थान अनुभूत्यात्मक स्थान नहीं होता, जिसे दर्शक के स्पर्श से, स्वच्छंद गति और अवरोध से जाना जाता है। यह पूर्णतः चाक्षुण व्यवहार है, स्पर्श, श्रवण और स्नायविक क्रिया के लिये इसका अस्तित्व नहीं रहता। यह शुद्धतः चाक्षुण स्थान प्रतिभास है, क्योंकि हमारी एन्द्रिय अनुभूतियाँ अपनी विवृति में इससे मेल नहीं खाती। चित्रात्मक स्थान केवल रंग के माध्यम से व्यक्त नहीं होता, यह निर्मित किया जाता है, व्यवस्थित करने वाली आकृतियों के बिना इसका सामान्य रूप से अस्तित्व नहीं होगा। दर्पण की सतह के पीछे के स्थान के समान यह 'प्रतीयमान स्थान' है- एक अस्पृश्य बिम्ब। प्रतीयमान स्थान समस्त प्रतिरूपात्मक कला का मौलिक प्रतिभास है। अभिकल्प का प्रत्येक तत्व, आकृति के सादृश्य और रंग का प्रत्येक प्रयोग, चित्र के स्थान को उत्पन्न करने, आधार प्रदान करने और विकसित करने का काम करता है। चित्र का यह स्थान केवल अंतर्दर्शन के लिये अस्तित्व में रहता है। केवल चाक्षुण होने के कारण यह स्थान उस स्थान के साथ कोई सातत्य नहीं रखता है जिसमें हम रहते हैं।

वे तत्व जिन्हें कलाकार प्रस्तुत करता है वे हैं जो सम्पूर्ण अनुभवगम्य स्थान के सातत्य में संवृद्धि रूप-आकार से हमें परिचित कराते हैं। वस्तुओं के किसी रूप--आकार के सभी आरोप अवरोह, चयन, आधारभूत अन्य कथाकरण या उससे पूर्णतया दूर हटने आदि के लक्ष्य स्थान को दृश्य और उसके सातत्य को संवेद्य बनाना है। स्थान स्वयं प्रतिक्षिप्त बिम्ब है जो चित्रित प्रत्येक वस्तुओं का प्रतिरूपण भी, यदि कभी होता है तो इस लक्ष्य का साधन ही होता है, सृजन होता है पुनः सृजन होता है।[1]

कलायें अपने-अपने माध्यमों के अनुरूप, तत्वों को व्यवस्थित रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। मनुष्य मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारणों से अपने चारो-ओर के वातावरण को व्यवस्थित करना चाहता है। यही प्रवृत्ति कला के तत्वों में भी कार्य करती है। कलाओं में व्यवस्था के नियम बहुत कुछ निश्चित हो गये हैं और सर्वत्र देखे जा सकते हैं। इस प्रकार व्यवस्थित कृति एक प्रकार से 'आलेखन' है जिसमें अपने माध्यम के अनुसार तत्वों का नियोजन रहता है।

कलाकार में एक विशेष प्रकार की दक्षता होनी चाहिये, जिसे तकनीक कहा जाता है। वह अपनी दक्षता उसी प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार शिल्पकार प्राप्त करता है, आंशिक रूप से तो वह अपने निजी अनुभव से और आंशिक रूप से दूसरे के अनुभव में हिस्सा बाँटकर, जो इस प्रकार उसके शिक्षक बन जाते हैं। इस प्रकार जब वह तकनीकी दक्षता प्राप्त करता है तो वह अपने-आप में उसे कलाकार नहीं बनाती, क्योंकि उसे तकनीकीकार बनाया

---

1. सौन्दर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन, ले0--डॉ0 रामलखन शुक्ल, पृ0-227

जाता है। जबकि कलाकार जन्मजात होता हैं महान कलात्मक शक्तियाँ कला की सुन्दर रचनायें बना सकती हैं, भले ही तकनीक दोषपूर्ण हो, और उसके अभाव में अत्यधिक तकनीक भी सर्वोत्कृष्ट प्रकार की रचना प्रस्तुत नहीं कर सकती, फिर भी कुल मिलाकर कला की कोई रचना बिना किसी मात्रा में तकनीकी दक्षता के नहीं बनायी जा सकती और यदि अन्य बातें समान हों तो जितनी अच्छी तकनीक होगी उतनी ही अच्छी कला की रचना होगी। महानतम, कलात्मक शक्तियाँ अपनी उचित और वास्तविक अभिव्यक्ति के लिये उतनी ही अच्छी प्रकार की तकनीक की अपेक्षा रखती है, जितनी अच्छी वह स्वयं है।[1] इस प्रकार की तकनीकी दक्षता का प्रमाण भारतीय चित्रकला के राजस्थानी, मुगल और पहाड़ी शैलियों में स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

अबाध गति से बिन्दुओं को अंकित करने से रेखा की सृष्टि होती है। यह कला का सरलतम सार्वभौम् तथा सर्वातिप्राचीन माध्यम है।

संस्कृत वाङ्मय में रेखा के संबन्ध में बड़ी ही महत्वपूर्ण एवं रोचक बातें मिलती है। चित्रसूत्रम् के सूत्रकार ने लिखा है-

रेखां पशरान्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षण:।
स्त्रियो भूगणमिच्छन्ति वर्णद्यमितरे जना:।।

अर्थात् आचार्य लोग रेखा की प्रशंसा और सुधीजन लिखावट की प्रशंसा करते हैं और इसी ग्रन्थ में रेखाओं को तीन प्रकार का बताया गया है। (1) पत्र वर्तना, (2) अहेरिकवर्तना, (3) बिन्दुवर्तना।

---

1. कला के सिद्धान्त, ले0-आर0जी0 कलिंगवुड, पृ0-13

पत्ती के सदृश्य रेखा को पत्रवर्तना एवं अत्यन्त सूक्ष्म रेखा को आहेरिक वर्तना और स्तम्भनयुक्त रेखा को बिन्दुवर्तना कहते हैं।[1]

चित्र में रेखाओं की भाषा का प्रयोग संगीत में स्वरों की भाँति होता है। स्वरों का प्रभाव चित्र-द्रावण्ता और रेखाओं का प्रभाव चित्ताकर्षण होता है।

रेखा न केवल अपने ही व्यक्तित्व से दर्शक को प्रभावित करती है, अपितु यह 'रूप' का आविर्भाव करती है। यह रूप मधुर, ओजस्वी, गतिमान् हो सकता है। रेखा द्वारा प्रादुर्भूत रूप से जीवन की अनेक भावनाएं इसकी गम्भीरता अथवा सरलता, चंचलता अथवा स्थिरता, प्रसाद अथवा अस्पष्टता, आदि व्यक्त की जाती है। इस प्रकार रेखा अपने व्यक्तिगत प्रभाव से, और रूप का निर्माण करके चित्र में सौन्दर्य की सृष्टि करती है अर्थात् चित्र में आकर्षण-प्रत्याकर्षण की शक्ति उत्पन्न करती है।[2]

भारतीय चित्रकला रेखा-प्रधान है, इसीलिए भारतीय चित्रकला में रेखा को सबसे अधिक महत्ता दी गयी है। अजन्ता के चित्रकारों एवं आधुनिक चित्रकारों ने अपने चित्रों में रेखा के प्रभाव के द्वारा रसभाव पेशल चित्र निर्मित किए हैं।

रेखा में कुछ न कुछ मोटाई अथवा चौड़ाई अवश्य रहती है। हल्की रेखा कोमलता, अस्पष्टता, सौन्दर्य तथा दूरी की द्योतक होती है। गहरी रेखा स्पष्टता, सजीवता, निश्चय, कठोरता, शक्ति और सामीप्य प्रकट करती है। गोल रेखा से सौन्दर्य एवं सौष्ठव झलकता है। तिरछी रेखाओं में शक्ति, दृढ़ता एवं

---

1. रूपालेख्य, ले0-डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा, पृ0-42
2. सौन्दर्यशास्त्र, ले0-डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, पृ0-160-161

गति रहती है। ऊपर जाने वाली रेखायें आशा और उत्साह का सचार करती हैं तथा नीचे जाने वाली रेखायें करुणा, दु:ख एवं निराशा आदि व्यक्त करती हैं। जटिल रेखायें देखने से उलझन तथा सरल रेखाओं से शान्ति होती है। कुशल चित्रकार रेखाओं का प्रयोग इस प्रकार करता है कि उनसे भावानुकूल छन्द बन जाते हैं।

चित्रकला रूप और रंग की कला है। सुन्दर वस्तु के भोग में सर्वप्रथम रंग का स्थान है।[1] जिस प्रकार रेखायें मन की गति को चित्रित करती हैं, वैसे ही रंग मन में उठे विभिन्न भावों एवं रसों को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। भारतीय कला में जितना महत्व रेखा का है लगभग उतना ही महत्व रंग का भी है।

'विष्णुधर्मोत्तरम्' और 'शिल्परत्नम्' जैसे पारिभाषिक ग्रंथों में रंग लगाने के संबन्ध में निर्धारित किये गये न्यूनाधिक विस्तृत नियमों से और जो चित्र मिलते हैं उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि रंग का व्याख्यात्मक और सांकेतिक अर्थात् प्रतीकात्मक, दोनों तरह से महत्व है। 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में लिखा है कि दृष्ट और निरीक्षित भाग दूसरे शब्दों में 'दृष्टतम' के लोक का रंग उस रंग से मिलना चाहिये जो वस्तु का, केवल प्रत्यक्षत: नहीं, स्वाभाविक रंग हो। इसीलिये रंग का प्रयोजन विशुद्ध रूप से वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक है। उसी ग्रन्थ में उस स्थान पर यह बात और स्पष्ट कर दी गयी है, जहाँ भारत में विभिन्न प्रकार की समकालीन मानव जातियाँ और साथ ही प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं पर रंग के विस्तृत, विशिष्ट विवरण के नियम निर्धारित किये गये हैं। इन

---

1. सौन्दर्यशास्त्र, लेखक-डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, पृष्ठ-56

नियमों का व्यवहारों में पालन किया जाता था। यह बात, उदाहरण के लिये बाघ और अजन्ता के चित्रों में पूरी तरह सिद्ध हो जाती है।

किन्तु रंग अपने सांकेतिक और प्रतीकात्मक महत्व के लिये बहुत अधिक व्यवह्रत होता था और बहुधा एक ही रचना अपने व्याख्यात्मक या निदर्शी महत्व से सुन्दर ढंग से समन्वित हो जाता था। सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक रंग अदृश्य अथवा 'अदृष्टतम्' लोक का, अर्थात् कल्पना, बुद्धि और भावना के जगत् का होता है। पारिभाषिक ग्रन्थों में कल्पना, विचार और भावना के तथ्यों अथवा वस्तुओं के लिये अर्थात् देवताओं और देवियों, अप्सराओं, गन्धर्वो वगैरह के सत्व, रजस और तमस के पवित्रता और अच्छाई के, नीचता और दोष के, प्रत्येक प्रकार की भावनात्मक स्थिति आदि अमूर्त गुणों के लिये असंख्य रंग निर्धारित किये गये हैं। राजस्थानी और पहाड़ी शैलियों के राग और रागिनी, 'रसचित्र' शायद सर्वोत्तम उदाहरण हैं। जिसमें रंग के व्याख्यात्मक विशिष्टता के साथ-साथ उसकी सांकेतिक या प्रतीकात्मक विशिष्टता भी दर्शायी गयी है।[1]

रेखा, स्वच्छता और गत्यात्मक लय प्रदान करती हैं और पुन्ज या ठोस रूप आकार को सांकेतिक करती है, जिसे 'टोन' पूर्ण स्थानिक अभिव्यक्त प्रदान करता है। इन सबमें रंग को जोड़ दिया जाता है तो उसकी क्रिया की सरलतम् व्याख्या इसे चित्रकला के सत्याभास का अतिरंजन समझती है। रंग का उपयोग स्वाभाविक कहा जा सकता है, किन्तु इस रूप में उपयोग विरल है। इस स्वाभाविक उपयोग के अतिरिक्त तीन वृत्तियाँ और देखी जा सकती हैं, सांदेशिक, सामन्जस्य और शुद्ध, रंग का सांदेशिक उपयोग शायद सबसे प्राचीन

1. भारतीय कला का अध्ययन, ले0- नीहार रंजन राय, पृष्ठ-142-143

है-प्रस्तर युग की रंजित शिला-चित्रावलियाँ बहुत ही कठिनाई से स्वाभाविक कही जा सकती है। इस वृत्त में रंग का उपयोग उसके प्रतीकात्मक महत्व के लिये किया जाता है। मध्यकालीन चित्रकला में रंग का उपयोग परम्परा-विहित था। यह सांदेशिक वृत्ति थी।[1]

हमें वस्तुओं का वर्ण बोध या रंग बोध प्रकाश किरणों के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। ये प्रकाश किरणें वस्तु से प्रतिबिम्बित होकर (रेटिना) दृष्टि पटल तक पहुँचती है, इसलिए प्रकाश के कारण वस्तु के रंग में अन्तर आ जाता है। रंग का अनुभव नितान्त व्यक्तिगत है जो व्यक्ति की इन्द्रिय रचना पर निर्भर है।... रंगों और प्रकाश का अटूट सम्बन्ध है, इसलिये प्रकाश के बिना रंग का अनुभव किया जाना असम्भव सा है। रंगों के मानसिक, भौतिक और रासायनिक तीन महत्वपूर्ण पहलू होते हैं जो रंगों के बनाने की प्रक्रिया उसके भौतिक स्वरूप, रंग की रंगत, विशुद्धता एवं रंग की संवेदनाओं के परीक्षण के आधार पर चित्र रचनायें की हैं उनमें विन्सेण्ट वानगॉग का नाम प्रमुख है।[2]

रंगों के तीन प्रमुख गुण माने गये हैं - रंगत, बल और घनत्व। बल रंगों को गहरा या हल्का बनाते हैं।

हमें जो वर्ण बोध होता है उसका कारण रंगों की तरंग लम्बाई है। रंगों की तरंग लम्बाई के अनुसार हम उनसे कम या अधिक प्रभावित होते हैं। ऊष्ण वातावरण में शीतल रंग तथा शीतल वातावरण में ऊष्ण रंग रुचिकर प्रतीत होते हैं।[3]

---

1. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्विक विवेचना, ले0-रामलखन शुक्ल, पृष्ठ-231-232
2. रूपालेख्या, ले0-डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा, पृष्ठ-50
3. Foundations of Psychology, Boring, P. 259

यदि रंग बहुत चमकीला अथवा एकदम फीका न हो तो किसी चित्र की आकृतियों के अतिरिक्त वह स्वयं भी नेत्र रंजक होती है। थोड़े से स्थान में भरा हुआ विशुद्ध एवं चमकीला रंग अत्यन्त सुखकर प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार नेत्रों को वही वर्ण-बोध अच्छा लगता है, जिससे नेत्रों की माँसपेशियों को विश्रान्ति एवं ताजगी का अनुभव हो। भड़कीले एवं ऊष्ण रंग यदि सम्पूर्ण चित्र में भरे हों तो उनसे नेत्रों को विश्रान्ति नहीं मिलेगी। इसी प्रकार यदि फीके और धुँधले रंग चित्र में भरे होगे तो उन्हें देखने में अधिक परिश्रम करने के कारण नेत्रों को थकान प्रतीत होगी। यदि सभी आकृतियों में लगभग एक से रंग भरे होंगे तो भी सुन्दर नहीं लगेगी, अतः चित्र में वर्ण-वैपरीत्य आवश्यक है। चित्र में प्रयुक्त सभी रंग अपना-अपना स्पष्ट एवं पृथक् प्रभाव उत्पन्न कर रहे हों, तथा शीतल रंगों के माध्यम कहीं-कहीं ऊष्ण रंगों का प्रयोग हो यही वर्ण वैपरीत है।[1] सारांश यह कि किंचित उष्ण एवं सशक्त प्रभाव की सृष्टि करने वाले रंग नेत्रों को अच्छे लगते हैं।

'नाट्यशास्त्र' में विभिन्न रसों के रंगों का भी उल्लेख है। श्रृंगार रस को श्याम, हास्य को श्वेत, करुण को कपोत वर्ण, रौद्र को रक्त, वीर को गौर, भयानक को कृष्ण, वीभत्स को नील तथा अद्भुत को पीत वर्ण कहा गया है।[2] भारत में विभिन्न मनुष्यों की आयु एवं प्रकृति के विचारों से भी रंगों का निर्देश दिया गया है।[3]

रंगों का महत्व समय शाश्वत हैं, इसीलिये हम देखते हैं कि कुछ काल विशेष में कुछ विशेष रंगों को विशेष महत्व प्रदान किया गया हैं। अपने

---

1. The Psychology of Beauty, E.D. Putter, P. 96
2. चित्रसूत्रम, 6/42-43
3. चित्रसूत्रम, 26/88-105

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'फार्म एण्ड कलर' (रूप और रंग) में मार्च फिलिप्स इस बात पर बल देते हैं कि रंग संवेगात्मक बोध है जबकि रूप बौद्धिक अनुभूति है। परिणामत: द्रुत और महत्वपूर्ण चिन्तन के कला विधियों भास्कर्य के विकास के उच्चतम् शिखरों के साथ सम्बद्ध होगी, जबकि संवेगात्मक संवेदनशीलता और मृदुलता की युग चित्रकला अनुपम ऊचाँईयों के साथ संबद्ध होंगे।[1]

रंगों या प्रकाश-छाया का सामंजस्य (Tone) ऐसा शब्द है जो अनेक कलाओं में उपयोगी सिद्ध होता है। संगीत में इसका प्रयोग सबसे पहले हुआ था और आगे चलकर चित्रकला में भी यह प्रयुक्त होने लगा। रस्किन के अनुसार ''टोन' का अर्थ है : वस्तुओं की विश्रांति और संबंध एक-दूसरे के विरोध में और एक-दूसरे के साथ, तत्व रूप में और छाया रूप में जैसे कि एक-दूसरे के निकटतर हैं, या दूर हैं और उन सबकी छाया का चित्र में मुख्य प्रकाश के साथ पूर्ण संबंध, और दूसरा अर्थ है: छाया के रंगों और प्रकाश के रंगों का पूर्ण संबंध, जिससे वे एक ही प्रकाश के भिन्न-भिन्न अंश के रूप में ही अनुभूत किए जा सकें।' यह बहुत ही स्पष्ट परिभाषा नहीं है। रेखा अमूर्तीकरण है : इसका वस्तुओं के चाक्षुष आभास से कोई संबन्ध नहीं है, यह उस आभास को केवल संकेतित करती हैं यह किसी वस्तु के प्रकाश-प्रबन्ध को संकेतित कर सकती है, किन्तु इसका प्रधान संबंध ठोस वस्तुओं के वस्तुनिष्ठ यथार्थ के साथ है प्रकाश अस्थिर (ताल) होता है : यह परिवर्तनशील तत्व है, सर्वदा अपनी तीव्रता के कोण और घटना के कोण को परिवर्तित करता रहता है। इस कारण यह रेखा से जो स्थित और निश्चित रहती है,

---

1. भारतीय कला का विकास, ले0 डॉ0 राधाकुमार मुखर्जी, पृ0-361

प्रतिरूपित नहीं किया जा सकता और इसी कारण छायाकरण-उपस्थापन किया जाता है। प्रकाश श्वेत और श्याम के अतिरेकों के मध्य क्रम-विन्यास से प्रतिरूपित होता है और उस समय जब रंग का उपयोग किया जाता है, उस स्थिति में काले रंग की कुछ मात्रा से प्रकाश की पूर्ण उज्ज्वलता को अवशोषित करने से छाया का वैषम्य प्रदर्शित करने के लिए वह प्रकाश प्रतिरूपित किया जा सकता है।

यह छायाकरण की अनुक्रमिता प्रक्रिया तीन विभिन्न गुणों को प्रतिरूपित करने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है : 1. किसी एक रंग या पुंज के क्षेत्र में प्रकाश से छाया की ओर संक्रम, 2. एकल रंगीन प्रतिरूपण में तटस्थ से पृथक् विभिन्न रंगों की आपेक्षिक तीव्रता और 3. चित्र में मुख्य प्रकाश के संबंध में हल्कापन या गहरापन का यथार्थ अंश-समग्र चित्र के लिए स्थापित यह संबंध का भाव है।[1]

रूप आकार चित्रकला के तत्वों में से सबसे अधिक कठिन होता है जो चित्रकला में कलाकृति के निर्मित में सहायक होते हैं इसमें अत्यन्त सूक्ष्म प्रकार के प्रश्न पर भी प्रश्न गर्भित रहते हैं। किसी भी कलाकृति के रूप-आकार दो प्रकार के होते हैं, वस्तुकलात्मक और प्रतीकात्मक या अमूर्त। चित्रकार आकृतियों तथा अन्य विषयों की निर्मित किसी स्थायी प्रकार के संरचनात्मक आधार पर करता है। अभिजात चित्रकला इसी प्रकार की है, उसका सर्वमान्य प्रभाव स्थिर या संवृत रचना का होता है। इस प्रकार का विरोधी और सामान्यतः समय-समय पर इसके साथ ही परिवर्तनीय रचना का एक रूप-आकार ऐसा

---

1. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन, ले0-डॉ0 रामलखन शुक्ल, पृ0-231

होता है जो वस्तु कलात्मक होते हुये भी, गत्यात्मक और विवृत्त होता है। चित्र के ढाँचे की सीमायें उपेक्षित कर दी जाती हैं, फलक का यथार्थ धरातल उपेक्षित कर दिया जाता है, स्थानिक आशय प्राप्त कर लिया जाता है, जो चित्र में अथवा चित्र के बाहर प्रवाहित होता है, किसी रूप में सीमा से परे और गति की रेखायें जब तक ही स्रोत में आगे बढ़ती है, समान और विरोधी होती हैं, किसी रूप में सीमा से परे और, गति की रेखायें केन्द्रापसारी, किन्तु सन्तुलित होती हैं। अपनी रचना को निर्मित करने में कलाकार बौद्धिक या सहज वृत्यात्मक रूप में आगे बढ़ता है और शायद प्राय: आंशिक रूप में दूसरी प्रणाली से आगे बढ़ता है। किन्तु पुनर्जागरण काल के अधिकांश कलाकार बौद्धिक रचना के प्रति पूर्वाग्रह से युक्त थे, जो प्राय: गणितीय अनुपात आधारित होती थी यह वास्तु कला या मूर्तिकला के समान होती है। रचना की वह विशिष्टता जिस 'लय' नाम से अभिहित किया जाता है, वस्तु कलात्मक रूप-आकार के स्वरूप के अन्तर्गत आती है। चित्रकला में 'लय' के निर्मित रेखा की परिधि मात्र से नहीं हो सकती, वरन् सामान्य रूप में न्यून होते क्रम में पुँज की पुनरावृत्ति से भी हो सकती है।

प्रतीकात्मक रूप-आकार को व्यवस्थापित करना और भी कठिन है। प्रतीक याहच्छिक् उद्भव का रूप-आकार हो सकता है, केवल ऐसी वस्तु मूर्तिकरण जिसका आकार हो और निश्चितता हो और जिसमें अनिश्चित और वैयक्तिक संवेग हो। यह पूर्णत: निश्चित प्रतीत होता है कि कला अपने रूपात्मक पक्षों में अपना प्रभाव इस प्रकार प्रतीकात्मक रूप-आकार की रचना से अचेतन रूप में प्राप्त करती है।

रूप का कार्य विषय वस्तु के अर्थ को सामने लाना है, दूसरे शब्दों में यदि कहें तो रूप विषय वस्तु को पूरी तरह व्यक्त और अव्यक्त अर्थ से, जैसा की स्वयं कलाकार अनुभव करता है, युक्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार रूप उद्देश्य के लिये साधना का काम करता है। किसी भी माध्यम के अर्थ में कला की तर्क संगत कार्यप्रणाली का अतिक्रमण करता है और आवश्यकता से अधिक जोर देता है तो वह कलाकृति उस दबाव व अतिक्रमण के अनुसार अपने अन्तिम उद्देश्य को उत्पन्न कर सकने में विफल मानी जाती है।

पूर्व के अध्यायों में उल्लेख किया गया है कि भारतीय सृजनकर्ता इन्द्रिय-ग्राह्य भौतिक-जगत को नहीं स्वीकार किया है क्योंकि यह विश्व केवल वाह्य नहीं है अन्त:ग्राही भी है। अत: आकृतियों को सृजित करते वक्त वह भावों को प्राथमिकता देता है। भावों के आधार. पर जो आकृतियाँ चित्रित की जाती हैं, उन्हें दृश्यजगत के रूप का भाषागत सूक्ष्म शरीर कह सकते हैं।[1] आकृतियों की रचना वस्तुओं को सामने रखकर नहीं की जाती वरन् ध्यान के द्वारा की जाती है। यह विधि योग साधना से बहुत मिलती है। प्रतिभा के निर्माता कलाकार योगी की भाँति साधन मन्त्र से देवता को आकर्षित करता है, मानों कहीं दूर से खींचकर मन में बिठा रहा हो।[2] इस रूप को वह जितनी देर तक चाहता है देखता रहता है।[3]

---

1. "The human body transformed by yogo is shown free not only from defects, but also from its actual Physical nature, The Sensation of Lightness of release from the bondage of the physical body induced by the practice of yoga. Produces the subtle body. The subtle body is filled by breath and nourished by the pusating sap of life it is the vehicle for states of realçation above the physical state, in art, it is receptacle, conduit and shape, I. bid, P.15
2. "The maber of on icon, having vy Various means proper to the practice of yoga procuds to isualçe the frame of the 'clevata' angel or asset of God, described in given canonical presenption, sadhan-Martrara dhyama, The minel 'produces' or "draws" (a barsti) this from the itself , as though from a great olistance"-A.K. ceamara-swamy. The Transformation of nature in art, P.-6
3. "एवम् रूपम् यादृदिच्छति तावद् विभावयति"- I bid, P.-6

तात्पर्य यह कि भारतीय चित्रशास्त्र के अनुसार चित्रकला का आधार भौतिक जगत न होकर उसका भागवत् आदर्श रूप हैं। भागवत् के रूप की उपासना के हेतु कलाकार को स्वयं भी वैसा ही बनना होता है।[1] आकृति चित्रण चित्रकला का एक स्वतन्त्र विषय है, उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और उसकी विधायें बहुत सूक्ष्म हैं। इस क्षेत्र में प्रवेश पाने वाले प्रत्येक जिज्ञासु के लिये यह आवश्यक समझा जाता रहा है कि वह भलीभाँति चित्रकला की बारीकियों का अध्ययन-मनन करने के बाद ही क्रमशः आगे बढ़े।

आकृतिचित्र, प्रकृतिचित्र, व्यक्तिचित्र और लघुचित्र आदि, चित्रों के अनेक भेद बताये गये हैं, उनकी अपनी नियमावली तथा अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं।

चित्रसूत्रम् में तेरह प्रकार की प्रमुख आकृतियाँ बतायी गयी हैं। ये तेरह आकृतियाँ भी अवस्था विशेष के कारण कई गुनी हो जाती हैं।[2]

आकृति भेद जान लेने के पश्चात् भी, चित्रकला में प्राचीन आचार्यो ने आकृतियों के कुछ वर्ग सुनिश्चित किये हैं, जैसे- देवता, ऋषि, राजा, पुरातन् मनुष्य, किन्नर, राक्षस, वेश्या, संभ्रान्त कुल की स्त्रियाँ, शूद्र, भाट, दूत, द्वारपाल, शिल्पकार, पशु, पक्षी, जानवर और प्राकृतिक दृश्य। इन विभिन्न आकृतियों को चित्रण करने के लिए विभिन्न विधान हैं।

---

1. "नादेवों देवंयजेत् देवो मूत्वा देवम् यजेत"-वृहदारण्यक 1/4/20, I. bid, P-7
2. इन तरेह प्रकार की आकृतियों का नाम है- (1) ऋज्वागत (सामने के आकर), (2) अनृजु (पृष्ठभाग), (3)सांचीकृत शरीर (झुके शरी वाले आकार), (4) अर्ध विलोचन (एक आँख युक्त), (5) पार्श्वगत (एक पाश्व्र युक्त) (6) पुरावृत्त (एक कपोलयुक्त), (7) पृष्ठागत (शरीर का पृष्ठभाग), (8) परिवृत्त (गोलाकृति), (9) समानता (पूर्णतया झुका हुआ शरीर का ऊपरी भाग), (10) समाभंग या समापट्ट (दायाँ-बाँया भाग एक समान), (11) अभंग (दाहिनी ओर झुका हुआ शरीर का ऊपरी भाग), (12) त्रिभंग (अंग्रेजी के 'Z' अक्षर के समान) और (13) अतिभंग (शरीर का अतिशय रूप से झुका होना), भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैरोला, पृ0-61

'चित्रसूत्रम्' में आकृतियों का वर्गीकरण करते हुए इसे पाँच वर्गो में विभक्त किया गया है- (1) हंस, (2) भद्र, (3) मालव्य, (4) रूचक और (5) शशक।[1] इसी प्रकार कामसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार यशोधर पण्डित ने (11वीं-12वीं शताब्दी) ने अपनी टीका "जयमंगला" में चित्रकला के छः अंग बताये, उसमें आकार और आकृति चित्रण तथा रूप की अभिव्यक्ति 'प्रमाणनि' और 'सादृश्य' के सिद्धान्त के अनुरूप होना चाहिये। 'सादृश्य' के अन्तर्गत कलाकार से इस तरह की अभिव्यक्ति और चित्रण की अपेक्षा रहती है कि कोई वस्तु, तथ्य या स्थिति कितनी भी अलग होने पर भी जीवन और प्रकृति का वास्तविक वस्तुओं से अपना संबंध, साम्यता या सादृश्यता समाप्त न कर बैठे। यह कहा जाता है कि इन दोनों के बीच किसी न किसी तरह की सहमति अवश्य होनी चाहिए और यह सहमति वाह्य आकार या आकृति में उतनी न हो जितनी भीतरी अर्थ और रूप में। इसका विस्तृत उल्लेख अध्याय-दो में हो चुका है।

रूप--रूप में विभिन्नता, रूप का मर्म भेद या रहस्य-उद्घाटन-जीवित रूप-निर्जीव रूप--चाक्षरूप, मानसरूप, सुरूप, कुरूप इत्यादि। माँ के गोद में सबसे पहले आँखें खोलने से लेकर हम रूप को ही देख रहे हैं। ज्योति पश्यति रूपाणि। ग्रह नक्षत्र की ज्योति रूप को प्रकट कर रही है, आत्मा की ज्योति रूप को प्रकट कर रही है- आलोक के छन्द में, भाव के छन्द में बहुधा बहु प्रकार से।[2]

---

1. (1) हंस-108 अंगुल, (2) भद्र-106 अंगुल, (3) मालव्य-104 अंगुल, (4) रूचक-150 अंगुल और (5) शशक-90 अंगुल, भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैलोरा, पृ0-58
2. *ज्योति पश्यंति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्। ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरश्रोनुवृत्तवान् ।।33।।*
   शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलोरूणस्तथा। कठिनश्चिक्कणः श्लक्षणः पिच्छिलो मृदुदाररूणः।।34।।
   -महाभारत, शाँति पर्व, मोक्षधर्म अध्याय 184
   ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण और नानाकोण-जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोणादि एवं गोलाकृति, अण्डाकृति, अथवा श्वेत, कृष्ण, नीलारूण (बैंगनी) तथा नानावर्णो के मिश्रित रूप; रक्त-पीतादि एक-एक स्वतन्त्र वर्ण रूप; कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण (सूक्ष्म, कृणि, स्निग्ध, स्वल्प) पिच्छिल, अर्थात् फिलहट पैदा करने वाला, जैसे कीचड़, जैसे जल, पिच्छल जैसे छात्राकार सोर की पूँछ; मृदु जैसे शिरीषफूल, दारूण जैसे लोहे का भीम, छोटे बड़े मोटे पतले, कटे छँटे, गोल, काले, सफेद, एक रंग, पँचरंगे इत्यादि।

गतिशीलता अथवा लय समस्त कलाओं की आत्मा होती है। जिसका अर्थ होता है- प्रवाह या गति,लय का आधार है। अर्थात् जब सृजनकर्ता समान तत्वों की पुनरावृत्ति करता है तो गतिशीलता का उदय होता है। इसे ही काव्य में हम अनुप्रास अलंकार के रूप में देखते हैं, इससे प्रधान भाव को बल मिलता है। चित्र में इसके प्रयोग से सौन्दर्य, मधुरता और सरसता उत्पन्न होती है। जब तक चित्रभूमि पर हम कुछ अंकित नहीं करते वह अक्षत् यानि शान्त रहती है। जैसे ही चित्र भूमि पर बिन्दु या रेखा का निर्माण करेंगे चित्रभूमि में गतिशीलता पैदा हो जायेगी और एक सुसम्बद्ध आवृत्तिमय पथ का निर्माण हो जाता है और दृष्टि आगे की ओर उसी दिशा में घूमने लगती है, इससे दर्शक को गति की अनुभूति होती है।[1]

चित्र भूमि अथवा चित्र का धरातल द्विआयामी अथवा द्विविस्तारात्मक होता है, इसमें अग्रभूमि, पृष्ठभूमि का विशेष विचार किया जाता है। तकनीकी विचार से इसको अंतराल विभाजन कहते हैं। पाश्चात्य कला विशेषज्ञों ने स्थान विभाजन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। भारतीय दृष्टिकोण से अग्रभूमि और पृष्ठभूमि के रूप में अधिकतर धरातल विभाजित किए गए हैं। अन्तराल में विस्तार की भावना समाविष्ट रहती हैं। यही विस्तार अथवा लम्बाई-चौड़ाई का विभाजन जिस पर चित्रकार चित्र रचना प्रस्तुत करता है, अन्तराल कहलाता है। अन्तराल चित्र का आधार स्तम्भ है। चित्र-भूमि विभाजन ही चित्र निर्माण की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। चित्रकारों को अपने कैनवास पर ही मन में कल्पित असीम विचारों को रूपायित करना रहता है, किस भाग में प्रमुख आकृति को दर्शाना है वह हिस्सा बड़ा होगा या गौड़ इत्यादि।

1. रूपालेख्य, ले0-डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा, पृ0-82

अन्तराल विभाजन अनादिकाल से अबतक विभिन्न रूपों में चला आ रहा है, भारत में अजन्ता की कला में इसका चरमरूप व पश्चिम में फ्लोरेन्स के चरम पुनरुत्थान में अपने पूर्व यौवन को प्राप्त किया है।

जैन, पश्चिमी एवं अपभ्रंश चित्रकला–

तुर्की आक्रमण के बावजूद पश्चिमी तथा उत्तरी भारतवर्ष की लघु चित्रकला की लोकप्रिय शैली उपेक्षा और अभाव के मध्य पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूरे उत्तरी भारत में विभिन्न नामों यथा जैन, गुजराती, पश्चिम भारतीय एवं अपभ्रंश के अन्तर्गत जीवित रही। डाक्टर कुमार स्वामी ने उसे जैन चित्रकारी कहा है, एन0सी0 मेहता ने उसको गुजराती शैली का नाम दिया, नॉरमन ब्राउन ने उसे 'पश्चिमी भारतीय शैली' की संज्ञा देना अधिक पसन्द किया है, और रायकृष्णदास ने इसे अपभ्रंश या विकृत शैली का नाम दिया है। कला समालोचकों के बीच बहुत विद्वतापूर्ण विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप 'पश्चिमी भारतीय शैली' का नाम इसके लिए अब सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि इस शैली का जन्म पश्चिमी भारत में हुआ था।[1]

इस शैली के चित्र 'कल्पसूत्र', 'बालगोपाल स्तुति', 'चौरपंचाशिका' आदि पोथियों में प्राप्त हैं जिनका उल्लेख अध्याय-2 में किया जा चुका है। चित्र क्रमांक-64 जैन कल्पसूत्र का सचित्र पन्ना लगभग 14वीं शताब्दी का है। चित्रकला की इस शैली की प्रमुख विशेषताओं का इन शब्दों में संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है, रेखा-चित्र अथवा चतुर्थांश (क्वार्टर) में बनाये गये कोणीय चेहरे जिनकी नाकें नुकीली, और दूर वाली आँख चेहरे से आगे निकली हुई,

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ले0-डॉ0 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ0-210

नजदीक वाली आँख ऐसी पूर्णतः खुली हुई मानों उसे सामने से देखा जा रहा हो और जो सम्पूर्ण चेहरे लम्बी कान तक खिंची हुई हो, कोणिक दुहरी ठोडी, पुरुषों की गोल छातियाँ जो देखने में स्त्रियों के वक्षस्थल सी लगती है, पतली कमर, विपुल बेल-बूटों से कढ़े हुए पारदर्शक वस्त्र, ठिगने कद की आकृतियाँ, रंगों का विशेषकर किरमिची अथवा ईंट जैसे लाल सिन्दूरी तथा पीले रंग का सीमित प्रयोग और सुनहरी तथा अति समुद्रीय नीले रंग का अत्यधिक प्रयोग।

अपभ्रंश शैली में नये विषयों के समावेश में हमें नया कृतित्व मिलता है, जैसे साम्प्रदायिक 'बाल गोपाल स्तुति', 'देवी-महात्म्य' आदि अथवा लौकिक काव्य 'वसन्त-विलास', बसन्त-विलास प्रारम्भिक गुजराती भाषा में शृंगार रस की रचना है। चित्रकार ने उसके वसन्ती वातावरण को पकड़ा है, अपनी परम्पराओं की परिधि में रहते हुए। इस शैली में सजीवता आयी।[1] इन सब में काव्यों के आख्यानों को रेखा, रंगों तथा आकृतियों के माध्यम से भली प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक अनुसन्धान के द्वारा ऐसी चित्रकारियाँ प्रकाश में आयी हैं जो उन चित्रकारियों से भिन्न हैं जिन्हें मिस्टर फारुकी ने "वेरुन चश्मी" शैली कहा है और अहमदाबाद की मुस्लिम सल्तनत के राजदरबार से सम्बन्धित प्रतीत होती है। ये चित्रकारियाँ अमीर खुसरो के 'खमसा' से लिये गये उदाहरण हैं जिनको पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य अथवा उत्तरार्द्ध में बनाया गया था। इसके बाद नियामतनाम (स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों की पुस्तकों से लिये गये चित्र हैं, जिन्हें मांडू के सुल्तान गियासुद्दीन (1469-1500 ई0) के लिए सोलहवीं शताब्दी के

---

1. भारतीय कला दृष्टि, ले0-सच्चिदानन्द वात्स्यान, पृ0-74-75

प्रथम दशक में तैयार किया गया था।[1] खम्सा-ए-निजामी जो राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में सुरक्षित है। चित्र क्रमांक-38 ये हैराती शैली की हैं और इनमें कुछ भी भारतीय नहीं है। "बादलों को चीनी ढंग में दिखाया गया है। पहाड़ियों को ईरानी की परम्परा के अनुसार बैंगनी, हरे तथा नीले रंगों से चित्रित किया गया है। अन्दर के दृश्यों में चित्रांकन विभिन्न प्रकार के हैं, जिनमें से अधिकतर रेखीय आकृतियाँ चीनी पर्यावरण लिए हुए हैं।"

मुगल चित्रकला -

भारत में मुगलों ने चित्रकला की जिस शैली की नींव डाली, वह एक ऐसे उन्नतिशील और शक्तिशाली कला आन्दोलन के रूप में विकसित हुई, जिसने उत्तरवर्ती मध्यकालीन युग में भारतीय कला के इतिहास की धारा को बदल दिया। यद्यपि बाबर ने इस देश में मुगल वंश की नींव रखी, और वह स्वंय कलात्मक रूचिसंपन्न व्यक्ति था, फिर भी इस बात का प्रमाण नहीं है कि वह मुगल चित्रकला का जन्मदाता भी था। उसका शासनकाल केवल चार वर्ष का ही था, इसलिए संभव है कि चित्रकला की ओर ध्यान देने का उसे समय ही न मिला हो।

एक विशिष्ट कला-शैली को जन्म देनें का श्रेय उसके पुत्र हुमायूँ को दिया जा सकता है। जब हुमायूँ फारस और अफगानिस्तान में कुछ वर्षो के लिए निर्वासित व्यक्ति का जीवन जी रहा था, तब उसने मुगल चित्रकला की नींव रखी।[2]

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ले0-आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ0-212
2. मध्यकालीन भारत-भाग-2, ले0-हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ0-469

अकबर मुसलमान होते हुए भी चित्रकला प्रेमी था। वह कहा करता था कि 'चित्रकला चित्रकार को अधर्मी बनाने की अपेक्षा उसे ईश्वर की ओर ही अधिक उन्मुख करती है, क्योंकि वह अपनी कृति में मौलिकता लाने के लिए ईश्वरीय कृपा का आकांक्षी होता है।'[1]

जहाँगीर ने अपने शहजादा काल में चित्रकला की जो परम्परा शुरू की, वही परम्परा उसके पादशाह बन जाने पर भी सक्रियता से चलती रही। आगे चलकर इसी परम्परा ने मुगल चित्रकला को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। पहले चित्रकारी हस्तलिखित ग्रंथ की विषय वस्तु से संबद्ध होती थी। जहाँगीर ने उसे बंधन से मुक्त कर दिया, क्योंकि इसकी इच्छा थी कि वह ऐसे उत्कृष्ट कलाकारों को अपनी चित्रणशाला में स्थान दे जो कला की विभिन्न शाखाओं में से किसी एक या एकाधिक शाखाओं में पारंगत हों और उसके पादशाहों द्वारा चुने गए विषयों के या व्यक्तियों के संपादित जीवन वाले चित्र बना सकें।[2]

मुगल काल में बने सुसज्जित ग्रन्थों की सूची अध्याय-दो में दी जा चुकी हैं। इन ग्रन्थों को सुसज्जित करने के लिए चित्रकारों ने रंगों, रेखाओं को मुगल शैली के अनुरूप रूप दिया जैसे - चित्र क्रमांक-63, चित्र क्रमांक 65 का विश्लेषण किया जा रहा है।

चित्र क्रमांक-63 रज्मनामा (महाभारत का फारसी अनुवाद) का चित्रण है। इस चित्र में रेखायें साफ महीन और लिपि की रेखाओं के समान हैं। रेखाओं में बल, गति और सजीवता होने के कारण यह चित्र निखर उठा है।

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ले0- आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ0-213
2. मध्यकालीन भारत-भाग-2, ले0-हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ0-475-476

सीमा रेखाओं के किनारों पर आवश्यक स्थानों पर डौल या गोलाई लाने के लिए सुकोमल छाया का प्रयोग किया गया है। इन रेखाओं के माध्यम से चरित्र-चित्रण की अपूर्व शक्ति उभर आयी है।

इस चित्र में रंग विधान सपाट, समान, चमकदार, स्वच्छ और स्थायी भाव के हैं। इस पूरे चित्रफलक में रंग योजना शीतल वर्ण की हैं। अग्रभूमि के पार्श्व में चित्रकार ने गहरे ओलाइभ-ग्रीन का प्रयोग किया है, जिससे पूरी पृष्ठभूमि में कहीं कहीं बहुत हल्के, उमड़ते-घुमड़ते बादलों का आभास होता है तो कहीं-कहीं पीले--छीटे, तारों के समान। मुगल चित्रकला में एक प्रचलन सा मिलता है, जो इस काल के लगभग सम्पूर्ण चित्रों में दृष्टिगत होता है, जैसे-सफेद संगमरमर का रंग। इस प्रकार का वर्ण इससे पूर्व भारतीय चित्रकला में नहीं दिखता। इसको तैयार करने के लिये सफेद पत्थरके चूर्ण को घिसा जाता था जो संगमरमर सा प्रभाव उत्पन्न करता था। इसको चित्र संख्या-63 के अग्रभूमि के निचले हिस्से (फर्श) तथा दायें-बाँये के खम्भों में भरा गया है एवं इन खम्भों के ऊपरी हिस्से में स्वर्ण की कतरनों से पच्चीकारी की गयी है इस सन्दर्भ में संगमरमर के पत्थर पर जवाहरात से की गयी जड़ावत विशेष उल्लेखनीय है जो सुव्यवस्थित अनुपात पर आधारित है। अकबर और शाहजहाँ के काल में संगमरमर और बलुआ पत्थर पर इस प्रकार की जड़ता, पच्चीकारी और अलंकरण विशेष रूप से देखने को मिलता है जो पूर्व के काल में देखने को नहीं मिलता।[1] अग्रभूमि के प्रधान आकृति के चारो ओर स्वर्ण रंजित बेल-बूटेदार बारीक अलंकृत हाशिये का निर्माण किया गया है, जिसका रंग पन्ना

1. मध्यकालीन भारत भाग--2, ले0-हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ0-451

नामक पत्थर के समान है। ये मुगल काल की वैभवता को प्रदर्शित करते हैं। अलंकरण के सम्बन्ध में प्रो0 रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य है कि 'जिस समय देश धन-धान्य से सम्पन्न और आनन्दमय होता है, उस समय वहाँ की कला तथा जीवन दोनों में अलंकरण का महत्व सबसे अधिक होता है। अलंकरण का प्राण लय, छन्द, गति, सन्तुलन तथा ताल होता है।... मुगलकालीन चित्रों का अलंकरण प्राण ही था।[1] यह अलंकृत हाशिया नदी के कलरव के समान जो छन-छन करती चाँदनी की रोशनी में नहायी समान वेग के तरंगों में प्रवाहित होती मन्थर गति से चली जा रही है। जिसमें गति का प्रवाह स्थिर नहीं होता। निचले हिस्से के मध्य श्वेत आयत में फारसी में आलेखन हुआ है, तथा आलेखन 'ग्रे' से है। इसके पश्चात् बचे हुए भाग में नीला तथा दाँये, बाँये की आकृति योजना धुँधले 'ओलाइम ग्रीन' से की गयी है। रंग विधान नैनों को शान्ति व सरसता प्रदान करती है, इस पूरे चित्रफलक में उष्णता नहीं अपितु शीतलता हैं आकृतियों में रंगों को आकृतियों के अनुसार भरा गया है, जिससे चित्र में सजीवता, सरसता तथा शास्त्रों में वर्णित तेजस्व उत्पन्न हो गया है।

सादृश्य और यथार्थता लाने के लिए आकृतियों में आवश्यकतानुसार छाया का प्रयोग किया गया है, जिससे गहराई और उठा हुआ भाग चित्र में स्पष्ट दिखायी पड़ने लगा है। यह छाया प्राय: बगलों तथा चेहरे में कान तथा जबड़े के नीचे और हाथ, पेट तथा पाँव में लगाई गयी है। इस छाया को महीन तूलिका से आरेन्ज रंग के सम्मिश्रित बल से, पास-पास महीन तथा छोटी रेखाओं को खींच कर 'खत परदाज' के द्वारा बनाया गया है।

---

1. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, ले0-रामचन्द्र शुक्ल, पृ0-102

गणेश को सृजित करते समय रचनाकार उन्हें कमलाशन पर त्रिभुजाकृति, उर्ध्वमुखी होकर बनाया है, यह उल्लेखित है कि ऊपर की शीर्ष वाली त्रिभुजाकृतियों से ऊर्ध्वमुखी गति एवं ऊर्जा का संकेत मिलता है, यह पौरुष का भी प्रतीक है। इस चित्र में गणेश की आकृति से ऊर्जा का संचार हो रहा है तथा पुरुषत्व का भी।

इनको चार भुजाओं सहित रचित किया गया है, चारों भुजाओं में शून्यता न उपस्थित हो जाये इसलिये इनको सक्रिय रूप देने के लिये एक हाथ में वेद, दूसरे में शंख, तीसरे में कमल और चौथे में बरछी अंकित है। यहाँ ये चारो भुजायें गणेश की चार शक्तियों के द्योतक हैं। गौरवर्ण उनके सौम्यता और सरलता का द्योतक है। हिन्दू धर्म में गणेश सभी देवताओं से श्रेष्ठ माने जाते हैं, शायद इसीलिये यहाँ चित्रकार ने विष्णु-लक्ष्मी व शिव-पार्वती से भी अधिक प्रमुखता देते हुए गणेश को मुख्य भाग में सक्रिय आकृतियों के रूप में उद्धृत किया है। अजन्ता आदि की कला में प्रमुख आकृतियों को या जो देवत्व को व्यक्त करती थी उन्हें बड़ा रूप दिया जाता था, चित्रशास्त्र में भी उत्तम आकृतियों को नौ ताल में चित्रित करने की बात की गयी है, यहाँ गणेश को इसी परिप्रेक्ष्य में रखा गया है। गणेश के एक हाथ में वेद होना यह दर्शा रहा है कि (वेद दुनिया की आदि रचना है और वेद के द्वारा ही सृष्टि का संचालन होता है) गणेश इसके ज्ञाता हैं। शंख प्रभात की गूँज हैं, सृष्टि का प्रभात मानो इसी से हुआ है तो कमल, शान्ति, कोमलता और सरसता का तथा एक हाथ में बरछी होना द्योतक है पापियों के संहार का। ज्ञान, जीवन के प्रारम्भ, शान्ति व विनाश के रूप में गणेश को यहाँ चित्रित किया गया है। इस

प्रकार के चित्र विषय प्रधान चित्र कहलाते हैं।... भारतीय विषय प्रधान चित्रों में प्राय: कोई न कोई भाव अवश्य मिलता है, परन्तु पश्चात्य देशों में अधिकतर वस्तुओं के प्राकृतिक रूप को ही विभिन्न ढंगों से बनाया गया है।[1] मुगल काल के चित्रों में यथार्थता का अधिक समावेश है इसी कारण इस चित्रफलक में हस्त-मुद्राओं तथा अंग-भंगिमाओं में स्वाभाविकता अधिक है। पद्मासन में बैठे गणेश को धोती पहनायी गयी है, धोती में स्वाभाविक सिकुड़न को दर्शाया गया है। पारम्भिक मुगल शैली में कपड़ों को कोणात्मक रूप में दर्शाया जाता था और आकृतियों को अलंकृत कर दिया जाता था। परन्तु ये दोनों ही गुण इस चित्र में नदारद हैं, जिससे फलक पूर्णत: भारतीय होकर उभरा है। गणेश को स्वाभाविक आभूषणों के साथ सादगी में (श्वेत मोतियों की चूड़ी, भुजदण्ड, पुष्पों की माला से अलंकृत) एवं इनकी सवारी चूहे को भी बखूबी चित्रित किया गया है।

दो परिचारिकायें गणेश के दायें तथा बायें चित्रित की गयी हैं, इनको इहलोक के नारीत्व का भास देने के लिए गणेश की आकृति से छोटी करके रचित किया गया है। दोनों परिचारिकायें आकृतियाँ पूर्णत: भारतीय रूप लिये हुए हैं। परन्तु सिर की तुलना में पूरे शरीर का आकार छोटा है। जिससे इन आकृतियों में शास्त्रीयता नहीं झलकती। मुगल आकृतियों में यथार्थता के कारण चेहरे को स्पष्ट रूप कलाकार ने प्रदान किया है। भौंहें स्पष्ट बारीक तथा आँखें बड़ी-बड़ी मीन के समान हैं, बॉयीं ओर की आकृति का दाँया हाथ ऊपर मोर पंख लिये हुए एवं बाया हाथ नीचे। कलाईयों में सोने की चूड़ियाँ दोनों पाँव

---

1. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, ले0-रामचन्द्र शुक्ल, पृ0-104

एक साथ थोड़े से आगे-पीछे करके चित्रित किये गये हैं, जिससे इस चित्र में गति का सम्पूर्ण संचार होता है। दाँयीं ओर की परिचारिका आकृति में भी जड़ता नहीं आये इसीलिये कलाकार ने दांयें हाथ को ऊपर बाँया हाथ स्वाभाविक कार्य की मुद्रा में नीचे हैं। ये आकृतियाँ 'विष्णु धर्मोत्तर' पुराण के 'चित्रसूत्र' के 'पार्श्वाग' के अनुसार है। 'पार्श्वगत' वो आकृति होती है जो एक पार्श्व चाहे वह दाँया हो चाहे बाँया सम्पूर्ण रूप से ऊपर तारा के समान प्रतीत होता है। पूरे चित्र में रमणीयता रहती है और चित्रण माधुर्य गुण समन्वित होता है। इसको भित्तिक भी कहते हैं।[1]

नीचे के भाग में बाँयें तरफ विष्णु को चार भुजाओं सहित कमलासन पर व लक्ष्मी को अलग कमलासन पर बिठाया गया है। प्रो0 रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "इस प्रकार विष्णु के चारों हाथ और श्याम रंग उनकी शक्तियों और प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इस तरह प्रकृत्ति के ही रूपों द्वारा चित्र में चित्रकार कोई भाव भर सकता है।"[2] दाँयें तरफ भगवान शंकर को माँ पार्वती के साथ मृगछाले पर चित्रित किया गया है। भगवान शंकर को अंकित करते समय कलाकार ने व्याकुलता का परिचय दिया है, जिससे अन्य आकृतियों की अपेक्षा इस आकृती में वो स्वाभाविकता नहीं उभर पायी है। भगवान शंकर की आकृती को देखने से डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा का यह कथ्य सामने उभरकर आता है कि "यह निश्चित ही समझना चाहिये कि रूप में सुख के अनुभव से 'सुरूप' और दुःख के अनुभव से 'कुरूप' का आविर्भाव होता है। सुख और दुःख

---

1. चित्रसूत्रम्, 39/17-20
2. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, ले0-रामचन्द्र शुक्ल, पृ0-104

वस्तु के गुण नहीं, किन्तु अनुभविता आत्मा के गुण हैं"[1] और यही गुण भगवान शंकर की इस आकृति से उभरता है।

इस चित्र में सृजनकर्ता ने सहयोगकृतियों के द्वारा प्रधान आकृति को चमत्कारपूर्ण रूप प्रदान किया है, जिससे दर्शक की दृष्टि पूरे फलक के प्रधान आकृती में जाकर पुनः सहयोगाकृतियों से लय में बँधते हुये प्रधान आंकृति पर थम जाती है, जिससे चक्षु को सरलता व आत्मा को माधुर्य मिलता है।

चित्रफलक में कलाकार ने सन्तुलन बनाये रखने के लिये स्थान विभाजन के नियमों का पालन करते हुये, प्रमुख आकृति के संग सहायक आकृतियों का संयोजन इस प्रकार किया है कि चित्रसजीव हो गया है। धनात्मक अन्तराल तथा ऋणात्मक अन्तराल को स्पष्ट करने के लिये चित्रस्रष्टा ने अपनी बौद्धिकता का परिचय देते हुये क्षैतिज तल के समानान्तर इसको प्रस्तुत किया है। जो मुगल चित्रकला की एक विशिष्ट पहचान है।

चित्र में धनात्मक अन्तराल सम्पूर्ण चित्र के लगभग तीन चौथाई हिस्से में उपस्थित है। धनात्मक अन्तराल को आकर्षक बनाने के लिये कलाकार ने इसके चारों तरफ बेल-बूटेदार हाशिये की योजना का निरूपण किया है। इस हाशिये को बड़ी ही बारीकी से अपनी कुशलता से आलंकारिक रूप प्रदान किया है। पूर्व पृष्ठों में उद्धृत किया जा चुका है, कि मुगलों के आगमन से एक कला का आविर्भाव हुआ जिसे हम मुगल चित्रकला कहते हैं। चूँकि यह चित्रफलक भी मुगल चित्रकारों द्वारा सृजित है, अतएव मुगल कला की विशेषता इसमें पूर्णतः आच्छादित है। हाशिये बनाने की परम्परा भी मुगल कला की एक प्रमुख

---

1. सौन्दर्यशास्त्र, डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, पृ0-60

विशेषताओं में से है और गत परम्परा ईरान से अनुकृत की गयी है। डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल मुगल हाशिये की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "मुगल' चित्रों के हाशिये भी बहुत परिश्रम से बनाये गये हैं और कहीं-कहीं तो यह चित्र से भी अधिक प्रभावशाली है। इसमें उभरी हुयी डिजाइनें भी अंकित की गयी हैं।"[1] इस हाशिये के बीच का रिक्त स्थान इस चित्र की मुख्यभूमि है। मुख्यभूमि में कहीं शून्यता अथवा स्थिरता की स्थिति न पैदा हो जाय, इसका भी चित्रस्रष्टा ने समुचित ध्यान रखते हुए संयोजन किया है, व इस भूमि को चार भागों में विभक्त कर दिया है। अत्यधिक स्थानान्तर या दूरी दिखाने के लिये क्षैतिज तल में चित्र के ऊपरी भाग को रखा गया है, इसके पश्चात् मध्यभूमि या मुख्यभूमि है जो एक चौथाई स्थान में है वह इन दोनों को ऊपरी भाग तथा मध्यभाग दोनों के बायें तथा दायें के कुछ-कुछ हिस्सों को ऊर्ध्वाधर भाग में खण्डित किया गया है। चित्र की प्रधान आकृति गणेश व उनकी परिचारिकायें इसी भाग में स्थापित की गयी हैं।

ऋणात्मक अन्तराल में इस चित्रफलक का निचला हिस्सा जो सम्पूर्ण चित्र फलक के एक चौथाई से कुछ ज्यादा है, इस हिस्से को कलाकार ने अलंकृत हाशिये से नहीं बाधा है। चित्रकार ने इसे दो अलग-अलग भागों में पृथक करते हुए एकता पर बल दिया है, जिससे चित्र संयोजन में सौन्दर्यात्मक एकता उत्पन्न हो गयी है। सम्पूर्ण चित्र को बाँधने के लिये समान दूरी की ऊर्ध्वाधर तथा क्षैतिज रेखाओं से सीमाओं की योजना की गयी है। इस प्रकार के अन्तराल विभाजन से दर्शक की दृष्टि 'मुख्यभूमि' से हटते ही 'गौणभूमि' पर

---

1. कला और कलम, डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-184

टिक जाती है तथा चित्र में एकरसता का समापन हो जाता है। यहाँ पर यह कृति चित्रकला के इस नियम का भरपूर पालन करते हुये परिलक्षित होती है कि 'सहयोग' ही ऐसा तत्व है, जिसका "मुख्य प्रयोजन है किसी भी कलाकृति को उसके चमत्कारपूर्ण आकर्षण के विघटन से बचायें।"[1] इस प्रकार इस चित्रफलक में सहयोग के तत्व विद्यमान हैं।

चित्र क्रमांक-65 रामायण के फारसी अनुवाद का एक सचित्र पृष्ठ है, इसमें अत्यधिक महीनकारी की गई है। महीन एवं नुकीली तूलिका से इतनी पतली रेखायें खींची गई है कि कोमल रेखा का प्रभाव उत्पन्न करती हैं। कोमल रेखायें किंचित लोचदार कहीं हल्की कहीं गहरी, कहीं धुँधली और कहीं स्पष्ट होती है। मुगल काल में रेखाओं को इतना बारीक ढंग से खींचा जाता था कि कभी-कभी तो कोरी आँख से देख भी नहीं सकते थे और उसके हेतु सूक्ष्मदर्शी की आवश्यता पड़ती है। ये विशेषता इस चित्र में भी है। हनुमान तथा पर्वत व पशुओं को चित्रित करते हुए चित्रकार ने उर्ध्व रेखाओं का प्रयोग किया है जो प्रतिरोध, शक्ति संतुलन, दृढ़ता, संयम, ईमानदारी, सत्य, कठोरता, महत्वाकांक्षा, दिव्यता तथा प्रतिष्ठा आदि की व्यंजक होती है।[2] इस प्रकार से हनुमान में ये सब विशेषतायें एक साथ समाहित कर दी गयी हैं।

हल्के रंगों का विधान सम्पूर्ण पट पर बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है, जिससे फलक पर कहीं भी नाटकीयता का प्रदर्शन नहीं होता। संपूर्ण फलक के पृष्ठ भाग में क्षितिज को उसके अपने आसमानी रंग के समान बल के साथ

1. रूपालेख्य, ले0-डॉ0 रामकुमार विश्वकर्मा, पृ0-74
2. रूपांकन, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-21

भर दिया गया है। डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा के अनुसार "आकाश के सौन्दर्य का रहस्य उसके प्रिय नीलिमा तथा आकाश का अनन्त विस्तार...।"[1] इसको उपस्थित करने में यहाँ चित्रकार ने पूर्णतः सफलता अर्जित की है। चित्र के ऊपरी सिरे पर हनुमान जो हिमालय पर्वत का टुकड़ा लिये हुये हैं, तथा निचले हिस्से में भी छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं उनमें वर्णो का विन्यास स्लेटी है। ये पर्वत की चोटियाँ हिमालय की नहीं लगती क्योंकि, हिमालय की पर्वतमालायें उपवनों तथा बर्फ से आच्छादित रहती हैं, इससे स्पष्ट होता है कि पहाड़ियाँ फारसी ढंग की हैं जिनमें दरारें सुकोमल रंगों के द्वारा बनायी गयी हैं। पेड़-पौधो के रंग-विधान में हल्के धानी तथा गहरे हरे रंगों का प्रयोग है, इसके साथ ही ऊपर तथा नीचे जिसमें फारसी भाषा का आलेखन हुआ है इसको चित्रकार ने रामरज रंग से भरा है हनुमान की आकृति का गौर वर्ण का विधान है। [illegible] चित्रों की विशेषता थी कि वे छाया प्रकाश के द्वारा आकृतियों को नहीं उभारते थे, अपितु रंगों की रेखाओं का प्रयोग करते थे तथा पूरे फलक में सपाट चित्रों का प्रयोग करते थे। रंग अपने सांकेतिक और प्रतीकात्मक महत्व के लिये बहुत अधिक महत्व व्यवहृत होता था और बहुधा एक ही रचना में अपने व्याख्यात्मक या निदर्शी महत्व से सुन्दर ढंग से समन्वित हो जाता था।[2] मुगल कलाकार ने हनुमान की कर्मठता को रंग के प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित किया है। छाया प्रकाश का प्रयोग शरीर में गति तथा मांसलता को उभारने के लिये बारीक तूलिका से किया गया है। तूलिका से गौर वर्ण का गहरा बल सीने पर तथा पेट में किया है। पाँव के तलवों में

---

1. सौन्दर्य शास्त्र, ले0-डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, पृ0-57

2. भारतीय कला का अध्ययन, ले0-नीहार रंजन राय, पृ0-143

गहराई दिखाने के लिए काले मिश्रित बारीक रेखाओं से छाया का भास उपस्थित किया गया हैं हस्त-मुद्रओं, वस्त्रों की शिकन तथा फहरान और प्रकृति चित्रण में स्वाभाविकता है। ईरानी कलम जैसी अलंकारिकता नहीं है।

सम्पूर्ण चित्र पर एक ही आकृति है हनुमान की। हनुमान हिमालय पर्वत के टुकड़े को आसमान में लिये उड़ रहे हैं, इसलिये इनके हर अंग में चित्रकार ने गति का भास प्रदान किया है। हनुमान के सिर पर जो ताज है उसमें समुचित गोलाई का भास नहीं होता है। अपितु मीनारों के समान तीन शीर्ष ऊपर उठे हैं, इसकी लम्बी आकृति आधुनिक कुछ-कुछ कांग्रेसी टोपी के समान है। पूरे शरीर की लम्बाई, चौड़ाई में कलाकार ने समानता का परिचय दिया है, जिससे आकृति यथार्थता के धरातल पर स्पष्ट उभर कर आती है। दोनों भुजायें ऊपर पर्वत को बड़े ही सन्तुलित ढंग से पकड़े हुए तथा दोनों पाँव हवा में उछले हुए एक पाँव आगे मुड़ा हुआ तथा दूसरा पीछे से आगे बढ़ने की गति में एवं पूँछ हवा में गति से लहरा रही हैं रचनाकार मुस्लिम होने के कारण हनुमान के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नहीं समझ सका है, जिससे उसने हनुमान को बिना गदा के ही चित्रित कर दिया है जो हनुमान के पूर्णता को नहीं व्यक्त कर सकता। परन्तु इस प्रकार के आकृति के संयोजन से गति उभर कर आ गयी है। भारतीय कला में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रूपगत और शैलीगत तत्व रेखी लय है जो प्रायः प्रत्येक रचना की विशेषता है, इस कला में आयतन और विस्तार का सन्तुलित वितरण और उसके प्रभाव को उतना निर्धारित नहीं करता जितना की चित्रित विषयों का रेखीय संयोजन करता है। चाहे कोई एकाकी आकृति हो अथवा चित्रित वस्तुओं का समूह हो, रेखा

यदि स्वरूप में, हल्के से लहराती हुयी, एक दूसरी से मिलती या अलग होती हुई हो और यह सब कुछ एक केन्द्रीय रेखा से मेल खा रही हो तो सभी पृथक् स्वतन्त्र अंग एक सुसंगत पूर्णता में बंधे दिखते हैं।[1] यह कथन यहाँ सत्य हो रहा है हनुमान को जो माला पहनायी गयी है वह सुवर्ण की है, जबकि जो भुजदण्ड पहनाया गया है वो सिर्फ एक भुजा में है, ये भी चित्रकार की भूल हो सकती है या उस समय का फैशन। वस्त्रों में आधे पैर का चुस्त जांघिया (आधुनिक हाफ पैण्ट) के समान जो चुन्दरी सा प्रतीत होता है, धारण कराया गया है। इस फलक पर प्रधान आकृति को जिस प्रकार चित्रित किया गया है तथा उसके साथ अन्य जो भी सहयोगी प्राकृतिक कृतियों का संयोजन किया गया है वे सभी प्रधान आकृति से मेल खाते हैं, जिससे पूरे फलक में सामंजस्य का प्रस्फुटन हो रहा है।

इस चित्र का कथानक हनुमान द्वारा हिमालय पर्वत के एक टुकड़े को जिस पर संजीवनी बूटी विद्यमान है, मूर्छित लक्ष्मण को बचाने के लिए आकाश मार्ग से ले जा रहे हैं। फलक का विभाजन कथानक के अनुसार ऊर्ध्वाधर आधार पर किया गया है।

चित्र को प्रायः तीन भागों में अर्थात् 'पृष्ठभूमि', 'मध्यभूमि' और 'अग्रभूमि' में बड़ी कुशलता पूर्वक तथा परिश्रम से पृथक् किया गया है। मुख्य भाग में हनुमान जो अपने दोनों भुजाओं पर पहाड़ लिये हुए हैं। यह पहाड़ी फारसी ढंग की बनायी गयी है, 'मध्यभूमि' में प्रधान आकृति तथा अग्रभूमि में क्षैतिज आकार के पहाड़ तथा पेड़-पौधों को विरचित किया गया हैं। सम्पूर्ण

---

1. भारतीय कला का अध्ययन, ले0-निहार रंजन राय, पृ0-135-136

चित्र के अधिकांश भाग को क्षितिज के रूप में महत्व प्रदान किया गया है। फलक के ऊपरी हिस्से के कुछ भाग में तथा अग्रभूमि में फारसी लिपि में रामायण की पंक्तियों को सुन्दर ढंग से पूर्णरूपेण मुगल आलेखन का अनुपालन करते हुए लिखा गया है।

मुगल चित्रकला की एक महत्वपूर्ण विशेषता हाशिये की थी, वो यहाँ नदारद है, चित्र का सम्पूर्ण संतुलन कलाकार की सहज अभिव्यक्ति के कारण सफल है, यह चित्रफलक कला की तकनीकी दृष्टि से भी उच्चकोटि की श्रेणी में आ गया है तथा रामायण के इस कथानक को भली प्रकार से चित्रकार ने रेखा, वर्ण, टोन, आकृति तथा अन्तराल के माध्यम से अभिव्यक्त कर दिया है।

राजस्थानी चित्रकला :

राजस्थान भौगोलिक पराकाष्ठाओं और रंगो की विषमताओं की भूमि है। इसके पूर्वी भाग में चंबल के किनारे-किनारे मालवा की गहरी काली और उपजाऊ भूमि है, तो पश्चिमी राजस्थान का अधिकांश हिस्सा निर्जल रेगिस्तान इलाका है। राजस्थान के ये दोनों चरम विपरीत प्राकृतिक दृश्य आश्चर्यजनक रूप से मनोमुग्धकारी हैं। भौगोलिक और जलवायु संबंधी इन जैसी चरम स्थितियों में जीवन एक बड़ी चुनौती होती है, पर बहादुर और साहसी राजस्थानियों ने इस चुनौती का सदा ही मुस्कराहट के साथ सामना किया है।

रंग राजस्थानी जीवन का एक अनिवार्य अंग है। क्या कला और क्या स्थापत्य, क्या वेशभूषा और क्या रीति-रिवाज, सभी में रंगो की महत्वपूर्ण भूमिका है। रंग उनकी जीवन शक्ति का प्रतीक है। राजस्थानी चित्रकला में रेखाओं की जो सशक्तता है और चकाचौंध कर देने वाले रंगों की जो छटा

सर्वत्र बिखरी हुई दिखाई देती है, वे मिलकर राजस्थानी जीवन की उर्जस्विता के लिए एक प्रभावशाली व्यतिरेकी परिदृश्य उपस्थित कर देती है।

मुगल काल के पूर्व राजपूत चित्रकला दो प्रकार की थी। एक तो भित्ति चित्रकला और दूसरी साधारण चित्रकला। प्राकृत, संस्कृत और मारवाड़ी के हस्तलिखित ग्रन्थों को चित्रों से सुसज्जित करने की आम प्रथा चली आ रही थी। पुस्तकों के चारों ओर किनारे भी विभिन्न प्रकार के बेल-बूटों से सजा दिये जाते थे। जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार में इस प्रकार से सुसज्जित बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। जिनमें इस मत की पुष्टि होती है। इस ग्रन्थालय में भैबाऊस्वामी कृत कल्पसूत्र नामक एक चित्रों से सुसज्जित भोजपत्र का 2216 वि0सं0 का हस्तलिखित ग्रन्थ है। मेवाड़ में भी 1422 23 ई0 के चित्रयुक्त हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। भित्ति-चित्रों के सबसे सुन्दर नमूने कुम्भलगढ़ के महाराणा कुम्भा के महलों और चित्तौड़गढ़ की आल्हा कब्र की हवेली में मिलता है। इन चित्रों से पता चलता है कि राजस्थान की बारहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक चित्रकला का अच्छा दौर-दौरा था।[1]

इस समय संगीत की अभ्युन्नति के साथ-साथ रागमाला संबंधी चित्रों का निर्माण, भित्तिचित्रों के साथ-साथ चित्रों का निर्माण, रीतिकालीन साहित्य के साथ-साथ चित्रों का निर्माण, रीतिकालीन साहित्य के साथ-साथ छन्दशास्त्र विषयक चित्रों की रचना और रामनुजी भक्ति-सम्प्रदाय के साथ-साथ कृष्ण-लीलाओं के चित्रों का निर्माण हुआ।[2] राजस्थानी चित्रकला को उनके प्रधान आंचलिक और शैलीगत भेदों के अनुसार चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

---

1. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ले0-डॉ0 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ0-222
2. भारतीय चित्रकला, ले0-वाचस्पति गैरोला, पृ0-153

क- मेवाड़ शैली (सिसोदिया शासक)

- चित्तौड़
- उदयपुर
- नाथद्वार
- देवगढ़
- सिरोही तथा
- सावर आदि

ख- आमेर-जयपुर शैली (कछवाहा)

- आमेर
- जयपुर
- अलवर

ग- मारवाड़-कलम (राठौड़)

- बीकानेर
- जोधपुर
- किशनगढ़
- जैसलमेर
- अजमेर
- पाली तथा
- धाणेराव

घ- बूँदी-कोटा शैली (हाड़ा शासकों) के अधीन-

- बूँदी
- कोटा
- झालावाड़

मेवाड़ शैली :

भूतपूर्व उदयपुर राज्य, अर्थात् कई आख्यानों के लिए प्रसिद्ध मेवाड़ रियासत में चित्रकला की फल-फूल रही शैली राजस्थानी चित्रकला के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास में कलात्मक और सांस्कृतिक क्रियाकलाप के एक अग्रवर्ती केन्द्र के रूप में मेवाड़ अंचल का नाम जाना-पहचाना था। यहाँ के शासकों में राणा कुंभा (1433-1468) और राणा सांगा (1509-1528) कला, स्थापत्य, साहित्य और संगीत के महान संरक्षक थे। राणा उदय सिंह (1537 1572) ने पिचोल झील के पूर्वी किनारे पर मनोहारी महलों वाला खूबसूरत शहर उदयपुर नाम से बसाया। यहाँ तक कि राणा प्रताप (1572-1587) ने भी, जिसने मुगल बादशाह अकबर की शक्तिशाली सेना के सामने झुकने से इनकार करने का साहस दिखाया और चित्तौड़ त्याग कर छावंद की पहाड़ियों में रहना शुरू कर दिया था, कलाकारों और शिल्पकारों की मदद से विलक्षण कृति रागमाला को छांवद में 1605 में चित्रित करवाया।[1] इस शैली का 'सूर-सागर' का चित्र क्रमांक-66 एवं रसिकप्रिय का चित्र क्रमांक संख्या- 67 विश्लेषण हेतु लिया गया है।

चित्र क्रमांक-66 सूर-सागर पर आधारित मेवाड़ शैली का चित्र है। किंचित् रूप से अन्य शैली की अपेक्षा इसमें बहुत कम रेखाओं का प्रयोग किया गया है। इनका रेखांकन कुशलतापूर्ण किन्तु सरल है। रेखाएं अभिव्यक्तिपूर्ण, गतिशील, सशक्त एवं किंचित् आलंकारिक है। रेखायें बहुत कोमल तो नहीं हैं पर इनमें से अपभ्रंश शैली की कठोरता निकल गई है।

---

1. मध्यकालीन भारत, भाग-दो, ले0-सं0 हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ0-491-492

इसमें वर्णो का संचरण भी मेवाड़ शैली का ही है। प्रथमतः हम पाते हैं कि मेवाड़ के कलाकार अपने वर्णो को स्वयं ही रसायनिक विधि से तैयार करते थे। तदुपरान्त आकृतियों में रंग भरने का कार्य सपन्न करते थे। इस फलक में मुख्यतः मुख्य रंगों की प्रधानता है मुख्य रंग वे हैं जो प्रकृति प्रदत्त हैं, उनमें मिलावट की जरा सी भी गुंजाइश नहीं है। जैसे - पीला, लाल, नीला। जर्मन वैज्ञानिक ओल्टा-वाल्ड ने चार रंग-पीला, लाल, नीला, हरा के आधार पर चार द्वितीय रंगतें लेकर अपने मणिचक्र को आठ रंगतों में दिखाया है।

अग्रभूमि में हल्के पीले से संपूर्ण पृष्ठ भूमि को रंग दिया गया है। राजस्थानी चित्रकला में रंगों के मनोवैज्ञानिक प्रभाव और उनके प्रतीकात्मक महत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। पीला प्रसन्नता, प्रफुल्लता, लोकप्रियता, प्रखरता, दिव्याभार, यश और सर्वाधिक चमकने वाला प्रकाशयुक्त बुद्धिमत्ता को प्रदर्शित करने वाला रंग है। इसका प्रभाव अखण्ड ज्योति की भाँति दिव्यमान है। पीला वर्ण यहाँ प्रसन्नता, प्रफुल्लता व प्रेम के प्रतीक के रूप में पृष्ठभूमि पर महती भूमिका निभा रहा है। इस पृष्ठभूमि का प्रसन्नता पूर्वक (कृष्ण और गोपिकायें) संगीत के मधुर धुन पर नृत्य में तल्लीन हैं। नायक कृष्ण की आकृति को नीले वर्ण से सुशोभित किया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इस रंग के द्वारा श्रृंगार रस की निष्पत्ति होती है।[1] नीला वर्ण शीतल है एवं शान्त, आनन्दमय सत्यता की ज्योति का रूप भी है। कृष्ण स्वयं संपूर्ण ब्रह्माण्ड के कर्त्ता एवं रहस्यमय सत्ता के प्रतिपादक के रूप में अवतरित हैं, इसलिये कृष्ण को नीले वर्ण से

---

1. चित्रसूत्रम, 6/42-43

सुशोभित किया गया है तथा इसीलिये इनका नाम भी 'घनश्याम' पड़ा है। मध्य भूमि में आधे में नारंगी जो कि पीला व लाल के मिलने से तैयार द्वितीयक या गौण रंग होता है, इसको लगाया गया है एवं आधे भाग में सुर्ख लाल रंग प्रयोग किया गया है, इसके ऊपर वाले स्थान पर हल्दी के समान पीले वर्ण का प्रयोग, सीमा-रेखा हल्के भूरे व लाल रंग से रंजित, सभी आकृतियाँ सुरा के समान लाल रंग व एवं पेड़-पौधों को हल्के हरे, लाल, पीले इत्यादि से खिलौनों के समान रंजित किया गया है। सभी वर्ण सपाट भरे गये हैं, तेज रंगत होते हुए भी चक्षुओं को चुभते नहीं अपितु दृष्टिपात को सुखदायी लगते हैं। पूरे चित्रफलक की रंगत से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।

मेवाड़ शैली वास्तव में भित्तिचित्रण की परम्परा से विकसित हुयी थी परन्तु फिर भी मुगल कला के समसामयिक प्रभाव के कारण सपाट चित्रों में गोलाई या डौल लगाने के लिए चित्रकार छाया का प्रयोग करने लगा। चित्रकार ने गरदन के पास कानोंके नीचे तथा बगलों में भुजा को शरीर से उठा हुआ दिखाने के लिए सुकोमल छाया का प्रयोग किया है।

अग्रभाग या धनात्मक स्थान पर भगवान कृष्ण को गोपियों के साथ चित्रित किया गया है, जिसमें कृष्ण नटखट मुद्रा में मुरली से सुरों की वसुन्धरा बहा रहे हैं, तथा इस वसुन्धरा में प्रकृति के वैभव के समान गोपियाँ डफली तथा हाथों से ताल दे रही हैं।

भगवान कृष्ण की आकृति को गहरे नीले रंग से तथा एक चश्म चेहरे में बना गया है। ये आकृति 'चित्रसूत्र' के नौ प्रकार के चित्रों में सें प्रथम 'ऋज्वागत' के दो प्रकारों में से एक 'पृष्ठगत' है। 'पृष्ठगत' का सौन्दर्य चित्रण

सामने से ही किया जाता है। वह शुद्ध और मधुर प्रतीत होता है। उसकी रेखायें स्पष्ट और संस्कार-सम्पन्न होती हैं।[1] पूरी आकृति को आभूषणों तथा वस्त्रों से ढक दिया गया है, दोनों भुजायें मुरली पर ताल की मुद्रा में उठी हुयी हैं व स्वर की मुद्रा में मस्त कृष्ण कुछ झुके हुये दोनों पाँव भूधरा पर नृत्य की मुद्रा में मुड़े हैं। कृष्ण की नासिका लम्बी एवं चेहरा गोल, अण्डाकार बनाया गया है। अण्डाकार चेहरे के विषय में अवनीन्द्र नाथ ठाकुर का मत है कि, यह स्थिर होता है और भगवान कृष्ण चंचल होते हुये भी स्थिरता के प्रमाण हैं, जैसे कृष्ण खुद को भोगी होते हुये भी योगी की बात करते हैं, आँखें मीन के समान हैं। कृष्ण को घेरदार जामा पहने तथा कमर में पटका लगाये दिखाया गया है, घेरदार जामा में नृत्य के गति के कारण इसमें फहरान आ गयी है, यह जामा पूर्णतः पारदर्शी है एवं उसके नीचे चूड़ीदार पाजामा पहने तथा पैरों में राजस्थानी जूतियाँ जिस पर फूलनें के समान गेदें बनी हैं। आभूषणों में सिर पर ताज जो मुगल का प्रभाव न होकर पूर्णतः भारतीय है, गले, हाथों में स्वर्ण तथा मोतियों की माला हैं।

कृष्ण के बायें जो गोपी है वो कृष्ण की मधुर धुन पर डफली से स्वर मिला रही है। मेवाड़ शैली की एक विशेषता है कि नारी आकृतियाँ कुछ छोटी होती हैं वो इस चित्र में भी है, दूसरी गोपी की आकृति 'अतिभंग' मुद्रा में है। दाँये तरफ की पहली आकृति जो कृष्ण के धुन पर पूर्णतः मुग्ध है कृष्ण को निरख रही है, यह गोपी एक भुजा लय में ऊपर उठाये तथा दूसरी कमर से आगे बढ़ाये हुये है। दूसरी आकृति कुछ झुकी हुयी है कृष्ण को निहारती

1. चित्रसूत्रम्, पृ0-39/5-9

हुयी ताल दे रही है तथा तीसरी आकृति मंजीरा बजा रही है। मध्य के संयोजन में पाँच पुरुष आकृतियाँ विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्रों से स्वर लहरी प्रवाहित कर रहे हैं तथा पार्श्व में एक नायिका मसलन्द पर बैठी एक हाथ से दुपट्टा संभालती दूसरे से अपनी सहेलियों से बात कर रही है। दूसरी महिला घुटनों के बल बैठी हुयी प्रधान आकृति से वार्तालाप की मुद्रा में व तीसरी महिला खड़ी है। मेवाड़ शैली पूर्ण रूपेण भारतीय थी इसीलिए इसमें कुछ अजन्ता की छाप विद्यमान थी। इन आकृतियों में अतिशय अलंकरण होते हुये भी इसमें जीवात्मा निवास करती है। प्रायः इस चित्र में सभी नारी आकृतियों समान विशेषतायें लिये हुये हैं सभी की आँखें मीन के समान वस्त्र और आभूषण समान पहने हुये हैं। प्रायः बूटेदार लँहगा, चोली तथा पारदर्शी दुपट्टा लिये हुए हैं। कलाईयों में तथा भुजदण्डों में काले फुदने लटक रहे हैं। पुरुषाकृतियों में भी समान विशेषतायें झलकती हैं, पुरुष लम्बे खत तथा बड़ी-बड़ी मूँछें रखे हुये एवं दो पुरुष आकृतियाँ इस्लामी किस्म की दाढ़ी रखे हुये हैं। वृक्ष प्रायः अलंकृत हैं, वृक्षों में से फूलों को स्थान-स्थान पर निकलते चित्रित किये गये हैं। आकृतियों में समानता होते हुये भी सभी आकृतियाँ अपनी-अपनी अलग-अलग भाव प्रदर्शित कर रही है। इस चित्र की अलंकृत आकृतियाँ मेवाड़ के वैभव की प्रतीक हैं, तो आकृतियों के समन्वय से शृंगार रस की अभिव्यक्ति भी होती है, जिसमें कान्ति, लावण्य युक्त रेखा माधुर्य से विभूषित है तो वेश और आभूषण कौशल से सजाये गये हैं।

यह चित्र मेवाड़ के राजा 'जगत सिंह प्रथम' के स्वर्णिम युग में चित्रित किया गया है।

चित्र में अन्तराल विभाजन के नियमों को स्वीकार करते हुए चित्रकार ने सम्पूर्ण धरातल को तीन विभिन्न रंगों की पट्टियों में विभक्त किया है। 'मुख्य भूमि' या 'अग्रभूमि' सम्पूर्ण चित्र के आधे से थोड़े कम भाग में आच्छादित है चूंकि मेवाड़ शैली के आरम्भिक चित्र अपभ्रंश शैली में निर्मित है और इसमें लोककला का भी प्रभाव है, इसलिये इसके विभाजन में स्पष्टता होते हुये भी अस्पष्टता है।

अस्पष्टता इसलिये कि अग्रभूमि का जो विभाजन हुआ है, उसके ऊपरी हिस्से में आधे से अधिक का विभाजन प्राकृतिक दृश्यों को आलंकारिक रूप प्रदान करके किया गया है। 'मध्यभूमि' में एक रसता को समाप्त करने के लिए इसे दो भागों में विभक्त किया गया है, दोनों ही हिस्से लगभग आधे-आधे भाग में समान महत्व के साथ व्यंजित किये गये हैं तथा चित्र का ऊपरी हिस्सा पूरे चित्र का चौथाई से भी कम है, जिसमें 'सूरसागर' की पंक्तियाँ उद्धृत हैं। अग्रभूमि से लेकर पृष्ठभूमि तक को क्रमशः अवरोही क्रम में रखा गया है, जिससे चित्र में एक रसता का समापन व विभिन्न घटनाओं का क्रमबद्ध महत्व प्रदान होता प्रतीत होता है।

इस चित्र में लम्बाई और चौड़ाई का परस्पर आनुपातिक सम्बन्ध है, जिससे चित्र में विकृति नहीं आ पायी है। सभी आकृतियों की एकता में संयोजित करने के लिये चारों तरफ से एक पतली सीमा रेखा से बद्ध कर दिया गया है। संतुलन तथा अन्तराल विभाजन से हम मेवाड़ के कलाकारों की कुशलता का इस चित्र में दर्शन कर सकते हैं।

चित्र क्रमांक-.67, रसिक प्रिया के कथानक पर रचित मेवाड़ शैली का चित्र है। मेवाड़ शैली ही शास्त्रीय भारतीय चित्रकला की उत्तराधिकारी हैं किन्तु इसमें अजन्ता के समान लोच एवं माधुर्य तो नहीं पैदा हो पायी है, परन्तु जैन कलाकारों की रेखाओं से अधिक ओज, प्रेम, जीवन के दर्शन तथा सभी प्रकार की अभिव्यक्ति को अभिरंजित करने में सफलता अर्जित की है। रेखाओं के माध्यम से सौन्दर्य और प्रेम का सुन्दर संगम उत्पन्न करने में कलाकार सफल रहा है।

इस शैली में सूर्यास्त के समान चटकीले तथा आकर्षक रंग-विधान का प्रयोग है। थोड़े से जोरदार रंगों में ही कलाकार ने इच्छित प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। अग्रभूमि का पृष्ठ भाग रामरज रंग से सपाट रूप से भर दिया गया है एवं इसका निचला भाग हल्के हरा से। नायक का श्याम और नायिका का गौर वर्ण है। नीला वर्ण को व्याख्यायित करते हुए नीहार रंजन राय लिखते हैं कि 'अंतरिक्ष अथवा शून्य ठोस और घन का 'अनुभूत' तत्व है और इसलिये वह भारतीय चित्रों में (नीलम जैसा) नीले रंग के ठोस घन चादर के रूप में आकाश का द्योतक है। 'अभिधर्मकोष' में तो कहा गया है, कुछ लोग स्वर्ग को नीले रंग की दीवार के रूप में चित्रित करते हैं।'[1] पूरा अम्बर नीला है तो उसमें बिन्दी के रूप में पूर्णिमा का चाँद उसकी आभा को दो गुना कर देता है या यूँ कहे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक के बगैर (श्याम के बगैर गौर या गौर के बगैर श्याम) दूसरा शून्य समान लगेगा। इसीलिये प्रेम को प्रस्तुत करने के लिए भारतीय दर्शन में श्याम और गौर की परिकल्पना की गयी है।

---

1. भारतीय कला का अध्ययन, ले0-नीहार रंजन राय, पृ0-144

मध्यभूमि की आकृतियों में रंगों को एक समान परन्तु वस्त्रों में अन्तर किया गया है। संपूर्ण चित्र में वर्ण को सपाट रूप से भरा गया है, किन्तु संपूर्ण रंगों का संयोजन प्रेम के भाव को उत्पन्न करने में सफल हुआ है।

इस शैली में छाया-प्रकाश के बलों के पहले प्रयोग नहीं है, लेकिन मुगल प्रभाव के कारण मेवाड़ शैली में भी छाया-प्रकाश का प्रयोग करने लगे थे। मुगल शैली में बगल (भुज-मूल) में एक प्रकार की छाया दिखाई जाने लगी थी, उसका प्रभाव लेते हुए मेवाड़ शैली के इस चित्र में भी इसका प्रयोग हुआ है। चित्रकार ने गरदन के पास कान के नीचे सुकोमल छाया का प्रयोग किया है।

केशव दास की नायिका बिस्तर पर बैठी दर्पण देख रही है एवं तभी झाड़ियों की ओट से नायक का चेहरा दर्पण में दिखने लगता है जिसमें नायिका आश्चर्य में पड़ जाती है। इसको कलाकार ने बखूबी चित्रित किया है।

आश्चर्य के भाव को व्यक्त करने के लिये कलाकार ने नायिका के एक हाथ में कुछ बालों को पकड़े होठों से लगाया बनाया है। इस भुजा को इस प्रकार चित्रित किया गया है जिससे यह आभास होता है कि एकाएक ये हाथ ऊपर को उठे हैं। नायिका गौर वर्ण की नासिका सीधी, कलाईयों में चूड़ी, कानों में फूल, गले में मोतियों की माला, लाल चोली, पीला लँहगा जिस पर स्पष्ट छाप व कलाईयों तथा भुजदण्डों में फुदने लटक रहे हैं। नायिका से छुपने के प्रयास में नायक को झाड़ी का आड़ लिये हुये दिखाया गया है, नायक का एक हाथ चेहरे के करीब तथा दूसरा कमर पर रखे चित्रित किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि नायक बहुत ही आराम से खड़ा नायिका को देख

रहा है। नायक श्याम वर्ण में, आँखें श्वेत, पगड़ी मुगलों के समान घेरदार जामा एवं चूड़ीदार पाजामा पहने है ये वेषभूषा पूर्णतः मुगल काल की लगती है इससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय की मेवाड़ की संस्कृति पर मुगल प्रभाव पड़ने लगा था।

ऊपर की आकृति योजना में प्रधान आकृति नायिका सिंहासन पर बैठी आगे की ओर शरीर लेकिन पीछे बैठी अपनी सहेली से मुड़कर बात कर रही है, इस प्रकार के चित्रण से नायिका के शरीर में स्थिर शून्यता समाप्त हो गयी है तथा आकृति में सक्रियता का बोध होने लगा है। नायिका के बाँयी ओर तीन परिचारिकायें दाँयी ओर दो परिचारिकायें सौन्दर्य प्रसाधन लिये खड़ी है। पूरी आकृतियों में समानता होते हुये भी कलाकार ने सबके अलग-अलग कार्यो को संपादित करने में सफलता अर्जित की है। इस प्रकार केशव के भाव चित्र में ऊभर आया है।

इस फलक का अन्तराल विभाजन क्षैतिज रूप में समान दूरी में एवं स्पष्ट रेखाओं द्वारा किया गया है, चूंकि विभाजन का मुख्य आधार रंग है जो मेवाड़ शैली की विशेषताओं में से एक है। संयोजन का सम्पूर्ण ध्यान रखा गया है जिससे अलग-अलग पट्टियों में विभाजित होते हुये भी सन्तुलन के नियमों से विघटित नहीं होती है।

'मुख्यभूमि' के साथ निचला हिस्सा पूरे फलक का आधे से थोड़ा सा कम स्थान लिये हुये हैं, इसमें भी निचले हिस्से को जो इस भाग का चौथाई से भी कम हिस्सा है अलग-अलग दो भागों में विभक्त किया गया है ये विभाजन गणित के नियमों पर आधारित न होकर कला के नियमों के अन्तर्गत

जो एक रसता को भंग करने के लिये आवश्यक है किया गया है। इन विरोधी तत्वों से कलाकृति में तेज, शक्ति, गति, आकर्षण एवं सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। लेकिन ये विरोधी कलाकृति से अपने को अलग नहीं कर पाती है, जिससे चित्र में संतुलन स्थापित है। मध्यभूमि लगभग अग्रभूमि के बराबर ही अपना स्थान रखे हुये हैं, इसको संयोजित करने के लिये सृजनकर्त्ता ने चार भागों में विभक्त किया है। 'मध्यभूमि' का अग्रहिस्सा इस धरातल का आधे से थोड़ा कम है, क्षैतिज रूप में अलग है व इससे ऊपर का हिस्सा आधे से अधिक है। इस भाग के पृष्ठ भूमि में इसके दायें तथा बायें ऊर्ध्वध आधार से पूरे आकृति का थोड़ा-थोड़ा हिस्सा अलग है। परन्तु सम्पूर्ण सन्तुलन को प्रदर्शित करते हैं। सम्पूर्ण चित्र का पृष्ठभाग सबसे ऊपर अवस्थित है, फलक का चौथाई से भी कम है।आलेखन के रूप में इसमें जैन कल्पसूत्रों की परम्परा अपना स्थान बनाये हुये है।

सिक्ख चित्रशैली -

कुछ पहाड़ी राजाओं तथा पंजाब में काँगड़ा शैली का जो स्वरूप उन्नीसवीं सदी में प्रचलित हुआ उसे सिक्ख चित्र शैली कहा गया है। रणजीत सिंह (1780-1893) इसके प्रधान संरक्षक थे। उन्होंने 1800 ई0 में लाहौर जीता और महाराजा की उपाधि धारण की। 1809 से उन्होंने पंजाब तथा काँगड़ा के अनेक राज्यों को जीतना आरम्भ कर दिया। सिक्ख शासन में लाहौर राजनीतिक और अमृतसर धार्मिक केन्द्र था।

इस शैली के चित्र, चित्र क्रमांक-68 का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

चित्र क्रमांक-69 श्री दशम ग्रन्थ साहिब का सचित्र पन्ना लगभग अट्ठारहवीं शताब्दी का सृजित है। इस पूरे चित्रफलक में अलंकरण के बीच रेखायें खो सी गयी हैं। रेखायें बहुत ही हल्की घुमावदार बनायी गयी हैं। ये रेखायें इतनी घुमावदार हैं कि इसमें शिथिलता और लोच होते हुए भी कोमलता, स्त्रैणता एवं वीरता आदि का गुण आ गया है।

इसका रंग विधान पूर्णतः अलंकृत रूप में व्यवस्थित है। इसका प्रधान केन्द्र मध्यवृत्त में है, जिसमें गुरुमुखी भाषा को अलंकृत रूप से आलेखित किया गया है। इस वृत्त को हल्के, श्वेत, पीत व स्वर्ण के मिश्रण से तैयार वर्ण से रंजित किया गया है। इसके अक्षरों को लाल, काला व स्वर्ण के वर्णो से लिखा गया एवं वृत्त के वाह्य भाग को सुसज्जित करने के लिये उसको एक बार्डर के समान बनाकर उसको पूर्ण रूप से स्वर्ण रंग से भर दिया गया है तथा इसमें छोटे-छोटे लाल हरे रंगों से फूल बनाये गये हैं इसके पश्चात् बचे संपूर्ण धरातल को समुद्री नीले वर्ण से भरकर उस पर स्वर्ण रंग से बारीक अलंकरण किया गया है। अलंकरण की कुशलता सृजन-कर्त्ता के धैर्य का परिचय देते हुये उसकी कल्पना की पराकाष्ठा को भी इंगित करती है। आकृतियों के रंग-विधान में काँगड़ा शैली की रिक्तता विद्यमान है तथा कहीं-कहीं लाल, सफेद, धानी आदि वर्णो से छॅटा को बिखेरा गया है। पूरे चित्र के बार्डर को स्वर्ण के महीन पच्चीकारी जिसमें मूँगा, पन्ना पत्थरों जैसे वर्णो से बीच-बीच में फूलों का सृजन किया गया है। संपूर्ण चित्र की रंग योजना विशिष्टता लिये हुये अपने मनोभाव को व्यक्त करने में मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने की चेष्टा करती है। चित्र में संपूर्णता के भाव को व्यक्त करने

में जहाँ कलाकार ने सफलता अर्जित की है वहीं पर रंगों का संयोजन चित्रों को स्पष्ट करने में असफल नजर आता है। अलंकरण योजना में रंगों के माध्यम से रेखाओं को कोमलता, सक्रियता गतिशीलता एवं एकता के प्रमाण उपलब्ध कराते हैं। चूंकि गतिशील रूप प्रभावपूर्ण होते हैं और किसी चरम स्थिति तक पहुँचाये जा सकते हैं। स्थिर रूप पुनरावृत्ति-मूलक व्यवस्थाओं और वार्तुलताओं पर आधारित रहते हैं, किन्तु गतिशील रूपों में निरन्तर परिवर्तनीय एवं विकासशील प्रवाह मिलता है।[1]

यह सिक्ख शैली का चित्र है। सिक्ख शैली पहाड़ी शैली तथा लोक कला के मिश्रण से प्रदीप्त हुयी थी। अत: इसमें इन दोनों की रिक्तता विद्यमान है। इस चित्र में अलंकरण और आलेखन अत्यधिक मात्रा में होने के कारण छाया--प्रकाश का समुचित प्रयोग नहीं हो पाया है, फिर भी गढ़नशीलता एवं यथार्थता दिखाने के लिए भुजाओं, गरदन में तथा दाढ़ी में काले मिश्रित श्वेल बल का प्रयोग किया गया है।

इस चित्र के चारों कोनों में आकृतियों की योजना सिक्ख शैली में हुयी है, जो भावाभिव्यक्ति में तो सफलता अर्जित करती है परन्तु आकृति योजना व यथार्थता में उस जगह को नहीं प्राप्त कर पाती जो पहाड़ी शैली ने प्राप्त की, किन्तु यह सच है कि जो आकृतियाँ हैं उसमें अवशेष के रूप में काँगड़ा तथा पंजाब की लोककला का मिश्रण ही दीप्त है।

आकृतियों को समरूप से चारों कोनों में स्थान दिया गया है, ऊपर प्रथमत: बायें तरफ भगवान शिव-शंकर को दस भुजाओं सहित, सिर पर चार

---

1. रूपांकन, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-71

अन्य हिन्दू देवताओं को माँ पार्वती के साथ कमलासन पर बिठाया गया है। माँ पार्वती लहँगा चुन्दरी पहने घुटने के बल बैठी हैं। लहँगा चुन्दरी पंजाब प्रान्त का परम्परागत वस्त्र रहा है जिसका कलाकार ने पार्वती के चित्र में प्रयोग किया है जो वहाँ की लोककला की द्योतक है।

ऊपर दाँयी तरफ एक अन्य आकृति की योजना की है। शेर पर माँ काली को जो खुद आग में खड़ी हैं, यह आग कछुए की आकृति पर जल रही है, एवं माँ काली चार भुजाओं के साथ अपने भक्त को अशीर्वाद दे रही हैं। भक्त जो सिक्ख धर्म के अनुसार दाढ़ी, मूँछ व लम्बे-लम्बे केश रखे, कुछ झुका सा ऊपर से नीचे तक लाल वस्त्र पहने है। दूसरा पुरुष इसमें प्रधान आकृति के बाँयें तरफ पीछे देख रहा है। नीचे की बायी तरफ कोनें में गुरुनानक को अपने दोनों शिष्यों के साथ पीपल के पेड़ के नीचे कालीन पर भक्ति संगीत में मुग्ध दिखाया गया है। गुरुनानक का इसमें प्रतीकात्मक चित्रण चन्द्रमा के समान गोल मुख मण्डल, श्वेत दाढ़ी, श्वेत टोपी, पीला ओवर कोट हाथों में तुलसीमाला लिये हुये हैं। दूसरी तरफ के बायें कोनें में सिक्ख धर्म के दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी को घोड़े पर सैनिकों की वेष-भूषा में अपने बाज के साथ चित्रित किया गया है, सभी आकृतियों को इस प्रकार से विन्यास दिया गया है कि आकृतियों में गति का समावेश हो गया है। इस फलक में कलाकार ने सृष्टि संहारक, शक्ति की देवी, मानवता के संस्थापक तथा धर्म के रक्षक के रूप में अपने विषय को कथानकों के अनुसार भावों को व्यक्त करने में सफलता अर्जित की है।

इस चित्र में जो आलेखन हुये हैं वो प्रो0 रामचन्द्र शुक्ल के कथनों के अनुसार, स्पष्ट हो जाता है। 'रूपकारी का अर्थ न तो परिकल्पना ही है और न बेल-बूटा बनाना है। चित्रकला में भी इसी प्रकार रूपकारी का अर्थ केवल बेल-बूटा बनाना ही नहीं है, अपितु यह एक सारगर्भित अर्थ का द्योतक है। विचार करने पर ज्ञात होगा कि रूपकारी का अर्थ चित्रकला स्वयं है। जब भी हम रूपकारी शब्द का प्रयोग करते हैं तो मन में एक ऐसे चित्र की कल्पना होती है जिसमें चित्रकला के सभी नियमों, सिद्धान्तों और गुणों का समावेश किया गया है।... लय, छन्द, गति, सन्तुलन, पुनरावृत्ति, अनुपात, समानुपात, एकता, सुमेल, कल्पना, भाव उद्वेग, व्यञ्जना और शैली के गुण। इन्हीं के समावेश से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। रूपकारी में ये सभी वस्तुयें आ जाती हैं। हम चित्रकला को रूपकारी भी कह सकते हैं।'[1]

धनात्मक अन्तराल को सृजनकर्त्ता ने चित्र के बीचो-बीच वृत्त का स्थान प्रदान किया है, जो आयताकार फलक में अपने बायें और दायें किनारों से ज्यादा नजदीक प्रतीत होता है बनिस्पत ऊपरी और निचले किनारों के। अगर हम आयत के केन्द्र में एक वृत्त का निर्माण करें तो स्थिति ऐसी ही पैदा होगी। इस चित्र में आयत में वृत्त की आधार योजना का निर्माण किया गया है, इसीलिये इसका संयोजन पूर्णतः रेखागणितीय नियमों के अनुसार हुआ है। ऋणात्मक अन्तराल जो सम्पूर्ण फलक के चारों कोनों में हैं। इस प्रकार इसका विभाजन एकरसता को विछिन्न करती है। सम्पूर्ण फलक को एकसूत्रता प्रदान करने के लिए हासिये का निर्माण किया गया है जो पूर्णतः अलंकृत चारों तरफ समान रूप से समान भाग में सृजित है।

---

1. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, ले0-रामचन्द्र शुक्ल-पृ0-94

पहाड़ी चित्रकला-

वसोहली चित्रकला-

सर्वप्रथम 1916 ई0 में डॉ0 आनन्द कुमार स्वामी ने पहाड़ी चित्रों को दो भागों में वर्गीकृत किया और उन्होंने प्रथम वर्ग के चित्रों को उत्तरी-चित्रमाला तथा, द्वितीय वर्ग चित्रों को दक्षिणी-चित्रमाला के नाम से पुकारा। उत्तरी चित्रमाला से उनका अभिप्राय काँगड़ा स्कूल के चित्रों से था और दक्षिणी चित्रमाला से उनका अर्थ डोंगरा जम्मू स्कूल के चित्रों से था। इस वर्गीकरण में उन्होंने बसोहली स्कूल के चित्रों को भी सम्मिलित कर लिया।[1]

पहाड़ी कला अपने विकास में तीन मुख्य दिशाओं में उन्मुख हुई जिन्हें बसोहली, काँगड़ा और गढ़वाल कलम के नाम से पहचाना गया। अजित घोष के विचार में बसोहली कलम सबसे पुरानी है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान बसोहली कलम में अनेक और विशिष्ट चित्र तैयार हुए।[2]

1930 ई0 में जब श्री जे0सी0 फ्रेंच ने पंजाब की पहाड़ियों का भ्रमण किया, तो उनको इसी प्रकार बसोहली शैली के चित्र उदाहरण चम्बा, मण्डी तथा सूकेत नामक नगरों में प्राप्त हुए हैं। उन्होंने इन चित्रों का विवरण इस प्रकार दिया है- "इस चम्बा संग्राहलय में कई राजाओं के व्यक्ति चित्र हैं जो कांगडा स्कूल के नहीं माने जाते हैं, बल्कि स्थानीय कलाकारों ने बनाये हैं इन चित्रों की शैली बसोहली के चित्रों की शैली के समान है।"[3]

---

1. भारतीय चित्रकला का इतिहास, ले0-डॉ0 अविनाश बहादुर वर्मा, पृ0-222
2. पहाड़ी चित्रकला, ले0-किशोरी लाल वैद्य, ओमचन्द हाण्डा, पृ0-91
3. बसोहली पेन्टिंग, ले0-एम0एन0 रन्धावा, पृ0-12

बसोहली शैली की चित्रकला का आदिम रूप आकृतियों में प्रदर्शित की गई ऊर्जा और शक्ति में परिलक्षित होता है। ये आकृतियाँ लम्बी और पतली हैं और इनमें चेहरे का चित्रण अंडाकार रूप में किया गया है जो नीचे की ओर पतला है। मुखाकृतियाँ तीक्ष्ण रेखाओं द्वारा बनाई गई हैं जिनकी ठोड़ियों के नीचे मांसलता है। आँखें लम्बी हैं और उनका रेखांकन स्पष्ट रूप से किया गया है। चेहरे पर गर्व और शक्ति का भाव दिखाई देता है। माथा चौड़ा है। आरम्भिक बसोहली शैली में महिलाओं को पूरी बाँहों के जामें के नीचे कंचुकी और पाजामा पहने दिखाया गया है। आभूषणों का बहुत चित्रण किया गया है जिनमें मोतियों का चित्रण अधिक है। चित्रों को चमकदार बनाया है तथा चित्रों में स्थापत्य और विस्तृत खुले स्थानों के बीच संतुलन बनाए रखा गया है। बसौली चित्रकला में खुले प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण शैलीबद्ध रूप से किया गया है। वनों और उद्यानों के वृक्षों को वृत्ताकार घेरे में दिखाया गया है और उस घेरे में आकृतियों को दिखाया गया है। पेड़ बड़े पुष्पों के समान दिखाई देते हैं जिनके तने मोटे और छोटे या पतले और लम्बे हैं। कुछ पेड़ों का आकार अंडाकार है जिनकी पत्तियों की बाहरी रेखायें गहरी हैं तथा अन्य पेड़ों की पतली शाखायें हैं और पत्तियाँ पैनी और रेखाकार हैं। नम्र पादप (The weeping willow) का चित्रण बहुत से चित्रों में किया गया है।

बसोहली शैली की पशु भी मानवीय आकृतियों के समान ही लंबोतर हैं, उनके शरीर क्षीण हैं और ग्रीवाएं ऊपर की ओर उठी हुई हैं। मालवा शैली की भाँति चटकीले लाल, पीले और नीले रंगों का प्रयोग किया गया है। बसोहली

चित्रकला में चेहरों की उग्रता देखने को मिलती है। इस शैली का चित्र क्रमांक संख्या-69 का विवेचन आगे किया जा रहा है।

चित्र क्रमांक-69, गीत-गोविन्द के आधार पर बसोहली शैली का चित्र है। बसोहली के चित्रों में प्रत्येक विवरण की स्पष्टता को सरल और शक्तिशाली ढंग से व्यक्त किया गया है। रेखाओं के माध्यम से कृष्ण व ग्वालों के साथ काव्यमय भावनाओं को कलाकारों ने मधुरता, सरलता और सरसता के साथ अभिव्यक्त किया है। इस चित्र में चित्रकार ने कम से कम परिश्रम के द्वारा अधिक से अधिक भावाभिव्यक्ति की है। इस चित्र की भाषा सीधी-सादी हे अर्थात् सीधी दौड़ती हुई रेखाएँ हैं। सम्पूर्ण शैली अपने आप में बल और ओज की पग्चिायक है।

बसोहली शैली में रंगों का संयोजन दो प्रकार से हुआ है, एक तो जिसमें चम्बा, या बसोली शैली थी दूसरे बाहर से आये मुगल कलाकारों की शैली थी। इस चित्र की अग्रभूमि जिसपर की आकृतियों की रचना की गयी है, में प्रधान आकृति कृष्ण को श्याम एवं अन्य आकृतियों को चाकलेटी, बादामी रंगों से रंजित किया गया है। चूंकि पहाड़ों पर रहने वाले लोग गोरे होते हैं इसलिये इस चित्र में बसोहली के कलाकारों के यथार्थ रूप का परिचय होता है। जो आकृतियों को गौर वर्ण से रंगे हैं। ग्वालों की प्रिय गायों को गहरे भूरे एवं श्वेत रंगों से भरा गया है। नीचे का भाग पीला मिश्रित भूरा है जो जमीन का भास देता है। मध्यभाग की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि काले मेघों से आच्छादित है, जिससे आकृतियों के रंग विरोधी होने से अपने आप उभर आये हैं। रंग के एक रूपता से बचने के लिये रंगों में श्वेत आदि रंगतों का प्रयोग

किया गया है, इससे इनमें विविधता पैदा हो गयी है और एकरूपता तथा जड़ता का समूल नष्ट हो गया है। पृष्ठ भाग या ऊपर के भाग में मुगल कला का स्पष्ट प्रभाव है, मुगल कला में 'पर्वतों का चित्रण करते वक्त कलाकार बारीक रंगों की रेखाओं से टीलों तथा मीनारों के समान लम्बी-लम्बी दरारें पैदा करता था, इसी प्रकार बसोहली के कलाकारों ने गोवर्धन पर्वत को बनाने में रंगों का प्रयोग किया है। रंगों के ऐसे ही संयोजन से प्रभावित ई0वी0 हैवेल लिखते हैं : 'जिस प्रकार भारतीय संगीत में लयात्मकता सम्बन्धी उलझन नहीं बल्कि उसमें वेग युक्त स्वर-माधुर्य का सूक्ष्मता पूर्ण प्रवाह हैं उसी प्रकार चित्रकला में भारतीय कलाकार गहरे साये, टूटे हुये रंगों का उपयोग नहीं करता। वह तो अपने रंग-संगीत को पूर्ण सधी हुयी ताल के द्वारा प्रकाश और वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करता है।[1] असित कुमार हलदार के अनुसार रजोगुण को प्रस्तुत करने वाला नीला वर्ण है अतएवं नीले वर्ण में श्रीकृष्ण अपने रंग के अनुरूप राजधर्म का पालन करते हुये गोवर्धन को उठा रखे हैं। जिससे इन्द्र के प्रकोप को वृन्दावन के ग्वाले बहुत ही आसानी से सह लेते हैं, इन्द्र का यहाँ रूप वीभत्स है, जिससे बादलों में श्मशान के समान निन्दित, रोमांच हो गया है, यह वीभत्स के लिये श्रेष्ठ होता है।[2] यही रूप यहाँ बादलों का है, इस प्रकार इस फलक में कलाकार ने रंगों के माध्यम से गीत-गोविन्द के भावों को व्यक्त करने में सफलता प्राप्त की है।

---

1. Just as in Indian music there are no complicated harmonies, but a subtle flow of pure intensive melody, so in painting, too. The Indian artist eschewe strong shadows and broben colome, Producing an effect of light and atomosphere by the perfect rhythm of his colour music. - The Art Heritage of India, E.B. Havell, P.94-95
2. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन, ले0-डॉ0 रामलखन शुक्ल, पृ0-222

डब्ल्यू0जी0आर्चर की निम्न उक्ति बसोहली कलम के 'गीत-गोविन्द' संबंधी चित्रों पर बहुत सही उतरती है, "भारत में अन्यत्र भी चित्रकला में रंग और रेखाओं के स्पष्ट गुण उभरे हैं लेकिन पंजाब-हिमालय से बाहर कहीं भी रूमानियत, हर्षोन्माद और विलक्षणता से युक्त इतनी सुन्दर और विशिष्ट अभिव्यक्ति नहीं मिलती।"[1] तेज, सुर्ख, चमकदार रंगों से बलों को इतना ही प्रयोग किया गया है कि उसमें अतिरेक नहीं उभरने पाया है।

प्रधान आकृति कृष्ण को बसोहली शैली में चित्रित किया गया है। कृष्ण अपनी त्रिभंगी मुद्रा में खड़े बायें हाथ की कनिष्ठिका पर गोवर्धन पर्वत को धारण किये इन्द्र के वज्रवर्षा से ग्वालों की रक्षा कर रहे हैं। कृष्ण की आकृति में यथार्थता का दर्शन हो रहा है। बायाँ हाथ जिस पर गोवर्धन पर्वत को धारण किये हुये हैं, इसी में एक कमल-कली भी लिये हुए हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि कृष्ण विपत्ति के अन्तिम क्षणों में भी शान्ति और सौन्दर्य को नहीं छोड़ना जानते, जो सृष्टि को सुखी व शान्ति बनाये रखने के लिए जरूरी है एवं दूसरा हाथ ग्वाल-बाला के सिर पर स्नेह से रखे हैं। विशिष्ट प्रकार की मुखाकृति, जिनकी बड़ी तथा तिरछी भौहें में किशनगढ़ की भाँति कुछ खिंचाव है। कृष्ण का शरीर श्यामवर्ण का तथा होठ गुलाबी व छोटे बन पड़े हैं, अलंकरण में सिर पर ताज जिस पर कोमल दो कमल कलियाँ एवं मयूर पंख, ललाट पर तिलक जो भौहें से नीचे तक, कानों में कुण्डल के समान दो कदम पुष्प, गले में मोतियों, स्वर्णो तथा पुष्पों की माला जो उनके पाँवों को चूमती है, में स्वाभाविक लहर है, कलाई में कड़ा एवं भुजदण्ड तथा पगों में पायल

1. पहाड़ी चित्रकला, ले0-किशोरी लाल वैद्य, ओमचन्द हाण्डा, पृ0-97

को धारण किये हैं। कमर में एक साफा लाल रंग का तथा पिताम्बर (धोती) पहने हुये हैं, जिसमें स्वाभाविक सिकन है इस प्रकार कृष्ण की आकृति चित्र के चार प्रकारों में सत्य वैणिक, नागर और मिश्र में एक सत्य के समान है। 'सत्य, जिसमें लोक, सादृश्य में होता है, जो सुकुमार, प्रमाण और सुन्दर आधार से युक्त और लम्बे अंगों वाला होता है।[1] बाँयीं तरफ पाँच ग्वाल-बालों की आकृतियाँ हैं जो चटकीले गौर वर्ण तथा पगड़ी धारण किये हैं, ये पगड़ियाँ कुछ मुगल पगड़ियों के समान हैं। दाँयीं तरफ की आकृति में एक ग्वाल-बाल, बलदाऊ जो श्वेत वर्ण में, नन्द जी श्वेत दाढ़ी तथा पगड़ी घेरदार जामा जो कलाईयों एवं पिण्डलियों से नीचे तक है। चूड़ीदार पाजामा, कमर में सफेद साफा बाँधे हुये जिसके किनारों पर अलंकरण हुये हैं। ये पूर्णतः मुगल राज का पोशाक है। एक नारी आकृति सबसे किनारे कुछ आश्चर्य के भाव से कृष्ण को निरख रही है। सभी की आँखे धनुष के समान खींची हुई कलाईयों में स्वर्ण का कड़ा, भुजदंड एवं चटक रंगो की धोती या जाँघिया पहने हैं। चित्रों में भंगिमायें तथा मुद्रायें सुन्दर किन्तु प्रत्येक आकृति की कुछ अपनी मौलिक विशेषतायें लिये हुये है। इन चित्रों में रेखा बहुत ही कोमल, बारीक और प्रभावपूर्ण है। चित्र में आकृति की यथार्थ छटा बिखरी हुई है। नारी आकृति में भौतिकतावादी दृष्टिकोण है, चित्रकार ने ग्वाल-बालों को छन्दमय शारीरिक सौन्दर्य जिसमें काव्यात्मकता और परिमार्जित भावना दृष्टिगोचर होती है।

धनात्मक अन्तराल में कलाकार ने सभी आकृतियों को संयोजित किया है व धनात्मक अन्तराल ही सम्पूर्ण फलक को अपने आगोश में छिपाये हुये है।

---

1. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन, ले0-डॉ0 रामलखन शुक्ल, पृ0-220

जैसे--भाद्रमास में नदी सम्पूर्ण तट को अपने आँचल में समेट लेती है और किनारे की वसुन्धरा साड़ी के बार्डर के रूप में नजर आती है। नदी के समान ही इस चित्र का धनात्मक अन्तराल है, इसको क्षैतिज विस्तार दिया गया है। हम जब भी प्रकृति को देखते हैं तो उसमें क्षैतिज विस्तार की ही प्रचुरता होती है, वह सृजनकर्त्ता के मस्तिष्क में घर कर जाती है उसी अनुसार सृजनकर्त्ता अन्तराल विभाजन करता है और यही श्रेष्ठ विभाजन है। सृजन कर्ता को जो धरातल उपलब्ध होता है, वो समतल होता है जबकि प्रकृति के नाना रूप, विभिन्न प्रकार के ऊतंगों तथा खाईयों में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु सृजनकर्त्ता भी अपने बुद्धिकौशल का परिचय देते हुए परिप्रेक्ष्य के नियमों के अनुसार उसे उसी रूप में अपनी वर्तना से आभाषित रूप को दीप्त कर देता है। इस फलक में भी इसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न किया गया हैं। चित्र के ऊपरी हिस्से में पूरे फलक के चौथाई से भी कम भाग को अलग किया गया है तथा निचले हिस्से में भी थोड़ा सा भाग अलग किया गया है। जिसके कारण चित्र के समस्त भाग इस प्रकार सुनियोजित हैं कि कलाकृति आकर्षक उभर आयी है।

काँगड़ा चित्रकला-

अधिकांशतः पहाड़ी चित्रकला काँगड़ा कलम के नाम से जानी गई है। काँगड़ा कलम को ही पहाड़ी कला का पर्यायवाची समझना इस बात का स्पष्ट आभास देता है कि सम्पूर्ण पहाड़ी कला के इतिहास में काँगड़ा कलम एक सर्वोच्च उपलब्धि रही और अन्य क्षेत्रों में जहाँ भी पहाड़ी कला का विस्तार देखने में आता है किन्हीं लोकगत प्रभावों के अनुरूप उसका स्वरूप अवश्य निखरा है, पर कहीं भी काँगड़ा-सी उपलब्ध रंग और रेखाओं की अत्यन्त

सुरुचिपूर्ण भावभीनी झलकियाँ देखने में नहीं आती। यही कारण है कि क्न्यम सामान्य कला प्रेमी को अथवा किसी कलावेत्ता को पहाड़ी कला के लिए काँगड़ा चित्रकला एक पर्यायवाची स्वीकारने में कभी कोई आपत्ति नहीं हुई। पहाड़ी चित्रकला के अन्तर्गत हम उस कला-आन्दोलन को देख-समझ सकते हैं जो हिमालय के आँचल में बसी भूतपूर्व देसी रियासतों में सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पनपकर समाप्तप्राय हो गया। इसी कला आन्दोलन में जो विशिष्टतम रहा वह काँगड़ा कलम है।[1]

1786 से 1805 तक काँगड़ा पहाड़ी राज्यों का एक शक्तिशाली राज्य था। 1770 के तुरन्त बाद पंजाब में अफगान सत्ता का पतन हुआ और इन राज्यों का मुकाबला सिक्खों से हुआ। महाराजा रणजीत सिंह ने काँगड़ा राज्य समूह को अपनी आधीनता में लिया और काँगड़ा का दुर्ग उनके हाथ में आ गया। राजा संसारचन्द (1775-1823) के काल में काँगड़ा के दुर्ग पर कटोच शासकों (1786) का कब्जा हुआ। बीस वर्ष तक उसके हाथ में पूर्ण सत्ता रही और उसको उतनी ख्याति मिली जितनी किसी अन्य पूर्ववर्ती राजा को नहीं मिली। उसके शासनकाल में चित्रकला को समुचित संरक्षण मिला।[2]

काँगड़ा के समस्त चित्रों का विवेचन इस प्रकार है-काँगड़ा शैली का मानक रूप में विकास संसारचंद के आरम्भिक शासनकाल के लगभग हुआ। मानक शैली में स्त्रियों की नाक माथे के समानान्तर चित्रित की गयी है और आँखें लम्बी और पतली है, ठोड़ी उभरी हुई है, चेहरे की आकृति को गहराई

---

1. पहाड़ी - चित्रकला, ले0-किशोरी लाल वैद्य, ओमचन्द हाण्डा, पृ0-104
2. मध्यकालीन भारत, भाग-2, ले0-सं0 हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ0-506

से चित्रित नहीं किया गया है और बालों को काली पट्टी से चित्रित किया गया है जिसमें किसी अन्य रंग की आभा नहीं है। इस प्रकार का चित्रण काँगड़ा के दस में से नौ चित्रों में तथा संसारचंद के महिलाओं के साथ बने चित्रों में किया गया है। भागवत् शैली में चेहरों का आकार सुंदर है और उनमें एक प्रकार की कोमलता है, नाक छोटी बनाई गयी और ऊपर की ओर उठाई हुयी है। बालों का चित्रण सावधानी से किया गया है। काँगड़ा शैली की ख्याति इसी समूह के चित्रों पर आधारित है जिनको परवर्ती गुलेर शैली का भी माना गया है। काँगड़ा शैली के प्रमुख चित्र समूहों में एक भागवत पुराण है जो कि अब बिखरी हुई है। एक गीत गोविन्द है जो टेहरी गढ़वाल दरबार के संग्रह में है, एक 17वीं शताब्दी की कवि बिहारी का सतसैया है जिसमें कृष्ण और राधा का प्रेम वर्णन किया गया है, एक रागमाला है जो राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में है और एक बारहमासा है जो लांबागाँव दरबार के संग्रह में है।

काँगड़ा शैली में प्रकृति के प्रति प्रेम की भावना परिलक्षित होती है। जहाँ दो प्रेमियों को खुली छत पर चित्रित किया गया है वहाँ आलमपुर और सुजानपुर में बहती शांत व्यास नदी को चित्रित किया गया जिसके ढलानदार तट पर सफेद भवन बने हुए दिखाए गये हैं और आसमान में शरद ऋतु का पूर्ण चंद्रमा उदय होता दिखाया गया है। यही चित्रण काँगड़ा शैली की विशेषता है। इन चित्रों में प्राकृतिक दृश्य काव्यात्मक भावना और आकर्षण से ओतप्रोत है।

अंत में काँगड़ा शैली में वैष्णव गीतों को चित्रण द्वारा प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति का चित्रण काव्यात्मक प्रतीकों द्वारा पात्रों की मनोदशा से पूर्ण रूप से सम्मिलित है। जैसे वहाँ खिले फूलों के दृश्य दिखाये गए हैं वहाँ वे

प्रेमियों के प्रेम के प्रस्फुरण के रूप में दिखायी देते हैं। पेड़ों की सूखी डालियाँ वियोग की पीड़ा और विरह की भावना को प्रदर्शित करती हैं। इन चित्रों में संस्कृत और हिन्दी के प्रेम काव्यों के प्रतीकों को बड़ी कोमलता से प्रदर्शित किया गया है। आकृतियों को भी कोमल और महीन रेखाओं से चिन्हित किया गया है। काँगड़ा शैली में रंगों की जो चमक दिखाई देती है वह किसी अन्य शैली में दिखाई नहीं देती। इन चित्रों में अद्वितीय स्पष्टता है जो भारतीय परम्परा में अन्यत्र दिखाई नहीं देती। काँगड़ा कलम का ही चित्र क्रमांक-70 तथा 71 को विवेचित किया जा रहा है।

चित्र क्रमांक-70, बिहारी सतसई पर आधारित काँगड़ा शैली की सुकोमल पेन्टिंग हैं। काँगड़ा शैली के चित्रों में सर्वाधिक प्रभावशाली आकृतियाँ स्त्रियों की हैं और इस प्रकार के ये चित्र अधिक वायवी एवं कृशकाय हैं। आँखें धनुषाकार हैं। उंगलियों में नजाकत तथा लय है। रंगों और तूलिका में कहीं भी बेतुकापन या अनावश्यक भड़कीलापन नहीं है। लगभग 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इमारतों के जो नमूने बनाये गये हैं उनकी भरपूर नक्काशी सुकोमल रेखाओं के द्वारा की गयी है।

काँगड़ा शैली तथा इस चित्र की अनुपम विशेषता उसकी रेखाओं में है, जो कि दर्शक के हृदय में अपना स्थायी प्रभाव अंकित कर देती है। इस चित्र में एक गहरी काव्यात्मकता भी समन्वित है। इस काव्यात्मकता के कारण ही ये चित्र, दर्शक के मन पर संगीत और नृत्य जैसा आनन्दमय प्रभाव छोड़ जाता है। ये चित्र, काव्य पर आधारित हैं, इसलिए इसमें एक ओर तो जीवन का हर पहलू धर्म के वातावरण में डूबा रहता है दूसरी ओर संयोग और वियोग का

जो हर्ष-विषाद एवं सुख-दु:ख है उनसे मानवीय उद्वेगों को एक प्रकार से सहानुभूति की वाणी मिलती है।

काँगड़ा शैली के रंग तथा परिप्रेक्ष्य दृष्टिकोण पर डॉ0 अविनाश बहादुर वर्मा का विचार है कि "काँगड़ा शैली के चित्रों में दर्ष्टिक-परिपेक्ष्य नहीं है। चित्रकार ने अपने आलेखन और चित्र योजना को कल्पना के आधर पर बनाया है और उसने परिप्रेक्ष्य के प्रयोग से इनकी विकृति नहीं होने दी है, परन्तु इस कमी को अपने चमकदार रंग और कोमल रेखांकन से पूरा कर दिया है। काँगड़ा के चित्रकार ने अमिश्रित रंग जैसे-लाल, पीला तथा नीला रंगों का प्रयोग किया है, जो आज भी उसी प्रकार चमकदार बने हुये हैं। मिश्रित तथा हल्के रंगों में चित्रकार ने गुलाबी, बैगनी, हरा, फाखताई तथा हल्के नीले रंग का प्रयोग किया है। हल्के रंग के अधिक प्रयोगों से चित्रों में ओज और कोमलता की अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। भवनों में सफेद रंग अधिकांश अबरकी सफेद रंग का है। स्त्रियों के परिधान में अल्जेरियन क्रिमसन का प्रयोग किया गया है जो अन्यत्र चित्रों में प्रयोग नहीं किया गया है। बहुत से रेखाचित्र या चरवे चित्रकारों के संग्रह में नवीन चित्रों के निर्माण के लिये सुरक्षित रखे रहते थे। इन अपूर्ण चित्रों पर रंग के नाम भी अंकित रहते थे। इस प्रकार के अनेक अपूर्ण चित्रों के उदाहरण प्राप्त हैं जिनमें चित्रों में प्रयुक्त रंगों के नाम ज्ञात हो जाते हैं।[1]

इस चित्र में प्रधान आकृति योजना भव्य भवनों के बीच नायक-नायिका का संयोजन है। भवन का अंकन बहुत ही दिव्य और कलापूर्ण है। अग्रभूमि में

---

1. भारतीय चित्रकला का इतिहास, ले0-डॉ0 अविनाश बहादुर वर्मा, पृ0-256

जो भवन का भाग है, उसकी ईंटों को ईंटों की चटकीले रंगों से भरा गया है, इससे अतिसुन्दर दीवारों का दीप्त दृश्य दृष्टिपट पर उभर आता है, इनके छज्जे सफेद संगमरमर के समान बनाये गये हैं इसके बीच में खुली खिड़की है, जिसमें सुकोमल, सरस, मनमोहक, माधुर्य लिये लाल तेज रंग की चादर ओढ़े नायिका ऊपर नायक को निरख रही है। नायिका के सुर्ख लाल रंग की चादर तेज एवं प्रेम का प्रतीक है। मध्य भाग के भवन को श्वेत रंग से रंजित किया है, जिसमें भी एक खिड़की जालीदार व दूसरी खुली हुयी है। श्याम रंग का नायक, नायिका का चक्षु दर्शन कर रहा है। आकाश को आसमानी नीले तथा उसमें सुर्ख लाल रंग की पट्टियाँ काँगड़ा शैली में प्रेम के प्रतीक के रूप में लगायी गयी है। इस पूरे आकृति को घेरता हुआ लगभग अण्डाकृति का बार्डर स्वच्छ, सपाट, धवल रंग का है एवं इसके चारों किनारे पर्शियन ब्राउन है जिसमें स्वर्ण का भास देते हुये भूरे रंग से अलंकरण किया गया है, इसके बाद इसके चारो बार्डर सपाट पीले रंग से बनाये गये हैं। रंगों के विरोधी गुणों के कारण चित्र में प्रबल सक्रियता उत्पन्न हुयी है, जो चित्र को मोहक बना देती हैं। रंगों को आकृतियों में सपाट नहीं भरा गया है, वरन् इसमें छाया-प्रकाश का समुचित प्रयोग किया गया है तथा प्रकृति एवं क्षितिज को भी इसी प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। प्रेम, ज्ञान एवं प्रकृति का प्रयोग इस प्रकार किया गया है रंगों के माध्यम से कि इसमें प्रेम, ज्ञान और रस को पृथक् नहीं किया जा सकता, प्रत्युत इन तीनों का सफल समन्वय हमारे इन्द्रियों के अनुभव से किया जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अनुभूत सुख-सौन्दर्य-चेतना का प्रधान

अंश है।[1] इस प्रकार यह चित्र श्रृंगार रस वाला चित्र है, क्योंकि वर्णो के द्वारा चित्रकार ने श्रृंगार रस के सभी पक्षों को व्यक्त कर दिया है। श्रृंगार रस का चित्र कान्ति, लावण्ययुक्त, रेखा तथा माधुर्य से विभूषित हो तथा उसके केश और आभूषण, कौशल से सजाये गये हों।[2] ये सारी विशेषतायें इस चित्र में विद्यमान हैं।

जब हम पहाड़ी चित्रकला में संगीत तथा काव्य के सम्मिश्रण की बात करते हैं तब भी हमारा ध्यान काँगड़ा कलम के उन चित्रों की ओर जाता है जहाँ हम विशेष रूप से चित्रकला, संगीत और काव्य का समन्वय देखते हैं, मुखाकृति में गढ़नशीलता प्रदर्शित की गयी है। छाया का आभास आँखों के नीचे, नासिका में उभार दिखाने के लिए, होठों के नीचे तथा गरदन में दिया गया है। चेहरे बड़े कोमल और चिकने प्रतीत होते हैं। डॉ0 आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में "चीनी चित्रकला में दृश्य-चित्रण ने जो उपलब्धि की है वही काँगड़ा की कला में प्रेम के अंकन में हुई है। इस कला में पूर्व और पश्चिम का भेद मिट गया है। प्रेमी परस्पर गलबाँही डाले, एक दूसरे के नयनों में झांकते हैं। सखियाँ कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं की चर्चा करती रहती हैं और समस्त प्राणि-जगत् एवं प्रकृति के तत्व स्थिर होकर कृष्ण की वंशी की मधुरता का पान करते हैं।"[3] यह कथन यहाँ शाश्वत सत्य हो रहा है।

इसमें भवन की एक विशेष विशेषता नजर आती है, भवन की सभी खिड़कियाँ ऊपर से गोलाकार हैं, सीधे से चौखट के मुकाबले गोलाई अधिक

---

1. सौन्दर्यशास्त्र, ले0-डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, पृ0-57
2. चित्रसूत्रम्, 43/1-10
3. कला और कलम, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-240

कलापूर्ण लगती है। एक अन्य गुण भी देखा जा सकता है-नायक का अर्द्ध चन्द्रकार मुकुट और नायिका का दुपट्टे से आधा ढंका हुआ सिर भी इन गोलार्द्ध खिड़कियों से मेल खातें हैं, इससे इमारत से लेकर आकृतियों तक में एक लय की व्युत्पत्ति होती है। 'बिहारी सतसई' के विषय को अंकित करते हुये चित्र में नायिका नायक से खिंची हुई दूसरी खिड़की में बैठी है, उसका नायक से कुछ दूरी पर दूसरी खिड़की में बैठना इस बात का द्योतक है कि वह उसे खरी-खोटी सुनाने लगी है। नायक का हाथ उसे समझाने की मुद्रा में उठा है, दो सखियाँ आपस में निरखकर वार्तालाप कर रही है, ना जाने नायक का पक्ष ले रही हैं या नायिका का, लेकिन नायक रूपी कृष्ण तो हर स्थिति पर विजय पाते हैं और तब नायिका अपनी मजबूरी को अभिव्यक्त करती हुई कहती है-

सतर भौंह, रूखे वचन, करत कठिनु मनु नीठि।
कहा करौं, है जाति हरि हेरि हँसौहीं डीठि।।

नायिका का कहना है-मुझे हरी पर गुस्सा आता है, मेरी भौहें सिकुड़ जाती हैं, बोल रूखे हो जाते हैं, मन कठोर कर लेती हूँ लेकिन क्या करूँ, हरी को देखते ही मेरी आँखों में हँसी फूटने लगती है।[1] इस प्रकार इस चित्रफलक में छन्दमय लय की उपस्थिति दर्ज होती है।

कोई भी दर्शक इसे देखकर भाव-विभोर हो उठेगा। चित्र के संयोजन में गजब का संतुलन विद्यमान है, इस अण्डाकार वृत्त के अन्दर संयोजन ऊर्ध्वाधर रूप में स्थापत्य के नियमों के आधार पर हुआ है। इसके भीतर अग्रभूमि बायें

---

1. पहाड़ी चित्रकला, ले0-किशोरी लाल वैद्य, ओमचन्द हाण्डा, पृ0-69

तरफ मीनार के समान पूरे इस भाग के तीन चौथाई हिस्से को छूती है तथा इसकी अग्रभूमि का निचला हिस्सा संतुलन बनाने के लिये क्षैतिज आकार में एक चौथाई से भी कम हिस्से को अपने आगोश में छिपाता है। मध्यभूमि, अग्रभूमि के निचले हिस्से से शुरू होकर क्षितिज को छूती है, यह अग्रभूमि के बाद बचे हिस्से का लगभग आधे से अधिक है इसमें एक रसता न उत्पन्न हो इसलिये इसके भी उपविभाजन किये गये हैं। इसके बाद जो शेष स्थान बचा हुआ है वो सम्पूर्ण गगन को अपने में समाये हुये है। इस चित्र के चारों किनारों पर जो भाग अतिरिक्त है उसको चारो किनारें से मिला दिया गया है जिससे उसमें विरोध के भाव उत्पन्न नहीं होते हैं व चारो तरफ बारीक सादा किनारे का निर्माण किया गया है।

चित्र क्रमांक-77 बिहारी सतसई पर आधारित काँगड़ा कलम का चित्र है। काँगड़ा शैली के चित्रों की प्रमुख विशेषता रेखा की कोमलता, रंगों की चमक तथा अलंकारिक विवरणों की सूक्ष्मता है। अजंता की कला के समान काँगड़ा की कला भी विशेष रूप से रेखा की कला है। आनन्द कुमार स्वामी ने काँगड़ा शैली में शक्तिशाली वक्रीय सीमा रेखा को चित्र की भाषा या आधार माना है। वास्तव में रेखा की कोमलता प्राप्त करने के लिए कलाकार ने गिलहरी के बालों की बनी तूलिका का प्रयोग किया है।

इस चित्र का चित्रकार ने स्त्री-चित्रों की दिशा में सचेष्ट रहा है, सर्वदा ही उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुसार आदर्श रूप को ही ग्रहण किया है। इस आदर्श के भीतर भी उनकी सौन्दर्यविनेवश की भावना विद्यमान रही है। अद्रीश बनर्जी का कहना है, "कला अपने वातावरण की उपज होती है। जलवायु,

पशु-पक्षी, धरती, दर्शन, धर्म, द्रव्य-पदार्थ, साहित्य, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ सभी लोगों के कलात्मक आवेग का पहरावा बनाने में योगदान देते हैं। इस कथन से सहज ही सहमत हुआ जा सकता है। काँगड़ा कलम में वास्तव में इन सभी तत्वों ने भरपूरगी से सहयोग दिया है, कहीं कुछ चूकता नजर नहीं आता।"[1]

भारतीय चित्रकला के मर्मज्ञ विद्वान डब्ल्यू0जी0 आर्चर महोदय ने काँगड़ा कला की आरम्भिक कलाकृतियों को पश्चिम से प्रभावित माना है। काँगड़ा-कलम की इन कृतियों में ताल-सुर-संबंधी रेखायें उसकी समान है प्राकृतिक सुषमा, उसके नारी-आकारों का चित्रण, उसके कल्पित कहानी का आधार-ये सभी बातें पश्चिम की कला और कविता के अनुरूप सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त पाल डैल्वेक्स की कलाकृतियों में काँगड़ा-कलम की अद्‌भुत समानता बतायी गयी है। डेल्वेक्स कला के प्रणयाविभूत नारी की प्रेम-विह्वलता को प्रकट करने वाली सृष्टि से सक्चुअल संकेत, उसकी तीव्र इच्छाओं का निदर्शन बादल, पेड़, फूल आदि को पृष्ठभूमि द्वारा प्रकट किया गया है। आन्तरिक मनोभावों को दर्शित करने के लिये काँगड़ा के कलाकारों ने अपनी कृतियों की पृष्ठभूमि में जिस कविता में वातावरण की सृष्टि की है, डेल्वेक्स की कृतियों में भी ठीक वही भावना प्रवाहित है।

इन सभी के बावजूद काँगड़ा चित्रशैली की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। आज जिस रूप में उसकी स्थिति हमारे समक्ष विद्यमान है उसको देखते हुये

---

1. पहाड़ी चित्रकला, ले0-किशोरी लाल वैद्य, ओमचन्द हाण्डा पृ0-112

कदाचित् ही यह बात सही उतरती हो कि काँगड़ा के उन महान कलाकारों ने अपनी कृतियों के लिये पश्चिम का ऋण स्वीकार किया हो।[1]

इस पूरे चित्र में जो रंग भरे गये हैं वे शान्त तथा आँखों को मनोहारी लगते हैं। अग्रभूमि को हल्के धानी रंग से जो काँगड़ा की सुरम्य घासों के मैदान का भास देती है, पूरे घास के मैदान में छाया-प्रकाश को महत्व देते हुये रंगों के बलों का प्रयोग किया गया है, इसके अतिरिक्त ऊपरी हिस्से में अरुण की किरणें बिखरी हैं, जिससे ऊपरी हिस्से में प्रकाश दीप्ति लिये हुये हल्के हो गये हैं, जबकि नीचे गाढ़े रंग। इसके पीछे तथा आगे सर्पाकार नदी का विहंगम दृश्य उपस्थित है, जिसमें सफेद व काले से बहुत ही बारीक रेखाओं को बनायागया है, इसलिए इसमें लहरों सी गति उत्पन्न हो गयी है। इससे पीछे पहाड़ियाँ हैं जो घास से आच्छादित हैं। आकाश में उषा की किरणों को दिखाने के लिए लाल रंग की हल्की सी पट्टी बना गयी है जो काँगड़ा शैली में प्रेम की भी प्रतीक है। रंगों की तूलिका से कहीं भी अनावश्यक भड़कीलापन नहीं उभरा है। प्रकृति और आकृति का रंग संयोजन ऐसा शायद ही संसार के किसी कला में देखने को मिले। मानों प्रकृति सौन्दर्य के इस रहस्य को समझ कर ही अपनी कृतियों में रंग, ध्वनि, स्पर्श, गन्ध आदि का प्रचुर प्रयोग करती है।... 'मानो' प्रकृति सौन्दर्य चेतना की परमतुष्टि के लिये नानावर्ण, रस, गन्ध और कोमल स्पर्श का विराट आयोजन करती है।[2] इस सौन्दर्य की योजना को कलाकार ने उपस्थितकर 'प्लेटो' के 'अनुरकण का अनुकरण' को सत्य कर डाला है।

---

1. भारतीय चित्रकला, ले0- वाचस्पति गैरोला, पृ0-193
2. सौन्दर्यशास्त्र, ले0-डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, पृ0-57

इसमें नायक श्याम वर्ण का है, श्रृंगार रस को श्याम वर्ण कहा गया है और विष्णु इसके आदि देवता माने गये हैं। विष्णु तथा इनके अवतारों को 'मेघनीला' कहा गया है, वह वस्तुतः गाढ़ा नीला ही है पीछे के कवि तथा चित्रकार नीले, गाढ़े नीले और काले को समानार्थक समझने लगे। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अधिकांश पुरुषों को नीला रंग अधिक प्रिय है।[1]

नील वर्ण अत्यन्त शीतल दायक और सुखप्रद है, सम्भवतः इसी से इसे श्रृंगार के साथ संयुक्त कर दिया गया है। नारी सौन्दर्य को गौर वर्ण के साथ धानी रंग का धरातल ताजगी, यौवन, मनोहारिता, बसन्त, अल्हड़ आदि को इंगित करता है। जिससे जो कलाकार कहना चाहता है उसके मनोवैज्ञानिक तथ्यों को एक-एक रंगों के माध्यम से श्रृंगार भाव को प्रस्तुत करने में सफल रहा है।

काँगड़ा चित्रशैली के विषय में श्री जे0सी0 फ्रेंच का कथन है-"अठ्ठारहवीं सदी में काँगड़ा के चित्रकारों की पट्टियों पर मानों ऊषाकाल और इन्द्रधनुष के रंग थे और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी तूलिका में रंगों का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन किया था। उसके द्वारा अंकित चित्रों में पुरुष मुखाकृतियों से वीरता और नारी-मुखाकृतियों से अद्वितीय सौन्दर्य एवं लज्जाशीलता टपकती है। इन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों हम किसी जादू के संसार में पहुँचे हैं।"[2]

काँगड़ा शैली के चित्रों में वक्रीय आकारों को अपनाया गया है और स्त्री तथा पुरुष दोनों के ही अंगों में यथोचित गोलाई तथा सुडौलता है। स्त्रियों के

---

1. सौन्दर्यशास्त्र तथा प्रयोगत्मक मनोविज्ञान, समालोचक, मासिक पत्रिका, सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक, ले0-प्रो0 नरेन्द्र सिंह चौहान, पृ0-111
2. भारतीय कला और कलम, ले0-डॉ0 गिर्राज किशोर अग्रवाल, पृ0-240

चेहरे, अंग-भंगिमाओं तथा हस्त-मुद्राओं के बनाने में चित्रकार ने कमाल कर दिया है। यौवन तथा लज्जा से पूर्ण नारी का गुलाबी चेहरा और उसके स्वस्थ अंग कलाकार ने स्मृति, कल्पना तथा नियमों की जकड़ में रहते हुए भी यथार्थ ढंग से अंकित किये हैं। प्रायः नायक के नेत्रों को कमलाकार बनाया गया है और चिबुक गोल, पतले, गुलाबी अधर तथा लम्बी-सीधी नासिका बनाई गयी है। चेहरे में गोलाई लाने के लिए गरदन के पास तथा आँख के पास सुकोमल छाया का प्रयोग किया गया है।

नायिका राधा यमुना जल में स्नान करने के पश्चात् किनारे खड़ी अपनी जूड़ा बाँध रही है, रस के लोभी एवं सौन्दर्य प्रेमी नायक श्याम-सुन्दर वहाँ पहले से ही यह दृश्य देखने के लिये बैठे हैं। नायिका की सखी बीच में खड़ी हुयी 'बिहारी सतसई' का यह दोहा कहती है-

कर समेटि कुच भुज उलटि, वाए सीस-पटु टरि।
कॉको मन बाँधें न यह जूरा बाँधन हारि।

पहाड़ी चित्रकला में मुद्रायें विशेष स्थान रखती है अन्य अनेक चित्रों के भाँति इस चित्र को देखने से सहज ही उस स्थिति को भाँपा जा सकता है, जिसको दृष्टिगत रखते हुये चितेरे ने इसे अंकित किया होगा। पहाड़ी चित्रों की विशेषता उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति है वे स्वयं ही अपने अर्थ की बोधक हैं उनमें अपनी ओर से अर्थ गढ़ने नहीं पड़ते और नहीं अलग-अलग अर्थ निकाल सकते हैं। उनकी अपील शाश्वत है, किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित नहीं। उक्त चित्र को देखने पर कोई भी व्यक्ति उसके गतिमय लय को समझ सकता है, चाहे वह 'बिहारी सतसई' अथवा नायक-नायिका भेद से भिज्ञ हो या नहीं।

काँगड़ा के सृजनकर्त्ताओं ने संयोजन के नियमों का पूर्णतः पालन किया है, जिससे चित्रकला को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है, शायद ही कहीं के चित्र निर्माता इस स्थान को प्राप्त कर सकेंगे।

संयोजन अग्रिम चित्र के समान ही हुआ है। सम्पूर्ण चित्र को लगभग अण्डाकृति में अलग कर लिया गया है तथा इसमें अग्रभूमि इस अण्डाकृति का एक चौथाई हिस्सा है, बहुत सक्रिय है तथा कहीं भी अपने को विलुप्त होती नहीं पाती, बल्कि इसमें अपार गति का भास होता है। इसके पश्चात मध्यभूमि तीन चौथाई हिस्से में विद्यमान है। मध्यभूमि अग्रभूमि के निचले हिस्से से आरम्भ होकर ऊपर दूर तक नजर आती है, इसके बाद इसका ऊपरी हिस्सा आता है जो इस भाग के थोड़े से हिस्से में अपने को पाता है। इसके चारों किनारों को आलेखनों के द्वारा मिलाया गया है। इस चित्र में कहीं रिक्तता विद्यमान नहीं हैं, सम्पूर्ण चित्र में संघर्ष तथा सन्तुलन अवस्थित है जिससे चित्र आकर्षक तथा चित्त को रिझाता है।

अन्य चित्र शैलियाँ-

इस शोध ग्रन्थ में लगे संपूर्ण चित्रों की कला तत्वों के परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन के सारतत्व को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं -

लयात्मक ओज से पूर्ण बोतिशेली रेखाओं और बक्रों की संवेदनशीलता, शान्त भाव और माधुर्य विशेष रूप से कृष्णलीला, नायिका भेद चित्रों में श्रृंगारिक दृश्यों एवं अन्य रूपों के विविध प्रकार के नारी सौन्दर्य के निरूपण से स्पष्ट है। स्त्री के सुकुमार शरीर की सुन्दरता और मृदुलता और उसकी पारदर्शी, किन्तु लज्जालु चेष्टायें और गतियाँ प्रवाहमान लयात्मक रेखाओं, मधुर

वर्णों तथा कोमल झलक में गुम्फित हैं, जो प्रेम और सुन्दरता का वह संसार उत्पन्न कर देते हैं, जो उतना ही शाश्वत है, जितना कि वह प्रेम जिसमें नारी ने अपना हृदय उड़ेल दिया है। उसकी सुन्दरता उत्तर भारत की समसामयिक हथकरघा की कला से उद्‌भूत उच्च प्रकार के अलंकारिक रूपाकृतियों तथा अन्य वस्त्रों की उत्कृष्टता और कला निपुणता से, तथा उसकी प्रतीकात्मक चेष्टाओं की भेदकता तथा सहज सजीवता से बढ़ जाती है। यह चेष्टायें श्रृंगार रस के उन भावों तथा संवेगों का समावेश करती है, जो उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को उन्नत और रूपान्तरित करती है। उसकी क्षुद्र भंगिमा, हल्का सा सिर का झुकाव और अंगों का सूक्ष्म स्पंदन, उसके केश-विन्यास की रीति, उसके वस्त्राभूषण सभी आवेग उन विशिष्ट लक्षणों की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण हैं, जो जीवन की चरम पूर्णता के स्थायी गुणों से समन्वित हैं। इस प्रकार उसकी उत्कण्ठा में शान्ति है, आकुल आशा में हर्ष और निराशा में धैर्य है। विस्तृत वक्रों और प्रवाहमान रेखाओं के समानान्तरों और क्षैतिजों द्वारा प्रमुखता प्राप्त शान्त भाव सूक्ष्म चित्रों की संरचना की स्पष्टता और सरलता द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस पर सामान्य रंगों के प्रतिमानों, लाल, नीला तथा सुनहरी के प्रतीकत्व द्वारा भी बल दिया जाता है, जो मूल संवेगों और स्थितियों को सूचित करते हैं इसके अतिरिक्त कमलों के सफेद समूह, जल के नील सरोवरों, हरे मैदानों, लम्बे सममित वृक्षों या शिखरों और लिपटी लताओं, हिरणों, पक्षियों, मृदु धूप और हल्की वर्षा सहित दृश्य के अमूर्त निरूपण द्वारा बल दिया जाता है। यह सब आत्मज्ञानी अर्थ और मूल्य से पूर्ण हैं। सफेद संगमरमर के स्थापत्य की पुरुष रेखायें तीव्र कोणों, कोण और विकर्ण अपनी प्रतिकूलता से ही जिस

भंगिमा और गतियों में स्त्री रूपों की कोमलता और प्रस्वगाशील सुन्दरता की वृद्धि करते हैं, ये प्राय: संरचना के शान्त भाव को दृढ़ करते हैं। समान मुखाकृतियों के चित्रण से नाटकीय प्रेम स्थितियों में आत्मज्ञानी मूल्यों का समावेश किया जाता है। समस्त स्त्रियाँ राधा हैं और उनमें वही गुण और रूप है। राधा या नायिकाओं की अन्तरंग सखियों, परिचारिकाओं तथा दासियों को केवल उनके वस्त्रों और चेष्टाओं से पहचाना जा सकता है। राधा और कृष्ण एक दूसरे के लिए निर्वैयक्तिक आराधना के चित्रण में इस प्रकार के रूपान्तरण हैं और भक्ति के शैलीगत संवेग के साथ स्त्री के हृदय के संवेगशील अनुभव के चित्रण में एकात्म है, जो यथार्थ में इन्द्रिय सौन्दर्य को शाश्वत और विश्वजनित हर्ष में रूपान्तरित कर देता है। इसका सर्वांगीण प्रभाव मनोहारी स्वप्नलोक की पृष्ठभूमि में नियोजित शान्त और स्थायी मानव आकर्षण का परिग्रहण है। ऋतु चक्र में प्रकृति का अकृत्रिम प्रेम, वाद्य, गायन और नृत्य की लय में स्वत: स्फूर्ति उल्लास और भक्ति प्रेम के संयोग की अभिव्यंजना वादी, प्रतिकात्मकता दूसरे लोक से लायी प्रभा और उन जनप्रिय, पुरावृत्तों, आख्यानों और काव्यों से प्रस्रावित दैवीय व्यापिता के प्रबल उत्साह से सामान्य जीवन के दृश्यों को व्यक्त कर देता है, जो चाक्षुष, लयात्मक कविता की रचना करती है।

अध्याय - पंचम

कला और साहित्य का मूल्यांकन –

हमने अपने पूर्व के पृष्ठों में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय कला का विस्तार ऋग्वेद से लेकर आज तक यानि सूचना प्रौद्योगिकी के युग तक वैसे ही फैल रहा है, जैसे कला कोई नयी-नवेली दुल्हन हो, जिसके एक झलक के लिए सब बेताब हों, हम देखते हैं कि प्रारम्भ से 20वीं शताब्दी तक धर्म और कला का घनिष्ठ संबन्ध रहा है। धर्म और दर्शन के उदार क्षेत्र में समय और तप के जिन आदर्शों की कल्पना समय-समय पर प्रकट होती रही उसी को मूर्तिमान रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए कलाकारों ने प्रयत्न किया, एक प्रकार से भारतीय धर्म, जीवन की पूर्णता के लिए हुए नृत्य, गीत, अभिनय और कला की प्रवृत्तियों के द्वारा फूला-फला। इसका प्रभाव धर्म और जीवन दोनों पर ही अच्छा हुआ है।[1] कला अपने माध्यम से अर्मूत को मूर्त रूप प्रदान करके हमारे समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करती है।

चूंकि हमारा आशय चित्रकला से है, यह संस्कृति और युग की वाह्य सीमाओं और कलाकार के उद्देश्यों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। चित्रकला में समस्त नवीन आन्दोलन अब तक अप्रकट मानव संवेगों और भावों के अनुयोजन में रूपगत प्रतिकृतियों और रंगों के प्रयोग की संभावनाओं का उपयोग है। चीनी कलाकारों ने प्रकृति दृश्यों की सजीवता और अवकाशीय लय को ग्रहण किया। भारतीय चित्रकारों ने आत्मज्ञानी अथवा धार्मिक बोध की

---

1. कला और संस्कृति, डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0-220

महिमा और शान्ति को उद्घाटित किया। डच चित्रकार घरेलू दृश्यों और सजावटों की लय और अभिकल्प को प्रकाश में लाए। सेजान[1] ने रंगों और आभाओं की सन्निधि के द्वारा प्रकृति में ठोस रूपों और लयों को उद्घाटित किया। वानगांग ने शिल्पविधि के सोद्देश्य निरूपण और उत्तेजन द्वारा मानव संवेगों को तीव्रतर किया। आधुनिक घनवादियों ने अभिव्यक्ति की शुद्धता के लिए प्रकृति को घनों, शंकुओं और स्तम्भों में विभक्त कर दिया।

निर्माणवादी यान्त्रिक जगत् के आकारों और पदार्थों की उस लय और अन्तर्निहित गुणों को प्रकाश में लाते हैं, जो यन्त्रों को मनुष्य बना देते हैं। ग्लोबल गाँव की बात उपग्रह मीडिया के प्रारंभ के जमाने की बात है। अब हम इन्टरनेट के युग में प्रवेश कर चुके हैं और साइबर स्पेस के संवाद बन चुके हैं, प्रत्येक देश के ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला तथा संस्कृति से प्रभावित, प्रेरित लाभान्वित हो रहे हैं। फिर भी मानवीय कला विवरण द्वारा न तो शिल्पविधि की संभावनाओं का अन्त हो सकता है और न शिल्पविधियों और रीतियों के सूक्ष्म, ऐन्द्रिय और संवेगात्मक आकर्षणों की पूर्णरूप से व्याख्या हो सकती है। समस्त महान् कला की छलना मानवीय अर्थ के साथ ऐन्द्रिय और सज्जात्मक गुणों के ऐसे सूक्ष्म संयोजन की उपलब्धि में है, जो कि मनुष्य को बिना यह जानने में समर्थ हुए कि ऐसा क्यों है, एक विशेष योजना में अत्यन्त अभिव्यक्तिपूर्ण रहें।

जितना अधिक सुन्दर संरूपण और आदर्श, संहति और सामंजस्य विन्यास होगा, उतना ही अच्छा कलात्मक बोध होगा। विभिन्नता में एकता के जटिलता

---

1. आधुनिक चित्रकला का इतिहास : रा0वि0 साखरकर-88 नं0 3-96, 4-199

में क्रम के गठन या सन्धियोग के अखंडता और पृथक्करण के सिद्धान्त न केवल इन्द्रिय गोचर क्षेत्र में, किन्तु कलात्मक दृष्टि में सन्निहित मानव अर्थ और अनुभव में भी व्यवहृत होते हैं। मनोविज्ञान कला के गूढ़तम अर्थ को प्रकट नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान और भावना की उस अनुकूलता और प्रतिकूलता के ढाँचे में अपने को सीमित रखता है, जिनमें कार्यकरण हो। सच्ची कला की शिल्प के नियमों और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों से परीक्षा नहीं होती है। किन्तु अति-वैयक्तिक भावों, अर्थों और मूल्यों (रस) से, जो कलाकृति को स्थान और काल की सीमाओं, व्यक्तिगत भावों और इच्छाओं और अनुकूल संतुष्टियों से ऊपर ऊठा देते हैं, सौन्दर्यमय जीवन की सम्पन्नता और उत्कर्ष उन प्राविधिक कार्यविधियों के विस्तार और पूर्णता से निर्मित नहीं होते, जो व्यावहारिक मनोविज्ञान से स्पष्ट किये जा सकें। किन्तु आत्मन् और ब्रह्माण्ड के गहनतम संयोग से घटित होते हैं। कला का सम्बन्ध जहाँ तक निरपेक्ष सार्वभौम अर्थों, मूल्यों और संगतियों से है, वह प्रयोगशील के उपकरणों और विधियों का अतिक्रमण कर जाता है।

समाकृति का न केवल 'समस्त गुण धर्मों' के संरचनात्मक प्रतिरूप से समाविष्ट यह पक्ष कलात्मक अभिव्यक्ति व्यक्तिगत और व्यापक भावनाओं और मूल्यों (रसों) की अन्तर्व्याप्ति भी तत्वमीमांसा द्वारा अधिक उपयुक्तता से स्पष्टतया अभिव्यक्त हो सकती है। समस्त महान कला ने निस्सन्देह न केवल आत्मपरक भावों और वृत्तियों की समग्रता, किन्तु व्यक्तियों और समाजों के स्थायी, संचयी मूल्यों और अनुभवों की समग्रता को भी व्यक्त करती है। उनका प्रयोजन उन व्यक्तिगत और सामूहिक भावनाओं और वृत्तियों दोनों की

सम्पन्नता, निर्वैयक्तिकता और व्याप्ति में सन्निहित है, जिन्हें कि वह अविभक्त करती है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूर्णता को उसकी बहुविध रूझानों, रुचियों और शोधों तथा संस्कृति के समग्र सामाजिक अनुभव में प्रतिरूपित करती है। यह तर्क सम्मत समग्रता में आन्तरिक और वाह्य के समन्वय द्वारा विशिष्ट है। भारत में कुछ कलारूप विकसित हुए हैं, जो प्रकृति की पृष्ठभूमि तथा मनुष्य के संवेगात्मक जीवन में रूपों और रंगों, स्वरों और ध्वनियों, प्रतिरूपों और अनुषंगों, प्रयोजनों और मूल्यों की अत्यन्त असाधारण अनुरूपता उदाहृत करते हैं, जो आत्मपरक तथा शैलीगत स्थायी सौन्दर्यशास्त्री अनुभवों में आन्तरिक और वाह्य का अपूर्व समाकलन है।[1]

जब उन्नीसवीं सदी का समापन हो रहा था तो शायद ही किसी ने ऐसी चिन्ता प्रकट की हो कि बीसवीं सदी में क्या और कैसे हो जायेगा। वह ऐसा समय था जबकि हमने पश्चिम का ऐसा वर्चस्व स्वीकार भी नहीं किया था और उसके समय-बोध के सारे संसार का समय-बोध और उसके पंचांग मानने की शुरूआत भी नहीं हुई थी। लेकिन इन दिनों अनेक मंचों से यह चिन्ता जब-तब प्रकट होती रहती है कि अगली सदी में क्या और कैसे होगा। कई हलकों में, मसलन कम्प्यूटर, अभिकलन आदि में तो इसकी पूरी तैयारी चल रही थी। क्योंकि उनके सामने अगली सदी में उठने वाली कुछ ठोस समस्याओं का स्पष्ट अनुमान था। कलाएँ ऐसा क्षेत्र हैं जहाँ प्रायः अप्रत्याशित ही होता रहा है। इसीलिए यह अनुमान करना कठिन है कि अगली सदी मे कलाओं का क्या होगा। ऐसे प्रश्न का एक उत्तर तो यह दिया ही जा सकता है कि वही

---

1. 'भारतीय कला का विकास, डॉ0 राधाकुमुद मुखर्जी, पृ0-249

होगा जो हर सदी में हुआ है, जिसका आशय है कि कलाओं के सामने निरन्तरता और परिवर्तन के दोनों आयाम फिर होंगे, हो सकता है कि परिवर्तन का आयाम कुछ अधिक सक्रिय और गतिशील हो जाय लेकिन यह मानने का कोई कारण नहीं कि निरन्तरता का आयाम ओझल या अप्रासंगिक हो जाएगा। यह अटकल लगायी जा सकती है कि हो सकता है कि रोजमर्रा की जिन्दगी और सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों में निरन्तरता की वैसी जगह और जरूरत न बचे जैसी की आज है। लेकिन तब शायद कलाओं की ओर इसलिए झुकेंगे कि वहाँ निरन्तरता बची रहेगी। यों तो बिना परम्परा के मनुष्यता की कल्पनाकरना संभव नहीं रह गया है। लेकिन हो सकता है कि परम्परा का घर अगली सदी में मुख्यत: कलाएँ ही हों।

बीसवीं सदी का एक मुख्य अभिप्राय रहा है इतिहास आक्रान्ति के इतिहास को बदलने से लेकर उसके अन्त तक के दावे किये गये हैं। यह भी कहा जाता रहा है कि जो इतिहास के साथ नहीं चलेगा वह अन्तत: नष्ट हो जायेगा। इतिहास से यह आशय रहा है वह एक रैखिकता जो कि समय को मापने का एक तरीका तो है लेकिन एकमात्र तरीका नहीं। इस उधेड़बुन में हम प्राय: यह भूल जाते हैं कि कलाओं का एक हिस्सा अगर इतिहास से जुड़ा है तो दूसरा अनन्त से। वे अपने देशकाल में बंधी होती हैं पर उनकी चेष्टा उनसे मुक्ति की है। वे दूसरा समय रचती हैं। हम सिर्फ अपने समय में बंधे रहना नहीं चाहते हैं। हम याद करना चाहते हैं, सपने देखते हैं, हम अतीत और भविष्य को अपने वर्तमान में संक्षिप्त करना चाहते हैं। हम अपनी अच्छी-बुरी दुनिया से अलग दूसरी दुनिया की तलाश में रहते हैं। यह दूसरा समय और

दूसरी दुनिया कलाएँ हमारे लिए संभव बनाती हैं। यह मानने का कोई आधार नहीं नजर आता कि दूसरे समय और दूसरी दुनिया हमारे लिए रचने-खोजने की कलाओं की शक्ति 21वीं सदी में कुछ घट जाएगी या कि उनके लिए हमारी ललक शान्त हो जाएगी।

किन्तु वास्तविकता के धरातल पर पाँव रखते हैं तो पाते हैं कि कला में आज लोगों की रुचियाँ घट रही है। यदि घट रही है, तो दिन-प्रतिदिन कलाओं में काम करने वालों की संख्या क्यों बढ़ रही है? सामाजिक जीवन के किस क्षेत्र में उतार चढ़ाव नहीं आते? क्या राजनीति में लोगों की रुचि कम नहीं हुयी है? या फिर साहित्य और पठन-पाठन की ओर लोग विमुख नहीं हुए हैं? इसके प्रतिउत्तर में सुप्रसिद्ध कला समीक्षक प्रयाग शुक्ल के बयान दर्शनीय हैं जो इस प्रकार है- 'जहाँ तक कला के प्रदर्शन का सवाल है उसके मौके बढ़े हैं लेकिन यह सच है कि कला माध्यमों में लोगों की वास्तवि"क रुचि कम हो रही है। आप पायेंगे कि चाहें संगीत हो, नाटक हो या चित्र प्रदर्शनी हो बहुतेरे श्रोता और दर्शक उनसे जब भी जुड़ते हैं तो सरसरी तौर पर ही जुड़ते हैं। कला को परखने से लेकर श्रोताओं और दर्शकों के बीच में गहन चिन्तन-मनन का अभाव है। उनको प्रशिक्षित करने की कोशिशें भी बहुत कम हो रही हैं। एक बड़ा कारण यह भी है कि लोगों के पास अब समय का अभाव है। मीडिया कला संबंधी विचारों को जनता तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती थी और लोगों की रुचि कला की ओर बढ़ सकती थी। परन्तु दुर्भाग्यवश मीडिया भी गासिप और सनसनीखेज खबरों या सतही तरह की रिपोर्टिंग करना उचित मान रहा है।"[1]

---

1. हिन्दुस्तान, हिन्दी दैनिक

इसी तरह की कुछ बात डॉ0 राम विलास शर्मा अपने एक इण्टरव्यू में कहते हैं: 'यही बात कलाओं को लेकर है। मुझे दुःख इस बात का है कि हमारी नौजवान पीढ़ी में कलाओं के प्रति ज्यादा आकर्षण नहीं रहा और कलाओं का जैसा विकास होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ। ले-देकर भरतनाट्यम और कत्थक, ओडिसी जैसे कुछ शास्त्रीय नृत्य ही हैं। जिनकी ओर लोगों का थोड़ा सा आकर्षण बचा है। वह भी इसलिए कि इन्हें विदेशों में मान्यता मिल जाती हैं। दूरदर्शन के आने से इसमें कोई विकास हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। यों दूरदर्शन का एक यह लाभ तो है कि उसमें आप विस्मिल्लाह खाँ का शहनाई-वादन सुन सकते हैं। लेकिन इसका विरोधी पक्ष भी है। दूरदर्शन ने रुचियों को इतना बिगाड़ दिया है कि नौजवानों को लगता है, क्या देर तक शहनाई सुनते रहें। इसके बजाय कोई चटपटा सीरियल ही क्यों न देखें। तो नौजवानों की हमारी पीढ़ी तो पूरी तरह भ्रष्ट हो चुकी हैं। उस पीढ़ी की तुलना में जो कभी 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी पत्रिकाएँ पढ़कर या निराला, प्रसाद वगैरह की कविताएँ पढ़कर बनती थी। आज की पीढ़ी को देखें तो फर्क एकदम साफ समझ में आयेगा कि आज की पीढ़ी में संस्कार नाम की चीज ही नहीं है।'[1]

यह किसी बूढ़े और अप्रासंगिक हो गयी बुद्धिजीवी की हस्वेमामूल नये लोगों और नये माहौल को कोसना नहीं है। डॉ0 शर्मा उन बूढों में से हैं जो गम्भीरता तैयारी और जिम्मेदारी से हमारे समाज, संस्कृति और साहित्य पर विचार करते रहे हैं। उनसे असहमत हुआ जा सकता है पर उनकी बात ध्यान

---

1. हिन्दुस्तान, हिन्दी दैनिक

और आदर से हिन्दी के बौद्धिक संसार में सुनी-गुनी जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि कलाओं को लेकर और उनसे सम्भव आवश्यक संस्कार को लेकर हिन्दी संसार में व्यापक उदासीनता है। बल्कि विशेषत: लेखक समुदाय में तो कुछ इस तरह की धारणा है कि कलाएँ कुछ कमतर किस्म का मनोरंजन हैं जबकि साहित्य गम्भीर और जिम्मेदार अन्वेषण और संघर्ष है। अपने को लेकर विप्रता का भाव और कलाओं को लेकर कुछ-कुछ शूद्रता का भाव हिन्दी लेखक-समाज में काफी दूर तक फैला हुआ है।

अब स्थिति यह है कि समूचे हिन्दी प्रदेश में या तो पुराने कला संस्थान पूरी तरह ध्वस्त हो चुके हैं या कि समर्थन और सम्प्रेषण के हाशिये पर पहुंचा दिये गये हैं। संस्कृति की सबसे कम चिन्ता हिन्दी राज्यों की अधिकतर सरकारों को रही है और विभिन्न कलाओं का प्रशिक्षण औसत से भी नीचे स्तर का हो चुका है। यह हाल सिर्फ विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों में स्थापित कला-विभागों का ही नहीं है, उन संस्थाओं का भी है जो शास्त्रीय या समकालीन कलाओं में प्रशिक्षण के लिए स्थापित व्यावसायिक संस्थान हैं। समूचे हिन्दी अंचल में एक भी चित्र और मूर्ति कलाओं सम्बन्धी संस्थान नहीं बचा है। जिसने पिछले बीस बरसों में उदाहरण के लिए कुछ नये प्रथम श्रेणी के कलाकार तैयार किये हों। यह नहीं कि हमेशा से ऐसा था, अभी कुछ वर्षों पहले इन्दौर से ही श्रीधर बेन्द्रे, मकबूल फिदा हुसैन जैसी प्रतिभाएँ निकली थीं। एक जमाने में लखनऊ में सुधीर खस्तगीर का नाम आदर से लिया जाता था।

अभी 21वीं शताब्दी के आगमन पर 'रायल चैलेंज सहस्त्राब्दी के चेहरे' इण्डिया टुडे द्वारा जारी रिपोर्ट में एक भी युवा कलाकार का चेहरा हिन्दी प्रदेश

से अपना प्रतिनिधित्व नहीं किया, इससे बड़ी बिंडबना की और बात क्या हो सकती है।

लेकिन अभी 21वीं शताब्दी के आये कुछ ही समय गुजरा है कि कला के क्षेत्र में नयी अफरा-तफरी देखने को मिल रही है। मीडिया का ध्यान भी इधर गया है और कुछ सराहनीय कार्य होने लगे हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के सन्दर्भ में लिखा है कि वह सांस्कृतिक द्वन्द्व की विषम स्थिति में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैत की चिंतन शैली उभर आयी। चिंतन और चिन्तनुकूलि भक्ति की धाराएं दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक प्रसारित हो गयी। भारतीय चिंतन, उपासना और जीवन शैली सबमें अरबों-ईरानी तहजीब-तमुद्दीन के असर में द्वन्द्व पैदा हो गया था। इसी सांस्कृतिक ऊथल-पुथल में भारत की चिरयुगीन मनीषा ने अपनी नई दार्शनिक भंगिमा के साथ एक नई आस्था उत्पन्न कर दी थी। फलत: तर्कपूर्ण भारतीय चिंतन की नूतन छवि के साथ भक्ति काव्य की रचना हुई। इस भक्ति काव्य के लिए लोक भाषा के सहज हृदयस्पर्शी रूप को अपनाया गया। निर्गुण राम, सगुण राम, सगुण कृष्ण तथा निर्गुण कृष्ण ने हमें अपनी मिट्टी, अपने आकाश, अपनी गंगा-यमुना तथा अपने हिमालय से जोड़कर सांस्कृतिक स्वाधीनता के साथ जीने का आधार प्रदान कर दिया था। इस काव्य ने सामाजिक-समरसता की प्राणवायु में सांस लेकर हमारे विषम जीवन को संतुलित करने का प्रयास किया है।

कबीर, सूर और तुलसीदास के काव्य प्रमाण हैं। चिन्तन से संबद्ध सूफी चिन्तन भी भारतीय रूप में मंझन और जायसी के काव्य का आधार बना।

हिन्दी काव्य ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। परिणामस्वरूप भारतीय चिन्तन और काव्यचेतना की व्यापक दृष्टि का परिचय मिला।[1]

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य का रूप इसी प्रकार विकसित होता हुआ भी अनेक अर्थों में संस्कृत अभिजात्य साहित्य की रचनात्मक परिपाटी से अधिक जुडा था। उदाहरण के लिए राउलबेली, संदेशरासक, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि काव्यों को देखा जा सकता है। इन काव्यों में वर्णविधान दृष्टि संस्कृत के ललित साहित्य की रही है। किन्तु काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक चिन्तन से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं था। विविध वर्णन परिपाटियों यथा-नख, मुख, भ्रूविलास, कटाक्ष, सज्जा, मृगया, आखेट, विरह, प्रवास, संयोग आदि साहित्य की पारम्परिक परिपाटियों की छाया से प्रभावित ये काव्य अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों में लोकात्मक न होकर कहीं-न-कहीं अभिजात्य से जुड़ते हैं। इस प्रकार लोक परम्परा एवं अभिजात्य संस्कारों से मण्डित दो प्रकार की काव्यधाराएँ हिन्दी साहित्य में दिखायी पड़ती है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य लोकचेतना एवं अभिजात्य संस्कारों के द्वन्द्व का साहित्य है। लोकचेतना एवं अभिजात्य संस्कारों का यह द्वन्द्व हिन्दी साहित्य में आदिकाल से ही चला आ रहा है।... आदिकाल के बाद लोकात्मक प्रवृत्तियों की प्रबलता के कारण हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की प्रमुखता दिखलाई पड़ती है और दूसरी ओर आदि काल से लेकर भक्तिकाल तक पनपती चली आ रही काव्यधारा रीतिकाल में पूरी तरह से सशक्त रही।[2]

---

1. आजकल, मासिक पत्रिका, सितंबर 1999, पृ0-6
2. भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ0-12

उन्नीसवीं सदी में पुनः एक नयी संस्कृति ने सागर की लहरों पर सवार होकर भारत में प्रवेश किया। इस पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक विज्ञान, औद्योगिक समृद्धि तथा साम्राज्यवाद तीनों का संबल प्राप्त था। इसके कारण द्वन्द्वग्रस्तता आ गई।

अनास्था-आस्था का द्वन्द्व गहरा गया। हम अपनी जड़ता से मुक्ति पाने के लिए पश्चिम के नये चिन्तन और नई संस्कृति की ओर आकृष्ट हुए। भारतीय मनीषा में जागृति हुई। त्रैतवाद, अद्वैतवाद, नव कर्मयोग और विकासशील अंतश्चेतनावाद पश्चिमी चिंतन के समक्ष खड़े हो गए। स्वामी दयानन्द ने 'त्रैतवाद'[1] विवेकानन्द ने 'अद्वैतवाद'[2], लोकमान्य तिलक ने गीता पर आधारित 'कर्मयोग'[3] और अरविन्द ने 'अंतश्चेतनावाद' को प्रस्तुत किया। चौराहे पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ भारतीय जीवन को दिशा दृष्टि मिल गयी। इस दर्शन के साथ स्वदेश निष्ठा और समता समरसता की चेतना जग उठी। ऐसा लगा कि महात्मा गाँधी ने तुलसी और कबीर की समता चेतना को अपना लिया है। साथ ही 'अथर्ववेद' का प्रसिद्ध भूमिसूक्त 'वन्देमारतम्' के रूप में गूंजने लगा है। वह भूमि सूक्त ही भारत-भारती के रूप में अतीत-वर्तमान-भविष्य की मर्म गाथा सुनाने लगा है। इस प्रकार पश्चिम और पूर्व का द्वन्द्व दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, गाँधी और अरविन्द की साधना से समाप्त होने लगा। विचारकों ने इसे सांस्कृतिक जागरण माना है। महाप्राण निराला ने 'अनामिका' में संकलित 'सेवा प्रारम्भ' नाम कविता में लिखा है- जगी साधना। जन-जन में भारत की

---

1. आधुनिक भारत का इतिहास, सं0-रामलखन शुक्ल, पृ0-354
2. आधुनिक भारत का इतिहास, सं0-रामलखन शुक्ल, पृ0-357
3. आधुनिक भारत का इतिहास, सं0-रामलखन शुक्ल, पृ0-548

नवाराधना। नई भारती। जगी जन-जन को कर नई आरती।[1] अतः बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशकों में भारत इस सांस्कृतिक संघर्ष में पुनः विजयी होता प्रतीत हुआ। वस्तुतः इस सब रूप में साहित्य भी विभिन्न आयामों में इनके साथ रहा अथवा यों कह सकते हैं कि वे प्राच्य भारतीय ग्रन्थ साहित्य ही थे, जिसको कि ये लोग पढ़कर जागृत हुए।

छायावाद युग ने मुख्य रूप से विवेकानन्द द्वारा व्याख्यायित 'नव वेदान्त' को अपनाया था। साथ ही अरविन्द के विकासशील 'अंतश्चेतनवाद' ने पंत जी के नए काव्य का आधार प्रदान किया था। विवेकानन्द ने 'अद्वैत दर्शन' को आकाश से उतारकर भूमि पर ला दिया था। एकात्म समतावादी दर्शन को सामान्य मानवता के लिए उपस्थित कर दिया। यह मात्र शास्त्रार्थ, आत्मज्ञान और मोक्ष का आधार ही नहीं रह गयी। इसीलिए विवेकानन्द को अद्वैत क्रान्तिद्रष्टा कहा गया है। मध्ययुगीन कबीर और नानक का अद्वैतवाद क्रान्तिद्रष्टा साधक की नई दृष्टि के नए विकास के साथ आ गया। पश्चिम-पूर्व सर्वत्र इस नए वेदान्त की चर्चा होने लगी। ऐसा विश्वास जगा कि नए विश्व का यह दार्शनिक आधार बनेगा। वैसे महाकवि प्रसाद ने शैव सिद्धान्त आधारित अद्वैत को अपनाकर नए मानव के सम्पूर्ण द्वन्द्व के समाधान का प्रयत्न किया है।[2] मनोवैज्ञानिक (मनस्तात्विक), सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक द्वन्द्वों के मध्य मनु, श्रद्धा तथा इड़ा का संघर्षशील स्वरूप निखरता है। कामायनी नयी मानवता के संघर्ष का काव्य है, नई मानवता के सन्दर्भ में हृदय और बुद्धि के संघर्ष और समन्वय का काव्य है।... श्रद्धा का कथन मानव जीवन का शाश्वत सत्य है-

1. अनामिका, पं0 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
2. हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ, ले0-डॉ0 शिवकुमार शर्मा, पृ0-496

हार बैठे जीवन का दांव। जीतते मरकर जिसको वीर
तप नहीं केवल जीवन सत्य। करुण यह क्षणिक अवसाद
तरल आकांक्षा से है भरा। सोरहा आशा का आह्लाद।[1]

अद्वैत क्रान्ति-दर्शन का तेजस्वी एवं संघर्षशील रूप महाप्राण निराला के काव्य में दिखायी पड़ता है।[2] 'जागो फिर एक बार', 'बादलराग', 'तोड़ती पत्थर', 'भिखारी' आदि कविताओं में नव वेदान्त का क्रान्तिकारी तेज ही प्रकट हुआ है। अनामिका की 'सेवा प्रारंभ' कविता में निराला की अद्वैत क्रान्ति चेतना की अभिव्यक्ति है। क्या अद्वैत भारतीय नव जागरण काव्य बना है? प्रमाण है- 'जागो फिर एक बार' नामक प्रसिद्ध रचना। कवि ने लिखा है-

हैं नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम परता,
ब्रह्म हो तुम
पद-रज-भर भी नहीं,
पूरा यह विश्व-भार,
जागो फिर एक बार।[3]

यही अद्वैतवाद कबीर के समान महादेवी वर्मा में रहस्यमय बन जाता है। परन्तु पन्त ने इस युग में क्रान्तिकारी चिंतक अरविन्द के 'अंतश्चेतनावाद' को अपनाकर अपने उत्तरकालीन काव्य की रचना की।

इस समय साहित्य की और विधाओं जैसे उपन्यास, कहानियों आदि में भी इसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु यहाँ इन

---

1. कमायनी, ले0-जयशंकर प्रसाद
2. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, ले0-डॉ0 शिवकुमार शर्मा, पृ0-501
3. अपरा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सबका तथा साथ में 15वीं से लेकर यानि भक्ति काल से रीतिकाल, आधुनिक काल, छायायादोत्तर काल तक का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है।

हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज के साहित्य पर वो बात लागू होती है जो तार सप्तक में अज्ञेय ने कही है- "साहित्य में प्रगतिशीलता में मेरा विश्वास है और उसके लिए एक सचेष्ठ प्रयत्न का भी मैं पक्षपाती हूँ। किन्तु कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्ति के सामाजिकता में है व्यक्तित्वविहीनता में नहीं। आज जोर-जोर से प्रगति की पुकार करने की आवश्यकता इसी से हो गयी है कि व्यक्ति आज खंड-खंड हो गया है अनेकानेक सामाजिक, राजनीतिक कारणों से वर्गभ्रमों को शिकार हो गया है। इसलिए वह अपने व्यक्तित्व के विशेषताओं की सामाजिकता को खो चुका है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सर्वव्यापी भ्रम से वह मुक्त नहीं हो पाता, किन्तु इसीलिए यह बात स्पष्ट है कि कवि से प्रगतिशील होने के माँग का अर्थ है कि वह जीवन और अपने दृष्टिकोण बदले। अपने ही सामाजिक दायित्व और स्थान को नहीं बल्कि अपने काव्य के भी सामाजिक महत्व को समझे।[1]

साहित्य के मूल्यांकन में शुद्धता का आग्रह वस्तुतः साहित्य को जीवन से काटकर देखने का आग्रह है। नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्येतर मूल्यों का हस्तक्षेप साहित्य में इसलिए होता है कि वे जीवन के दूसरे सन्दर्भों से जुड़े होते हैं। जीवन की पूरी तस्वीर इन सभी सन्दर्भों से मिलकर बनती है। अतः साहित्य को तमाम सन्दर्भों से काटकर देखना असम्भव नहीं तो कम-से-कम दुष्कर तो है ही, अवांछनीय भी है। साहित्य जीवन के

---

1. तार-सप्तक, सं0-अज्ञेय, पृ0-23

इन तमाम सन्दर्भों से इतनी घनिष्ठता से जुड़ा रहा है कि हम न तो जीवन से विच्छिन्न साहित्य के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं और न ही जीवन से बाहर साहित्य की दूसरी सार्थकता का निर्णय कर सकते हैं। वस्तुतः कठिनाई तब पैदा होती है जब इनमें से कोई दृष्टि साधन न रहकर साध्य होने लगती है या अपनी एकांगिता को भूलकर सम्पूर्णता की दावेदारी होने की कोशिश करती है। इस प्रसंग में प्रायः यह तथ्य भी भुला दिया जाता है कि जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी साहित्य के सापेक्ष स्वतन्त्रता सम्भव है और साहित्य की स्वायत्तता की प्रतिष्ठा का अर्थ जीवन और समाज के लिए साहित्य की प्रासंगिकता और सामर्थकता का निषेध नहीं है। साहित्य को जीवन का अनुकरण मानने वाले आचार्यों ने भी यह कहीं नहीं कहा है कि साहित्य यथावत् जीवन है। कट्टर यथार्थवादी भी साहित्य को जीवन से विशिष्ट तथा विलक्षण मानता है। यही विलक्षणता साहित्यकार की सृजनशीलता की कसौटी है। वह अपनी रचनाओं में एक अलग संसार की सृष्टि करता है और इसीलिए रचनाकारों के रचना संसार का जिक्र किया जाता है। साहित्य के इस रचना-संसार की सत्ता और सार्थकता निश्चय ही इसी संसार के अन्दर होती है और हो सकती है। पर साथ ही इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हर रचना के अपने कुछ नियम होते हैं, जिसकी जानकारी के बिना उस रचना संसार को समझना और समझकर विश्लेषण करना आसान नहीं है।

चित्रकला और साहित्य का पारस्परिक प्रभाव एवं ग्राह्यता –

चित्र के चितेरे और काव्य के सृजक दोनों की मन: स्थिति एक होती है, दोनों अपने-अपने माध्यम से परमतत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, इसीलिए चित्रकार अथवा कवि दोनों को ही योगी के श्रेणी में रखा जाता है, परन्तु दोनों योगी होते हुए भौतिक सत्ता का भी सुख भोगते हैं, इसीलिए उसे योगी से भी बड़ा माना जाता है।[1] अत: चित्रकार काव्यकार तथा काव्यकार चित्रकार होता है।

यों तो काव्य और चित्रण कला के समन्वय के सम्बन्ध में बहुत से विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं, किन्तु होरसे ने सबसे पहले बताया कि कवि और चित्रकार, दोनोंको ही अपने-अपने क्षेत्र में समान स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसी भाव को लार्ड वायरन कहता है- कि कविता चित्रकला के समान है। कुछ चित्र स्थान सामीप्य के कारण अधिक मनोरम प्रतीत होते हैं और उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो दूर से ही भले प्रतीत होते हैं[2] होरसे ने इन कथनों द्वारा आज से कई हजार वर्ष पूर्व काव्य और चित्रकला की समानता का दिग्दर्शन करता था। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कविता और चित्रकला में 'साधना' मात्र भेद हैं। काव्य में 'शब्द' साधन होता है और चित्र में 'रंग' किन्तु दोनों का ध्येय अन्तरात्मा की सन्तुष्टि ही हैं साधनभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। इससे कबीर की प्रसिद्ध उक्ति का स्मरण हो आता है:-
'नदिया एक घाट बहुतेरो'

---

1. लक्ष्मीकांत वर्मा से वार्तालाप में उन्होंने उद्धृत किया
2. कला का विवेचना, सं0-पं0 मोहनलाल महतो, 'वियोगी', पृ0-141

भारतीय जीवन-दर्शन के आधार पर प्रत्येक युग में कवि और चित्रकार का संबन्ध सौहार्दपूर्ण रहा है। जहाँ कवि की लेखनी चित्रकार से प्रेरणा प्राप्त करती हैं, वहाँ चित्रकार की तूलिका ने भी साहित्य का मुँह जोहा है। दोनों का यह परस्पर प्रभाव अति प्राचीन है। मांगलिक अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भूमि-चित्रों तथा भित्ति-चित्रों के बनाने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। जब पूजा में पंडित 'मंगलम् भगवान विष्णुः मंगलायतनों हरिः का उच्चारण कर रहा होता है तो उसकी निपुण अंगुलियाँ चौकी अथवा वेदी पर भगवान् विष्णु अथवा गणेश का चित्रांकन भी कर रही होती हैं। यदि मंत्र की पंक्तियाँ अथवा पूजा-विधान नवग्रहों से संबंधित है तो आकृतियाँ भी उसी के अनुरूप बनायी जायेगी। एक ओर मन्त्रोच्चार अथवा काव्य-गान और दूसरी ओर सधः चित्र निर्माण-अन्ततः यह क्या है और क्यों होता है? इसका कारण यह है कि भारत की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक सम्पदा सम्पन्न और उच्चतम भाव-धरातल पर प्रतिष्ठित रही है। त्याग की महती निष्ठा, तप की उच्चतम सीमा और सत्य की आलोकमयी निरन्तरता जिज्ञासा का भाव भारतीय भूमि के कण-कण में व्याप्त रहा है। अतः इस धूलि कण से निर्मित पोषित एवं पल्लवित मनुष्य ने वही माँ प्रकृति से प्राप्त किया जो उसके पार्श्व में विद्यमान था। रीतिकालीन कवि और चित्रकार दोनों ने ही प्रकृति के पार्श्व से रूप, रंग, सौन्दर्य, भाव एवं वातावरण ग्रहण किए और अपने-अपने क्षेत्र में खुलकर उसका उपयोग किया। दोनों को एक दूसरे के निकट से देखने का जो अवसर प्राप्त हुआ, उसी के कारण दोनों ने आबद्धता ग्रहण कर ली। इसी कारण काव्य में चित्रात्मकता तथा चित्रों में काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं।

'कुएँ पर' शीर्षक मूल चित्र भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राप्त है। मुगल शैली के इस चित्र की रचना 1750 ई0 के आस-पास हुई थी। इस चित्र में पाँच युवतियों को तात्कालीन सामान्य वेशभूषा में अंकित किया गया है। ग्रामीण ढंग से साड़ी पहने एक युवती को सम्भवतः नायिक के रूप में चित्रित किया गया है। नायिका उस आगंतुक घुड़सवार को पानी पिला रही है जो मुगल जामे, पगड़ी और चुस्त मुहरी का पाजामा पहना है।

इस चित्र में घुड़सवार और पानी पिलाने वाली युवती दोनों के ही नेत्र इस प्रकार एक दूसरे के प्रति आकर्षित चित्रित किए गए हैं जो दोनों में रागात्मक संबंधों की पुष्टि करते हैं। इस संबंध की पुष्टि चित्रकार ने दूर जलाधार के उस पार युगल बगुला को चित्रित करके की है। इसके साथ ही चित्रकार का दार्शनिक पक्ष प्रखर हो उठा है। सवार के प्यासे होने और ग्रामीण युवती द्वार उसे पानी पिलाए जाने की क्रिया में दोनों की आँखें चार होने से जहाँ एक ओर प्रेम की व्यंजना हो रही है, वहीं चित्रकार ने बहुत दूर नदी के उस पार एक गधा और गधी को विपरीत दिशा में गमन करते हुए दिखाया है जो इस जीवन सार को उद्‌घाटित करता है कि यह संयोग क्षणिक है, अस्थायी है। अतः गधा युगल में से एक को भागते हुए चित्रित किया गया है और दूसरे को खड़ा। वस्तुतः वे घुड़सवार और उस ग्रामीण युवती के प्रतीक हैं।

प्रस्तुत चित्र में चित्रकार ने अपने समय की गत्यात्मक झांकी प्रस्तुत की है। कहानी का अंत यहीं नहीं होता। बल्कि आकाश में छाए हुए मेघ यह भी कहने के लिए बाध्य करते हैं कि ज्येष्ठ माह बीत चुका है और आषाढ़ लगा हुआ है। तभी तो आकाश में घने काले मेघ बिल्कुल नीचे तक झुक आए हैं।

इससे यह प्रतीत होता है कि वह घुड़सवार कई माह परदेश में रहकर चौमासा बिताने घर वापस जा रहा है। उस काल विशेष में जीवन कुछ ऐसा ही था कि बरसात के बाद युवक अपना घोड़ा लेकर परदेश में नौकरी अथवा शाही फौज में भरती होने चले जाते थे।

इस चित्र में घुड़सवार के मन में अपनी जीवन संगिनी से मिलनोत्कंठा का पूर्वाभास भी ग्राह्य होता है और निःसन्देह चित्रगत यह ग्राह्यता काव्य की अपेक्षा अधिक मार्मिक बन पड़ी है। इससे भी कहीं अधिक सूक्ष्मता के साथ चित्रकार ने घुड़सवार के मन के भीतर चलने-खिलने वाले तरह-तरह के भाव, अपनी प्रिया से मिलने की संभावनाओं और अभिलाषाओं के प्रतीक रूप में सामने ही वृक्ष पर खिले फूल चित्रित करके चित्र का मानवीकरण कर दिया है। इस प्रकार चित्रकार घुड़सवार के मन के अन्दर उतर कर उसकी मानसिक स्थिति का भी सही ग्राह्यता प्रेक्षक को करा देता है।

कुएँ की जगत की ग्राह्यता तो और भी दर्शनीय है। चारो युवतियों को अल्हड़ मुग्धा के रूप में चित्रित किया गया है। इनकी संवेदना चित्रकार ने चारो युवतियों के हाथों में खाली घोड़े के मुख पर रस्सी पकड़ा कर दी है। ये चारो युवतियाँ प्रेम की प्यासी हैं। इतनी अधिक पिपासा चित्रकार ने अभिव्यंजित की है कि एक युवती तो घड़े की डोरी पकड़े हुए भौचक्की सी खड़ी पलटकर घुड़सवार को पानी पिलाते नायिका को देखे जा रही है, जबकि अन्य तीनों आँखों में आँखें डाले मानों कुछ कहती हुई पानी पिलाने वाली नायिका के भाग्य को देखकर हतप्रभ सी रह गयी हैं। घोड़े की लम्बी और दूर जाती हुई परछाई संध्या बेला का आभास कराती है जिसके माध्यम से कथा में एक बात और जुड़ जाती है कि घुड़सवार चलते-चलते थक गया है, उसे

अपने घर और अपने प्रिय के पास पहुँचने की जल्दी है। तभी तो उसने नायिका के हाथ से अपनी पिपासा को शान्त करने के लिए शीघ्रता से घट लपका है और युवती के दोनों हाथों समेत ही घट उसके हाथ में आ गया है, यह चित्र की मार्मिक अभिव्यंजना है, इस तरह की ग्राह्य अभिव्यंजना में बिहारी भी पीछे नहीं रह गये हैं। बिहारी ने कहा है कि-

लरिका लैबे के मिसाहि, लगर मो ढिग आह।
गयौ अचानक अंगुरी, छाती छैल छुवाई।।[1]

पर यहाँ तो मंगल घट सहित दोनों कर-कमल नायक के हाथ में आ गए हैं। जिसका अनुभव करते हुए दोनों ही अवाक रह गये हैं। यही चित्र की ग्राह्यता की चरम स्थिति है। इस प्रकार चित्र को देखकर कवि और कविता को देखकर चित्रकार प्रभावित होते रहे हैं।

कवि को कवि बनने से पूर्व चित्रकार एवं चित्रकार को चित्रकार बनने से पूर्व कवि बनना पड़ता है, क्योंकि कवि और चित्रकार दोनों को ही अपने निर्धारित विषय को काव्य चित्र में अंकित करने के लिए चित्र एवं भाव जुटाने पड़ते हैं। काव्य को आधार बनाकर जहाँ चित्र बनाए जाते रहे हैं, वहाँ चित्रों से कवियों की भावधार सदैव उद्वैलित रही है। भारतीय साहित्य ने जहाँ चित्रकला का रूप समृद्ध किया है, वहाँ चित्रकार ने भी साहित्य की व्याख्या की है। चित्र दर्शन से काव्य रचना व काव्य से चित्र सृजन की प्रक्रिया भारत में प्राचीन काल से प्रवाहमान रही है। रीतिकालीन श्रृंगारिक काव्य तात्कालीन राजाओं और बादशाहों की विलासी प्रवृत्ति रही है। फलतः मुगलकालीन चित्रों से तात्कालीन श्रृंगारिक कविताओं ने चित्रात्मकता को भरपूर ग्रहण किया है।[2] काव्य चित्रात्मकता एवं चित्रों में इतनी भावोत्मकता इससे पूर्व काव्य में देखने को नहीं मिलती।

---

1. बिहारी सतसई, दोहा संख्या-210
2. दरबारी संस्कृति और हिन्दी पुस्तक, त्रिभुवन सिंह, पृ0-24

महत्व-:

पूर्व के अध्यायों में कला के विभिन्न रूपों का दर्शन हुआ है।, कला के महत्व के विषय में, हमारे वेदों से लेकर आज के समकालीन समय तक में महिमा मण्डित कर रहे हैं, व्यक्ति बिना किसी फायदे के किसी को मण्डित नहीं करता, चाहे वो फायदा मानसिक हो या शारीरिक, आध्यात्मिक हो या लौकिक।

कला सच्चिदानन्द धन परमात्मा की परम तथा अन्यतम अभिव्यक्ति की माध्यम-भूमि है। कला वस्तु अथवा प्रतीक (रिप्रेजेन्टेशन) तथा (आब्जेक्ट) नहीं है; वह अनुकृति और आत्मा की व्यंजना है। तदनुकृति-परमात्मा की अनुकृति की विशिष्टतम संज्ञा कला है। कला वस्तु के पीछे सत्य शिव और सौन्दर्य का समन्वयात्मक भाव-निदर्शन है। सम्पूर्ण सृष्टि कला मयी है, परमात्मा के अभिव्यक्ति-साम्राज्य की अधिष्ठात्री आदिशक्ति कला है- यह निर्विवाद है, निश्चित और नित्यसिद्ध है। कला आस्तिकता की जननी है, श्रद्धा की प्राणमयी प्रतिष्ठा की सिन्दूरी-लालिमा है, साधारण से साधारण और असाधारण से असाधारण कलाकृति विश्वास और श्रद्धा के ही सहारे नित्य नवीन तथा चिर सुन्दर है। कला जड़ नहीं है, परम ज्योतिर्मयी है। कला का उद्गम परमात्मा है, वे ही सब से पहले थे।

हिरण्यगर्भ : समवर्तताग्रे, ऋग्वेद 20/121/1

यह ऋग्वेदका प्रमाण है कि समस्त सत्य-शिव और सुन्दर परमात्मा से ही उद्भूत है, सौन्दर्य की प्राणशक्ति-कला इसका अपवाद नहीं है, सौन्दर्य अनन्त है। परमात्मा में सौन्दर्य की विज्ञप्ति-चेतना कला कहलाती है।[1]

---

1. कला, सम्मेलन पत्रिका, श्री रामलाल, पृ0-162

कला के द्वारा हम सामाजिक कोमल मनोवृत्तियों को अपनाते हैं। उसके सौन्दर्य से हमारे हृदय को बल मिलता है और शान्ति भी। कला एक विश्व-कोष है, पुस्तक माला है, इसमें हम कलाकार के मनोभाव को पढ़ते हैं। कला विश्व प्रकृति-पति के रहस्यों को समझने का कोमल और सौन्दर्य पूर्ण माध्यम है। इसके द्वारा मनोविज्ञान, प्रकृति विज्ञान और सौन्दर्य विज्ञान का अच्छी तरह पाठ पढ़ सकते हैं। काव्य--कला प्रकृति-पुरुष के न्यायोचित गुणों का स्रोत है, संगीत उसकी अन्तर्ध्वनि है, चित्र उसका मन-माना चित्रण है, मूर्तिकला उसकी प्रतीकोपासना है और वस्तुकला पूजा का घर। एक आर्य कलाकार और कला सेविका की दृष्टि में कला-अराधना उसी परम पुरुष की पूजा-अर्चना और सन्देश है।[1]

भारत में कला धर्म का एक माध्यम बन कर रही है। स्पष्टतः इसका कुछ कार्य भावों को उत्पन्न करना है और निरन्तर बार-बार उत्पन्न करना है, जिसका निष्कासन दैनिक जीवन की क्रियाओं में किया जाता है। इसे जादुई कहकर मैं इसके धार्मिक नाम के दावे से इन्कार नहीं कर रहा हूँ।

उतना ही स्पष्ट या मुश्किल से कुछ कम, राष्ट्रीय हो या नगरीय या किसी, पार्टी वर्ग अथवा वैधानिक समिति से सम्बद्ध, राष्ट्रीय कविता, स्कूलगीत, महान व्यक्तियों के चित्र, राजनेताओं की प्रतिमायें, युद्ध स्मारक और असंख्य प्रकार की सारी धूम-धाम, जुलूस, उत्सव जिनका उद्देश्य देश या नगर या पार्टी या वर्ग या परिवार या किसी अन्य सामाजिक अथवा राजनैतिक इकाई के प्रति स्वामिभक्ति को जगाना है वे सब उस सीमा तक जादुई हैं, जिस सीमा

1. कला का विवेचन, सं0-पं0 मोहनलाल महतो 'वियोगी', पृ0-27-29

तक स्थान पर प्रसवित न होकर दैनिक जीवन की क्रियाओं में संगठित कर लिए जाते हैं और उन क्रियाओं को सम्बद्ध सामाजिक या राजनैतिक इकाई के हित में परिमार्जित करते रहते हैं।[1]

इस प्रकार से कला से परमतत्व प्राप्त करने तथा आर्थिक व अन्य को भी, जिससे इसकी महता स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक कला की महत्व को दृष्टि में रखकर इसकी परख के दो दृष्टिकोण हमारे सामने आ जाते हैं- (1) राष्ट्रीयता को ध्यान में रखकर तथा (2) शुद्ध कला को ध्यान में रखकर। इस प्रश्न पर विचार करेंगे, हमारे सामने इसका विदेशीपन आयेगा और प्रत्येक विदेशी वस्तु जिसने हमारे राष्ट्रीय निधि, चाहे वह कला हो साहित्य हो, राजनीति हो, धर्म हो, पर जमाव डाला है, उसे अव्यवस्थित किया है, उसका हमारे सम्मुख कुछ भी महत्व न होगा। विशेष रूप से आज की स्थिति में जब कि नवनिर्मित देश के लिए कला हावी हो और देश के अधिकांश कलाकार आँखें मूँदकर उस ओर बढ़े चले जा रहे हैं।

यह निश्चित तथ्य है कि आधुनिक कला का जन्म संघर्ष और प्रतिशोध की भावना के साथ ही हुआ है और इसके कारण रहे हैं, (1) कलाकार को उचित सम्मान न मिलना, (2) जनसाधारण द्वारा उचित मूल्यांकन के प्रति उदासीनता, (3) आज के सुशिक्षित समाज में अधिकांश कम शिक्षा प्राप्त कलाकारों की आत्महीनता की भावना आदि। साथ ही शाश्वत सौन्दर्य पा सकने की साधना और तपस्या के प्रति उदासीनता, आधुनिक समाज की व्यस्तता और

---

1. कला के सिद्धान्त, आर0जी0 कलिंगवुड, पृ0-16

जनता में कौतूहल उत्पन्न कर ध्यान केन्द्रित करने की भावना। आधुनिक कला का महत्व कला के विभिन्न पक्षों में नयी दिशा देने के कारण माना जा सकता है।

रंगों के क्षेत्र में आधुनिक कला ने मनोविज्ञान से भी सहायता ली है। यह सभी जानते हैं कि रंगों का प्रभाव प्रत्येक प्राणी पर पड़ता है।[1] आधुनिक भारत में कला की जड़ें इंधर काफी मजबूत हुई है। भारतीय कलाकारों की संवेदना का विस्तार हुआ है और इसके सरोकार गहरे हुए हैं। आजादी के बाद भारत में कला के महत्व को हर क्षेत्र ने पहचाना है इसीलिए आज विज्ञान में कला को बडे पैमाने पर महत्व दिया जा रहा है। तथा Indian Institute of Technology Delhi & Mumbai, I.I.I.T. (Indian Institute of Information Technology), Textiles Engineering, N.I.F.T (National Institute of Fashion Technology) आदि विभिन्न संस्थाओं में इसके पाठ्यक्रम शामिल किये गये हैं। वेब डिजाइनिंग से लेकर विज्ञापन व फिल्म निर्माण में इसकी महती भूमिका है। सम्प्रति हम स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि कला आज इस प्रकार अपने महत्व को स्थापित कर ली है कि जो केवल ईश्वर के प्राप्त करने का साधन न रहकर समाज के हर अंग के रूप में है।

इसी प्रकार साहित्य भी समय-असमय जनता की आवाज बनकर जनता की भावना बनकर उभरता है और इसका महत्व स्वतः स्थापित हो जाता है, इसका स्वतः प्रमाण है, तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' जिसके महत्व में कुछ भी कहना 'सूरज को दीपक दिखाने' के समान होगा। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्तर भारत की जनता के प्रतिबिम्ब के रूप में प्रेमचन्द का 'गोदान' तो प्रेम

---

1. कला, सम्मेलन पत्रिका, श्री कुमारशील, पृ0-178-179

और श्रद्धा की कहानी, धर्मवीर भारती की 'गुनाहों का देवता', व्यंग्य की पराकाष्ठा, श्री लाल शुक्ल की 'राग दरबारी' बँटवारे की विशक्ति भीष्म साहनी की 'तमस' व राही मासूम रजा की 'आधा गाँव' आदि साहित्य, साहित्य न होकर, अपने समाज में भारतीय महत्व को प्रतिबिम्बित करते हैं।

महत्व की बात हम दूसरी तरह से दृष्टिगत कर सकते हैं कि मुगल प्रभाव के कारण भारत के सामाजिक जीवन में परिवर्तन होने लगा था। इन्हीं परिवर्तनों के फलस्वरूप सांस्कृतिक बदलाव हुए। धर्म परिवर्तन ने एक अहम भूमिका निभाई। इन्हीं धर्म परिवर्तनों को रोकने के लिए सहज धर्म की आवश्यकता महसूस हुई। समाज में हो रहे इन सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जनमानस के विभिन्न वर्गों में धर्म का पालन करना कठिन होता जा रहा था। इस समय सन्त कवियों ने अपने काव्यों के माध्यम से जनता में विश्वास जगाने का सार्थक प्रयास किया। इनका नेतृत्व सूर, तुलसी, जायसी, केशव, घनानन्द, मीरा, सांवतदास इत्यादि महान कवियों ने किया। इनकी कृतियों ने सर्वव्यापी ईश्वर को एक सहज मानव रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किया और हिन्दू धर्म को जीवन्तता प्रदान की।

देश-काल व संस्कृति को योगदान -

संस्कृति, सभ्यता एवं साहित्य पर एक साथ बात करना असंगत लगते हुए आवश्यक इसलिए है कि संस्कृति और सभ्यता को प्रायः समानार्थी शब्दों में प्रयुक्त किया जाता है तथा संस्कृति की चर्चा में साहित्य को अलग कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए जब सरकार अथवा सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा कोई सांस्कृतिक आयोजन किया जाता है तो उसमें साहित्य को प्रायः स्थान नहीं दिया जाता है। ऐसे आयोजनों को शास्त्रीय संगीत, नृत्य तथा आदिवासी संगीत एवं नृत्य के कार्यक्रमों तक ही सीमित रखा जाता है। कभी-कभी चित्रकार को भी इन आयोजनों में स्थान दे दिया जाता है। प्रायः संचार माध्यमों द्वारा सांस्कृतिक शब्द का प्रयोग इतना उदार बना दिया जाता है, कि वह पत्रकारिता का एक अबूझा शब्द मात्र रह जाता है। संस्कृति और सभ्यता में भेद करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती है।

मुख्य प्रश्न यह है कि यदि किसी जाति विशेष की सांस्कृतिक जीवन को समझने और जीने की उसकी समग्र दृष्टि है तो क्या उसके साहित्य की अपनी अलग संस्कृति और अन्य कलाओं की अपनी अलग-अलग संस्कृतियाँ है? इसी से जुड़ा दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या सांस्कृतिक प्रभाव के युग में स्तरीय साहित्य का भी प्राभाव निश्चित है? हिन्दी साहित्य जगत् में यह प्राभाव सृजन के स्तर पर न होकर उसकी लोकप्रियता के ह्रास के रूप में हुआ है और हो रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखायी पड़ रहा है। क्या सांस्कृतिक चेतना के पतन के कारण ही गम्भीर एवं स्तरीय साहित्य जीवन के हाशिए पर

धकेल दिया गया है और उसके स्थान पर हल्के-फुल्के हास्य, व्यंग्य, फैंटसी, अपराध साहित्य और जासूसी कृतियों को सुशोभित कर दिया गया है?

यह तो संस्कृति के रूप की आज की विडंबना है, इस पर फिर हम आगे चर्चा करेंगे, पहले चलते हैं, संस्कृति में योगदान की।

यंग और मैक ने अत्यन्त संक्षिप्त और सरल परिभाषा देते हुए कहा है कि "संस्कृति सीखा हुआ और भागीदारी का व्यवहार है।"[1] यहाँ पर व्यवहार का अर्थ विचार, भावना और वाह्यक्रिया से है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वोगुणपूर्ण प्रकार हैं हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविद्य रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।[2]

भारत में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहास के अभ्युत्थान में कला का महत्वपूर्ण स्थान है। समय-समय पर राजनीतिक कारणों से सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हुए और विधर्मी सत्ता के कारण इस देश की संस्कृति में जिन नये तत्वों का समावेश हुआ उसका क्रमबद्ध इतिहास इनकी कला कृतियों में देखने को मिलता है।

कला पर कला सम्प्रदाय और कलाकार के व्यक्तित्व की मुहर तो रहती ही है, देश-काल और परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। ललित कला समय और देश की आँख प्रतिबिम्ब ध्वनि और दर्पण है। वह समाज के हृदयगत भावों का व्यंजक है। समाज की रुचि, मनोवृत्ति, नीति, रीति, उत्थान-पतन आदि

---

1. समाज शास्त्र, एक परिचय, NCERT, पृ0-351
2. कला और संस्कृति, ले0-डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0-1

सब हम कला में देख और पढ़ सकते हैं। कला में हमें समाज, संस्कृति और उसकी बारीक से बारीक विचार-रेखाएँ देखने को मिलती हैं। कला से पुरावृत्त जानने में भी बड़ी सहायता मिलती है। अनेक लोगों के मत मे कला वास्तव में सुरक्षित जीवित पुरावृत्त हैं।[1]

ईसा के सहस्रों वर्ष पूर्व से भारतीय कला की ऐतिहासिक परम्परा इतनी अटूट अविच्छिन्न रही है कि प्रभाव पथ में अगणित प्रभावों को समेटती हुई वृहत से वृहत बनकर वह अग्रसर होती रही। यद्यपि उसकी प्रगति में समय-असमय कितने ही विक्षेप उपस्थित हुए, तथापि उसका श्रोत कभी सूखने नहीं पाया। अनेक धर्म और संस्कृतियाँ उसमें आत्मसात होती गयी और कभी उसका पाट इतना विस्तृत था कि आज उसके ओर-छोर का अनुमान करना भी दुस्साध्य कार्य हो गया है।

जिस उदारता से विभिन्न वैदेशिक प्रभावों को पचाकर भारतीय कला ने अपनत्व खोजा, उसी प्रकार अपनी महान सृजनशील शक्तियों को अन्य देशों की कलाओं में सम्पृक्तकर वह उन्हें ऐसा नूतन रूप प्रदान कर सकी जो सामूहिक चेतना के रूप में एक प्रेरक शक्ति बन गयी। एक समय था जब भारत समस्त देशी-विदेशी विचार धाराओं एवं महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तत्वों के संघटन-संचालन में योग देता था। वस्तुतः विश्व के कितने ही देशों में कला रूप में इसके तत्व विद्यमान रहे हैं, जिसमें लंका, चीन, वर्मा, तिब्बत, हिन्दचीन, फूनान, मलाया, जावा, सुमात्रा, वाली, बोर्निया, चम्पा, कम्बोडिया, नेपाल कोरिया, जापान, मंचूरिया, अफगानिस्तान, मध्य एशिया आदि देशों में थे। वित्तैषणा और

---

1. कला और संस्कृति, ले0-डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0-27

धर्म-प्रचार की भावना उन्हें भारत की सीमाओं से परे देशों में ले जाती थीं, जहाँ सांस्कृतिक समताओं के आधार पर भिन्न देशीय संस्कृतियों के वाह्य एवं अन्तर उपकरणों के गठन और आन्तरिक सन्तुलन का मार्ग प्रशस्त किया जाता था। भगवान तथागत की मृत्यु के दो सदी बाद सम्राट अशोक ने उनके मानव-प्रेम, शान्ति और अहिंसा को देश-देश में जन-जन तक कला के माध्यम से पहुँचाया था।

भारतीय संस्कृति सिद्धान्त विस्तृत सार्वभौमवाद, समाजवाद, मानवी संवेदनशीलता में वद्धमूल हैं। भारत में धर्म और दर्शन प्रथमतः विश्व के कुछ सिद्धान्तों, मूल्यों और पौराणिक आख्यानों की व्याख्या करते हैं और उन्हें स्पष्ट करते हैं। कला अपनी ओर से प्रतीकवाद के रूपाकारों, प्रतिमाओं व सत्य एवं सुन्दरता और समग्रता के विशेष लक्षणों को खोजती है व उसे निश्चित रूप देती है जो चाक्षुष अभिव्यक्ति में जीवन, विश्व और देवता के पौराणिक रूप में संप्रेषित और अवलोकित सार्वभौम और शैलीगत अनुभव प्रदान करती है।

भारतीय कला अपने विस्तृत मानववाद और करुणा की अभिव्यंजना पर वास्तव में केवल भारत के सीमान्त के भीतर ही नहीं, किन्तु द्वीपान्तर भारत की उष्ण प्रदेशीय प्रचुरता और उर्वरता के बीच पहुँचती है।...[1]

भारतीय कला न तो पुरातत्व है और न इतिहास। वह भारतीय सभ्यता के उलटफेर के बीच युगों से अपने दायित्व और सन्देश लेकर इतिहास में समाविष्ट है। वह अपनी ऐन्द्रियक लय और रूपाकारों के द्वारा इनका जीवन्त, इनके सत्य और मूल्यों को मानव की कल्पना और चेतना का अविकल अंश

---

1. कला-दर्शन, शचीरानी गुर्टू, भूमिका, पृ0-21

है। यह संवेदनशील और अतिसंवेदनशील के बीच एक ऐसा एकात्म स्थापित करती हैं, जो न तो दर्शन के सिद्धान्त और न धर्म मत कर सकते हैं।

भारत कला के द्वारा अपने साध्य को प्राप्त करता चला आया है और आज भी विभिन्न रूपों में उसे प्राप्त कर रहा है, भारतीय कला आज भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए भारतीय संस्कृति की नाव बनी हुई है, भले ही इसके रूप परिवर्तित हो चुके हैं।

मानव सभ्यता और उसके चिन्तन के क्रमिक विकास को जानने का प्रधान साधन साहित्य हैं। साहित्य में इतिहास अपने भावनात्मक रूप में उपलब्ध होता है और इतिहासकार इतिहास के इसी भावनात्मक रूप के आधार पर अन्य साधनों की सहायता से इतिहास की संरचना करता है।

साहित्य और संस्कृति एक ही वृक्ष के दो फूल हैं और उनका पोषण एक ही रस से होता है। संस्कृत-साहित्य ने अतीत में भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है और आज भी यदि किसी भारतीय भाषा के साहित्य में भारतीय सांस्कृतिक एकता को एक सूत्र में बाँधने की अपूर्व क्षमता है तो केवल संस्कृत-साहित्य में ही। संस्कृत-साहित्य ने भारतीय जीवन, धर्म, दर्शन, आचार-विचार, संस्कृति और साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसका प्रभाव केवल भारत तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत् वृहत्तर भारत, मध्य एशिया और यूरोप पर भी इसकी अमिट छाप है। यह निर्विवाद है कि विश्व में भारत की ख्याति का प्रमुख कारण संस्कृत साहित्य है।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, ले0-डॉ0 शिवकुमार शर्मा, पृ0-306

संस्कृत साहित्यों को देखकर हम कह सकते हैं कि, भाषाएँ और साहित्य मनुष्य की स्मृति का जीवन्त संग्रह है। साहित्य में हमारी जातीय स्मृति अलग-अलग समय में अलग-अलग स्तरों पर रूपाकृत होती हैं। साहित्य है इसलिए कि हम अपने होने का होने की एक अटूट निरन्तरता में याद कर सकते हैं। जीवन जगत्, मानवीय संबन्धों, अस्तित्व और नाश्वरता आदि की अपार जटिलता साहित्य के उपजीव्य रहें हैं। संसार, ज्ञान, अनुभव, व्यक्ति, समाज आदि किसी को सरोकृत करने के विरुद्ध, मनुष्य, ईश्वर, पुरुषों-देवताओं, सुख-दु:ख आदि को सामान्यीकृत करने के विरुद्ध साहित्य एक अथक सत्याग्रह है। एक ऐसे समय में जब सरलीकरण और सामान्यीकरण करने वाली शक्तियाँ बेहद शक्तिशाली और सुज्जीवित होने जा रहा है, साहित्य या सत्याग्रह जारी रखकर उसका प्रतिरोध करेगा। अगर बीसवीं शताब्दी के अन्त पर संसार के राजनैतिक नक्शे पर यह जाहिर हो चुका है, कि स्थानीयताओं को दबाकर राष्ट्रीयताएँ बनाए रखना असम्भव हैं, तो उम्मीद करना चाहिए कि स्थानीयताओं का लगभग वे दरो-दीवार का घर साहित्य वह जगह बना रहेगा, जहाँ हम बार-बार जाएंगे, कि बचे रहने की जटिलता और आशा का पाठ सीख और दोहरा सकें। जो भी हो, साहित्य अब भी हमारी उम्मीद हैं, क्योंकि वह अपनी जगह पर सत्याग्रह, वह प्रतिरोध है, वह बचने के लिए घर है।

भारतीय इतिहास में भक्ति को अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता क्या शिल्प, क्या चित्रकला, क्या काव्य, क्या नृत्य और क्या संगीत, सर्वत्र भक्ति विशेष कर वैष्णव भक्ति की शक्तिशाली तरंग से सम्पूर्ण भारत आक्रान्त था। सत्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी चित्रशैली के विकास को भी इसने

अत्यन्त गहराई से प्रभावित किया था। हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के साथ ही साथ वीर गाथाओं की परम्परा भी भारतीय इतिहास के मध्य काल के अन्धेरे में जा छिपी थी। राम और रहीम को एक बनाने वाली वाणी तथा उनके कलात्मक रूप भी मुरझाये मन को हरा न कर सके। क्योंकि उसके अन्दर कट्टर एकेश्वरवाद का विस्तार मिला हुआ था तथा उसका विध्वंसकारी रूप लोग नित्य अपनी आँखों से देख रहे थे। कलात्मक मूर्तियों का भजन कलात्मक मन्दिरों को अवशेषों के रूप में परिवर्तित करना कला की एक परम्परा बन चुकी थी और कला भी धीरे-धीरे अपने अस्तित्व को खोती जा रही थी। सर्वस्व गँवाकर भी हिन्दू जाति अपनी सत्ता बनाये रखने की लालसा नहीं छोड़ सकी थी। जबकि उसके कलात्मक वैभव काल की क्रूरता के साथ अवशेषों में परिवर्तित हो रहे थे। जनमानस ने अपनी सभ्यता, अपने चिर संचित संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया और उनकी भक्ति का श्रोत एक कोने में से दूसरे कोने तक फिर फैल गया, जिसके कारण लोगों ने उसे आनन्ददायिनी काव्य एवं कला का दर्शन किया तथा जीवन में सरसता का पुनः संचार होने लगा। लोक मानस का सुखद पक्ष फिर से निखरने लगा और जमती हुई उदासी तथा खिन्नता ने अपने कलात्मक रूप को पुनः संचित करना प्रारम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय के उत्थान ने वैष्णव पुनरुत्थान को नया मोड़ दिया। इसे भक्ति धारा से जन मानस ने निकटता से अनुभव किया।

राम और सीता की प्राचीन गाथाएँ और राम और रावण के नाटक व स्वाँग भारत भर में अयोध्या और चित्रकूट, पंचवटी और दंडकाव्य मार्गों से आया है, जबकि कृष्ण के मथुरा, ब्रजभूमि, द्वारिका और हस्तिनापुर से आते हैं।

अगस्त और परशुराम की कहानियों, चरित्र दक्षिण और अरब सागर के तट से उत्पन्न हुए हैं। पाँच पाण्डव राजकुमारों के प्रवास और साहित्य कृति भारत के अन्तर्गत नव उपनिवेश के क्षेत्र में अग्रगामी क्षेत्र में छाये हुए है और अगस्त व भृगु उसे सामन्तों के बाहर। चण्डीदेवी के आख्यान और उनकी भुजा भारत को लंका संबद्ध करते हैं, जहाँ के राक्षस राज रावण से अपने अन्तिम युद्ध के पूर्व रामचन्द्र ने अपने-अपने कमनयन देवी के चरणों में अर्पित कर दिये थे। इस प्रकार भारत के भौगोलिक संश्लेषण में लंका सम्मिलित है।[1]

इस प्रकार राम से लेकर कृष्ण इत्यादि सभी साहित्यिक माध्यमों से हमारे समक्ष उपस्थित हैं। इन लोगों ने सिर्फ धर्मों पर ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन को भी अपने काव्यों में स्थान दिया, जिससे उस समय के समाज के दर्शन होते हैं।

> खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,
> बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
> जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस,
> कहैं एक एकन सो कहाँ जाई का करी।।[2]

इसी प्रकार रीतिकाल के साहित्यकारों ने अपने कृतियों में सौन्दर्य वर्णन को स्थान दिया तो फिर भी समाज की विसंगतियों को नहीं छोड़ा।

विद्यापति की रचनाओं में यथार्थ के अन्य रूपों का भी बड़ा बारीक चित्रण हुआ है। तात्कालीन कुरीतियों आदि पर कवि ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। उनकी आँखों के सामने होने वाली अजीब घटनाएँ उन्हें आक्रोश से भर देती

---

1. भारतीय कला का विकास, ले0-राधाकमल मुखर्जी, पृ0-34
2. कवितावली, गोस्वामी तुलसीदास

है, किन्तु विद्यापति ने विडम्बना-पीड़ित नायिका पर व्यंग्य करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में ऐसे कार्यों के लिए उत्तरदायी ही दोषी हैं। विद्यापति ऐसे लोगों पर क्रोध नहीं करते हैं। युवती लड़की की शादी बालक पति से हो गयी है, आगे क्या है, यह उन्हीं के मुख से सुनिए -

पिया मोर बालक हम तरूनी,
कौन तप चुकलौंस भेलौह जननी
पहिर लेल सखी एक दछिन क चीर,
पिया को देखतों मोर दगध शरीर
पिया लेती गोद चलत बाजार,
हटिया के लोग पूछे के लागू तोहार
नहिं मोवर देवर की नाहिं छोट भाई,
पुरुष लिखल छल बालमु हमार
वाट रे बतो दिया कि तुहु मोस भाइ,
हमरी समाद नैहरे लेले जाउ
कहुहिन बाबा के किनाए धेनु गाई,
दुधवा पियाई के पोसता जमाई।[1]

इस रूप में साहित्य चेतना को जगाता है, यूरोपीय प्रभाव से भारत में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ सी आ गयी तथा इसने भारतीय आजादी में अमूल योगदान दिया। छायावाद भारतीय साहित्य के पुनः चेतना का काल है।

साहित्य और संस्कृति के व्यापक स्वरूप को जानने के लिए व्यास, वाल्मीकि, भास, भवभूति, कालिदास, केशव, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, प्रसाद, निराल, पंत, प्रेमचन्द एवं अज्ञेय को जानना-समझना जितना सांस्कृतिक दृष्टि से

---

1. विद्यापति, डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, पृ0-179

आवश्यक है, उतना ही साहित्यिक दृष्टि से वांछनीय है। उसी प्रकार प्राचीन काव्यशास्त्र की अक्षय निधि का ज्ञान भी श्रेष्ठ रचनाकार और समीक्षक दोनों के लिए आवश्यक है। यह परम्परावादिता की पुष्टि मात्र नहीं है, अपितु उस केन्द्रीय बिन्दु की खोज है जहाँ संस्कृति और साहित्य का मेल होता है।

बीसवीं सदी के अन्तिम चरणों में भारतीयता का चेहरा जितनी तीव्र गति से बदला है वह गति और परिवर्तन दोनों चौंकाने वाली बात है। प्रायः यह समझा जाता है कि भारतीय समाज में आ रहे इन परिवर्तनों की जड़ बीसवीं सदी के अन्त में किए गए आर्थिक सुधार और संचार क्रान्ति हैं। इस बात में कुछ सीमा तक सच्चाई भी है किन्तु गौर करने पर बात इससे भी आगे जाती है। यह ठीक है कि संचार क्रान्ति और आर्थिक सुधारों के कारण इस सामाजिक परिवर्तन की गति में तीव्रता आई है किन्तु इस परिवर्तन का उपादान कारण तो 'आधुनिकता' है।

भारत में अनेकानेक अन्तर्विरोधों से गुंफित इस आधुनिकता का प्रभाव का प्रादुर्भाव प्रथमतः कला और साहित्य पर हुआ। कालक्रम में आधुनिकता की यही लहर स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज में बीसवीं सदी के मध्याह्न में प्रविष्ट हुई। पाश्चात्य जगत् में इस समय तक आधुनिकता का उदय हो चुका था। स्वभावतः भारत में जिस आधुनिकता का प्रत्यारोपण हुआ वह 'आधुनिकता' अपने भीतर 'उत्तर आधुनिकता' को समेटे हुए थी। उत्तर आधुनिक और आधुनिक युग की परिस्थितियों में कुछ मौलिक भेद है। उत्तर आधुनिक युग की विचारधारा पर अस्तित्ववाद के रूपों-ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी- का तो प्रभाव है ही, यह युग तकनीक के प्रभाव में भी है। तकनीकवाद की आठ सर्वप्रमुख

विशेषताएँ समझी जाती हैं- तर्कना, संगठन, प्रबंधन, स्वचालितता, स्ववृद्धिमूलकता, स्वायत्तता, कृत्रिमता, एकावादिता तथा सार्वभौम। इस उत्तर आधुनिकतावाद ने ईश्वरादि तत्वमीमांसीय अवधारणाओं के निराकरण के साथ नैतिक प्रश्नों की पुनर्व्याख्या और कहें तो, अनुभवातीत नीति, धर्म और अदृष्ट के प्रति उपेक्षा के भाव अत्यधिक मुखर थे। अतएव, भारतीय 'आधुनिकता' का अर्थ यूरोपीय आधुनिकता से भिन्न हैं।

उसी केन्द्रित बिन्दु से हम प्राचीन साहित्य को देख सकते हैं और नए साहित्यों का सृजन भी कर सकते हैं। राजवंशावली के स्थान पर साधारण जन के दो-तीन पुश्तों पर आधारित सामाजिक उपन्यास तो लिखे ही जा सकते हैं; पौराणिक कथाओं को नया रूप दिया जा सकता है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा', दिनकर की 'रश्मिरथी', भारती की 'कनुप्रिया', रामाकान्त 'रथ की राधा' इसके प्रमाण हैं।

परम्परा और नवीनता के सम्यक अनुशीलन से जिस आलोचना-दृष्टि का विकास होता है, उसके द्वारा हम प्राचीन साहित्य को नयी सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में परख सकते हैं। इसी आलोचना दृष्टि से हम कालिदास के साहित्य के रूमानी स्वरूप को जनवादी स्वरूप में ढालकर नई रचना कर सकते हैं। श्रीकान्त वर्मा का प्रसिद्ध कविता संग्रह 'कालिदास के मेघ' इसका सुन्दर उदाहरण है। निराला की युगान्तकारी कविता 'कुकुरमुत्ता' के हास्यपूर्ण बिम्बों को केवल व्यंग्यार्थ तक सीमित करना समीचीन नहीं होगा। वास्तव में निराला उन बिम्बों के द्वारा भारतीय सभ्यता का इतिहास लिखते हुए साधारण में असाधारण की स्थापना करते दिखाई पड़ते हैं।

सभ्यता को संस्कृति के निकट लाने में कलाकार व साहित्यकार की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। उसे सभ्यता की उन खामियों पर प्रहार करना पड़ेगा जो उसे स्वस्थ संस्कृति के विकास में बाधक के रूप में दिखाई पड़ते हों। साथ ही वह अपनी जातीय संस्कृति की नई सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में जाँच-पड़ताल भी कर सकता है और दोनों के समन्वायत्मक बिन्दु की तलाश भी। इस कार्य के लिए एक नयी जीवन दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है जो संस्कृति और सभ्यता के अन्तर्सम्बन्धों के मंथन करने पर भी प्राप्त होती है। एक ओर साहित्यकार को पूर्व अर्जित एवं स्थापित आदर्शों, संस्कारों तथा जीवन-मूल्यों के प्रकाश एवं दिशा-निर्देश प्राप्त करना पड़ेगा जो समकालीन जीवन के लिए अनावश्यक एवं अवांछनीय हो गए हैं। साथ ही समकालीन जीवन की विसंगतियों से जूझने का तनाव भी झेलना पड़ेगा। समकालीन जीवन के तनाव अन्ततः प्रबुद्ध एवं सजग रचनाकार के तनाव बन जाते हैं और उनसे मुक्ति की तलाश भी कलाकार व साहित्यकार की साधना होती है। सांस्कृतिक विकास में यही उसका प्रमुख योगदान होगा।

परिशिष्ट
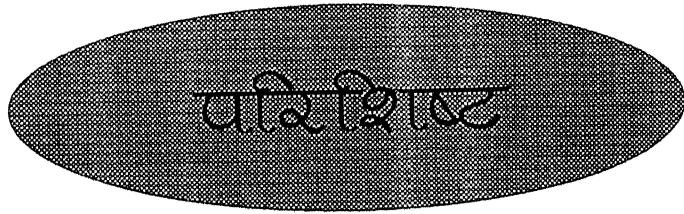
परिशीलित ग्रंथ सूची
सन्दर्भ ग्रंथ हिन्दी

⇒ अग्रवाल, वासुदेव शरण : ❖ कला और संस्कृति,
साहित्य भवन लि0, इलाहाबाद
❖ पद्मावत, जायसी,
❖ भारतीय कला का अनुशीलन,
पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी

⇒ अग्रवाल, डॉ0 गिर्राज किशोर : ❖ कला और कलम,
अशोक प्रकाशन मन्दिर साकेत, अलीगढ़
❖ रूपांकन,
अशोक प्रकाशन मन्दिर साकेत, अलीगढ़

⇒ 'अशोक', डॉ0 गिर्राज किशोर : ❖ कला समीक्षा,
ललितकला प्रकाशन, अलीगढ़

⇒ अग्रवाल, डॉ0 निशा : ❖ सृजनशीलता और सौन्दर्य बोध,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

⇒ अग्रवाल, डॉ0 श्याम बिहारी : ❖ रीतिकालीन साहित्य में चित्रकला,
(अप्रकाशित शोध ग्रन्थ)

⇒ अमृतराय (सं0) : ❖ गंगूपा,
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ अवस्थी, शिवशंकर : ❖ कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका,
सातवाहन पब्लिकेशन, दिल्ली

⇒ अवस्थी मदगुरुशरण : ❖ साहित्य तरंग,

⇒ अज्ञेय (सं0) : ❖ तार सप्तक,
प्रतीक व भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

⇒ आचार्य, नन्द दुलारे बाजपेयी : ❖ सूर-सागर (प्रथम व द्वितीय खण्ड),
नागरी प्रचारणी सभा, काशी

⇒ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : ❖ चिन्तामणि,
इंडियन प्रेस प्रा0 लि0, इलाहाबाद
❖ रस-मीमांसा,
काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी
❖ बुद्ध-चरित,
काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी

⇒ आचार्य, राम सुहाग सिंह : ❖ कला प्रकाश,
आशा प्रकाशन गृह, दिल्ली

⇒ आचार्य, विश्वनाथ मिश्र : ❖ केशव ग्रन्थावली-देव,
हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद
❖ कविप्रिया-केशवदास,
❖ घन आनन्द ग्रंथावली-घनानन्द,
❖ रसिकप्रिया-केशवदास,
❖ बिहारी,
वाणी बिसान, बनारस

⇒ आचार्य, बलदेव उपाध्याय : ❖ भारतीय साहित्यशास्त्र,
नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी

⇒ उदय प्रकाश : ❖ ईश्वर की आँख,
वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली

⇒ उपाध्याय, डॉ0 रामानुज : ❖ कला साहित्य संस्कृति,

⇒ कक्कड़, कृष्ण नारायण (सं0) : ❖ समकालीन कला-सन्दर्भ तथा स्थिति,
लखनऊ पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ

⇒ कालिग वुड, आर0जी0 : ❖ कला के सिद्धान्त (अनु0 डॉ0 ब्रजभूषण पालीवाल,
राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

⇒ कविन्द्र, उदयनाथ : ❖ रसचन्द्रोदय और रस दृष्टि

⇒ कालिंग वुड, आर0जी0 : ❖ कला के सिद्धान्त (अनु0 डॉ0 ब्रजभूषण पालीवाल,
राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

⇒ कुमार, जैनेन्द्र : ❖ साहित्य श्रेय और प्रेम,

⇒ कुमार डॉ0 विमल : ❖ कला विवेचन,
भारती भवन, पटना
❖ सौन्दर्य शास्त्र के तत्व,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ कुमार, डॉ0 महेन्द्र : ❖ रीतिकालीन रीतिकाव्यों का काव्य-शिल्प,

⇒ कुँवर नारायण : ❖ आधुनिक कला कोष,

⇒ केशव : ❖ कविप्रिया,

⇒ कौशिक दिनकर : ❖ काल और कला,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ कृष्ण कवि (टीकाकार) : ❖ बिहारी रत्नाकर,

⇒ कृष्ण लाल : ❖ तार सप्तक के कवि, काव्य शिल्प के मान,
साहित्य प्रकाशन, मालवाड़ी, दिल्ली

⇒ गणेश, डॉ0 एस0एन0 : ❖ निराला व्यक्तितत्व एवं कृतित्व,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ गुर्टू, शाचीरानी : ❖ कला के प्रणेता,
इंडिया पब्लिशिंगप हाऊस दिल्ली
❖ कला दर्शन,
साहनी प्रकाशन, दिली

⇒ गुप्त, डॉ0 जगदीश : ❖ कला के पद चिन्ह,
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
❖ प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

⇒ गुप्त, गणपति चन्द्र : ❖ भारती एवं पाश्चात्य काव्य,
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ गैरोला, वाचस्पति : ❖ भारतीय चित्रकला,
मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद
❖ भारतीय संस्कृति और कला
उ0प्र0 हिन्दी ग्रंथ अकादमी

⇒ गोस्वामी, तुलसीदास : ❖ कवितावली,
गीता प्रेस, गोरखपुर
❖ रामचरित मानस,
गीता प्रेस, गोरखपुर

⇒ गोस्वामी, प्रेमचन्द्र : ❖ कला, सन्दर्भ और प्रकृति,
लोक सम्पर्क प्रकाशन, जयपुर
❖ आधुनिक भारतीय चित्रकला का आधार स्तम्भ
राजस्थानी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

⇒ पद्माकर : ❖ पदमाकर ग्रन्थावली,

⇒ चतुर्वेदी, डॉ0 राजेश्वर प्रसाद एवं प्रेमी, डॉ0 गंगा सहाय : ❖ बिहारी-रत्नाकर,
हरीश प्रकाशन मन्दिर, आगरा

⇒ चतुर्वेदी, जगदीश : ❖ कला के पथ,
स्वामी केशवानन्द संगरिया, राजस्थान

⇒ चतुर्वेदी, सीताराम : ❖ कला-समीक्षाशास्त्र,

⇒ चतुर्वेदी, रामस्वरूप : ❖ आलोचना की बींसवी सदी,
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
❖ हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
❖ साहित्य के नये प्रतिमान
❖ आधुनिक कला कोष,
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ छाबड़ा, गोविन्दलाल : ❖ कला और कृतियाँ,

⇒ जैन, निर्मला : ❖ आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन,
राजकल प्रकाशन, दिल्ली, पटना
❖ रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

⇒ जयदेव : ❖ गीतगोविन्द,

⇒ जोशी, महेशचन्द्र : ❖ युग-युगीन भारतीय कला,
राजस्थानी ग्रन्थगार, जोधपुर

⇒ झा, डॉ0 चिरंजी लाल : ❖ कला एक मीमांसा,
लक्ष्मी कला कुटीर, गाजियाबाद

⇒ तिवारी, हंस कुमार : ❖ कला,
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

⇒ तिवारी, डॉ0 रघुनन्दन प्रसाद : ❖ भारतीय चित्रकला एवं उसके मूल तत्व,
भारतीय पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

⇒ त्रिपाठी, डॉ0 राम प्रसाद : ❖ मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन,
सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

⇒ दास, डॉ0 श्याम सुन्दर : ❖ साहित्यलोचन-कला का विवेचन,
इण्डियन प्रेस प्रा0 लि0, प्रयाग

⇒ दास, रायकृष्ण : ❖ भारत की चित्रकला,
राय आनन्द कृष्ण शारदा मुद्रण, बनारस

⇒ देव : ❖ देव ग्रंथावली
ना0 प्र0 सभा काशी

⇒ द्विवेदी, महावीर प्रसाद : ❖ कविता कलाप,
इंडियन प्रेस लि0, प्रयाग
❖ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध
भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

⇒ द्विवेदी, महावीर प्रसाद
⇒ द्विवेदी, हजारी प्रसाद
⇒ द्विवेदी, महावीर प्रसाद

❖ प्राचीन भारत में कला विनोद
❖ हजारी प्रसाद ग्रन्थावली
राजकमल प्रकाशन, दिलों
❖ हिन्दी साहित्य
अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली

⇒ डॉ0 नागेन्द्र : ❖ अरस्तू का काव्यशास्त्र,
भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
❖ काव्य विम्ब
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
❖ विचार और अनुभूति
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
❖ भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका
भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
❖ रस सिद्धान्त
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
❖ हिन्दी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपर वैक्स, नोएडा
❖ रीतिकाव्य की भूमिका
गौतम बुक डिपो, दिल्ली

⇒ नामामि, कालिदास : ❖ भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ नीरज, जय सिंह : ❖ राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण काव्य,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ 'निराला' सूर्य कान्त त्रिपाठी : ❖ अपरा,
भारतीय भण्डार, प्रयाग
❖ अनामिका
भारतीय भण्डार, प्रयाग

⇒ पद्माकर : ❖ पद्माकर ग्रन्थावली,
ना0प्र0 सभा, काशी

⇒ पाठक, कृपानारायण : ❖ कला का जीवन,
राय साहब, राय दयाल अगरवाला, इलाहाबाद

⇒ पांड्या, रवीन्द्र डी0 : ❖ वागड़ के भित्ति चित्र,
राजस्थानी रत्नाकर, डंगरपुर, राजस्थान

⇒ प्रसाद, जय शंकर प्रसाद : ❖ कामायनी,
साहित्य सागर, एस0एम0एस0 हाइवे, जयपुर
❖ काव्य कला और अन्य निबन्ध
भारती भण्डार, प्रयाग

⇒ भारद्वाज, विनोद : ❖ आधुनिक कला कोष,
अनिल पालीवाल सचिन प्रकाशन, दिल्ली
❖ कला के सवाल
प्रकाशन संस्थान, दिल्ली
❖ समकालीन भारतीय कला का अंतरंग अध्ययन
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

⇒ मदन, इन्द्रनाथ : ❖ कला की जरूरत,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ मतिराम, : ❖ मतिराम ग्रन्थावली,
ना0 प्र0 सभा, काशी

⇒ माओत्से तुंग : ❖ कला साहित्य और संस्कृति (सं0 शिवकुमार मिश्र)
पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली

⇒ मिश्र, भागीरथ : ❖ कला साहित्य और समीक्षा,
भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली

⇒ मिश्र, शिवगोपाल : ❖ मधुमालती-मंझन,

⇒ मुखर्जी, राधाकमल : ❖ भारतीय कला का विकास (अ0जगत शखधर),
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
❖ भारत की संस्कृति और कला,
राज्यपाल एण्ड दिल्ली संस, दिल्ली

⇒ मुखजी, राधाकुमुद : ❖ हिन्दू सभ्यता (अ0वासुदेव शरण अग्रवाल)
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ मेघ, रमेश कुन्तल : ❖ अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा,
दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लि0, नई दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता।

⇒ मेहता, नानाचमन लाल : ❖ भारतीय चित्रकला,
हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद

⇒ मौर्य, देवलाल : ❖ हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,
एक्सीलेंस पब्लिशेस, इलाहाबाद

⇒ राय, निहार रंजन : ❖ भारतीय कला का अध्ययन,
दि मैक मिलन कंपनी ऑफ इण्डिया, दिल्ली
❖ भारतीय कला के आयाम,
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

⇒ राय, गुलाब : ❖ सिद्धान्त और अध्ययन,

⇒ वर्मा, निर्मल : ❖ कला का जोखिम,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ वर्मा, महादेवी : ❖ दीप शिखा,
किताबिस्तान, इलाहाबाद
❖ विवेचनात्मक गद्य
❖ यामा
किताबिस्तान, इलाहाबाद

⇒ वर्मा, डॉ0 अविनाश बहादुर : ❖ भारतीय चित्रकला का इतिहास,
प्रकाश बुक डिपो, बरेली

⇒ वर्मा, हरिश्चन्द्र : ❖ मध्यकालीन भारत (भाग-1-2),
हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली

⇒ बाजपेयी, अशोक : ❖ कवि कह गया है,
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

⇒ बाजपेयी, राजेन्द्र : ❖ मार्डन आर्ट,
साहित्य निकेतन, कानपुर
❖ सौन्दर्य,
मध्य प्रदेश ग्रन्थ अकादमी

⇒ वाशम, ए0एल0 : ❖ अद्भुत भारत (अ0वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय),
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

⇒ विश्वकर्मा, डॉ0 राम कुमार : ❖ भारतीय चित्रांकन,
विशन लाल भार्गव एण्ड संस, इलाहाबाद
❖ भारतीय चित्रकला में संगीत तत्व
प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली
❖ रूपालेख्य,
भार्गव बुक हाऊस, इलाहाबाद

⇒ विजयवर्गीय, रामगोपाल : ❖ राजस्थानी चित्रकला,
कला मण्डप, जयपुर

⇒ बेनीपुरी, रामवृक्ष : ❖ रस पंचाध्यायी-विद्यापति,
पुस्तक भण्डार, पटना

⇒ शर्मा, डॉ0 कृष्णदेव एवं अग्रवाल, डॉ0 माया : ❖ राग-विराग एक विवेचन, कला मन्दिर, दिल्ली

⇒ शर्मा, एल0पी0 : ❖ मुगल कालीन भारत, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक भण्डार, आगरा

⇒ शर्मा, डॉ0 हरद्वारी लाल : ❖ कला विज्ञान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
❖ काव्य और कला भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
❖ साहित्य और कला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
❖ सौन्दर्य शास्त्र मधु प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ शर्मा, डॉ0 शिवकुमार : ❖ हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, दिल्ली

⇒ शर्मा, डॉ0 हरवंश लाल : ❖ सूर और उनका साहित्य, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

⇒ शर्मा, डॉ0 शिवकरन एवं क्षेत्रिय, डॉ0 शुखदेव : ❖ चित्रण विधान एवं सामग्री, छवि प्रकाशन, मुज्जफरनगर

⇒ शास्त्री, राम प्रताप त्रिपाठी : ❖ कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

⇒ शास्त्री, केदार नाथ : ❖ भारत की सांस्कृतिक परम्परा,

⇒ शास्त्री, तिलेश्वर नाथ : ❖ रस विलास-देव,

⇒ शुक्ल, पं0 उमाशंकर : ❖ कवित्त रत्नाकर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

⇒ शुक्ल, प्रयाग : ❖ कला समय समाज, ललित कला अकादमी,

⇒ शुक्ल, प्रो0 रामचन्द्र : ❖ आधुनिक कला समीक्षावाद, कला प्रकाशन, बैरहना, इलाहाबाद
❖ कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, जी0डब्ल्यू लॉरी एण्ड कम्पनी, लखनऊ
❖ कला का दर्शन, कॉरोना आर्ट पब्लिशर्स, मेरठ

⇒ शुक्ल, डॉ0 रामदेव : ❖ धनवाद का काव्य,
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ शुक्ल, डॉ0 राम लखन : ❖ भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएँ,
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

⇒ शुक्ल, डॉ0 राम कीर्ति : ❖ सौन्दर्य का तात्पर्य,
उ0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ

⇒ सत्येत्द्र (डॉ0) : ❖ कला, कल्पना और साहित्य,
साहित्य रत्न भण्डार, आगरा

⇒ सक्सेना, सर्वेश्वर दयाल : ❖ खूँटियों पर टँगे लोग,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

⇒ साखरकर, र0वि0 : ❖ आधुनिक चित्रकला का इतिहास,
राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

⇒ सिंह, ठा0 जयदेव सिंह : ❖ भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्व,
हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद

⇒ सिंह, त्रिभुवन : ❖ दरबारी, संस्कृति और हिन्दी पुस्तक

⇒ सिंह, नामवर : ❖ आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
❖ प्रतिनिधि कविता शमशेर् बहादुर सिंह
❖ भारतीय काव्य सिद्धान्त
लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ सिंह, डॉ0 योगेन्द्र प्रताप : ❖ भारतीय काव्य शास्त्र की रूपरेखा,
श्याम प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद

⇒ सिंह, डॉ0 शिव प्रसाद : ❖ विद्यापति,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ सिंह, डॉ0 बच्चन : ❖ आलोचक और आलोचना,
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

⇒ सिंह, डॉ0 शिवकरन : ❖ कला सृजन प्रक्रिया और 'निराला',
संजय बुक सेन्टर, वाराणसी

⇒ सिंह शमशेर बहादुर : ❖ कुछ कविताएँ और कुछ और कविताएँ,
राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

⇒ श्रीवास्तव, आशीर्वादी लाल : ❖ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति,
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

⇒ हल्दार, आसित कुमार : ❖ भारतीय चित्रकला,
मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद

⇒ : ❖ भारतीय कला का सिंहावलोकन,
पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार

⇒ : ❖ समाजशास्त्र एक परिचय,
एन0सी0आर0टी0

⇒ अल्लामी, शेख अबुल फजल : ❖ [illegible] (खण्ड-1, 2, 3),
दिल्ली (फारसी का हिन्दी अनुवाद)

सन्दर्भ ग्रंथ संस्कृत

⇒ अमरूशतक : ❖ अमरूक, अ0 श्री कृष्णदास,
मित्र प्रकाशन प्रा0लि0, इलाहाबाद

⇒ अभिनव : ❖ रस-सिद्धान्त, डॉ0 दशरथ द्विवेदी, टीकाकार
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

⇒ : ❖ अंगदर्पण-रसलीन, सं0 रामकृष्ण वर्मा
भारतीय प्रेस, काशी

⇒ : ❖ ऋग्वेद, सं0 लक्ष्मण स्वरूप,
मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली

⇒ : ❖ कविकल्पतरु,

⇒ : ❖ काव्य प्रकाश,

⇒ : ❖ कल्पदर्श, सं0 रामचन्द्र मिश्र,
चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

⇒ : ❖ काव्य दर्पण, विद्यावाचस्पति,
ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना

⇒ जयदेव : ❖ चन्द्रालोक-पीयूपवप, सं0 सुबोध चन्द्र पन्त,
मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली

⇒ जगन्नाथ : ❖ रस गंगाधर, जगन्नाथ काव्यमाला सीरीज
चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

⇒ भरतमुनि : ❖ नाट्यशास्त्र,
गायकवाड ओरिएंटल सीरीज, पूना

⇒ भामह : ❖ काव्यालंकार, सं0 भाष्यकार, देवेन्द्रनाथ शर्मा
बिहार राष्ट्रभापा, पटना

⇒ भोजराज : ❖ सरस्वती कण्ठाभरण,
❖ अमरकोष, अ0 पं0 हरगोविन्द शास्त्री
चौखम्भा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी

⇒ महाकवि कालिदास : ❖ अभिज्ञानशाकुन्तलम,
❖ ऋतुसंहार
❖ मेघदूत, मल्लिनाथ, टीका, बम्बई
❖ रघुवंश

⇒ राजानक कुन्तक : ❖ वक्रोक्ति जीवित,

⇒ वात्सायन : ❖ कामसूत्र, अ0 देवदत्त शास्त्री
चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

⇒ वाल्मीकि : ❖ रामायण,
गीता प्रेस, गोरखपुर

⇒ वामन : ❖ अलंकार सूत्र

⇒ विश्वनाथ : ❖ साहित्यदर्पण

⇒ : ❖ विष्णुधर्मोत्तर पुराण (चित्रसूत्र)
वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

⇒ : ❖ श्रीमद भागवत पुराण
गीता प्रेस गोरखपुर

सन्दर्भ ग्रंथ अंग्रेजी

⇒ Archer, W G :
- ❖ Garhwal Painting, Faber and Faber, London
- ❖ Indian Painting in the Punjab Hills, Her Majesty's stationory, London
- ❖ The Loves of Krishna in Indian Painting & Poetry, George Allen & Unwin, London

⇒ Bosanguet, Bernard :
- ❖ A History of Aesthetic, George Allen & Unwin, London

⇒ Coomaraswamy, A.K. :
- ❖ Introduction to Indian Art, Theosophical Publishing House, Madras
- ❖ Rajput Pinting, Humphery Milford, London

⇒ Croce, Benedetto :
- ❖ Aesthetic, Tr. Austin Duglos, Vision Press, London

⇒ French, J.C. :
- ❖ Himalayan Art, Oxford University Press, London

⇒ Randhawa, M S :
- ❖ Kangra Painting of Bhagwat Puran, National Musium of India, Delhi

⇒ Herbert, Read :
- ❖ The meaning of Art, Faber & Faber, London

⇒ Havell, E.B. :
- ❖ A Handbook of Indian Art, John Murray, London

⇒ Roy, Bethers :
- ❖ Composition in Pictures, Newyork

⇒ Taylor, F.A. :
- ❖ Color Technology,

⇒ Tuli, Neville :
- ❖ Indian contemporary Painting, Neart in association with Pamin, Delhi

⇒ Smith, Vincent A :
- ❖ History of Fine Art in India Ceylon, Cleardon Press, Oxford

⇒ Williams, Moneir :
- ❖ A Sanskrit English Dictionary

⇒ Wilkinson, J.V.S. :
- ❖ Mughal Painting, Faber & Faber, London

पत्र–पत्रिकाएं

⇒ आजकल	:	मासिक पत्रिका, दिल्ली
⇒ इंडिया टुडे	:	वार्षिकांक अंक, दिल्ली
⇒ इंडिया टुडे	:	(कला-सहस्राब्दी के चेहरे),-1999, दिल्ली
⇒ इंडिया टुडे	:	साप्ताहिक, दिल्ली
⇒ उत्तर प्रदेश	:	मासिक पत्रिका, लखनऊ
⇒ कथा देश	:	मासिक पत्रिका, इन्दौर
⇒ कला त्रैमासिक	:	पत्रिका, राज्य ललित कला अकादमी, उत्तर प्रदेश
⇒ कला निधि	:	त्रैमासिक पत्रिका, भारत कला भवन, वाराणसी
⇒ चाँद	:	मासिक पत्रिका, इलाहाबाद
⇒ भारतीय कला एवं संस्कृति	:	(प्रतियोगिता दर्पण अतिरिक्तांक), आगरा
⇒ माधुरी	:	मासिक पत्रिका, लखनऊ
⇒ बहुवचन	:	पत्रिका, दिल्ली
⇒ वांगार्थ	:	मासिक पत्रिका,
⇒ सरस्वती	:	मासिक पत्रिका, इलाहाबाद

☆ ☆ ☆ ☆ ☆ ☆ ☆ ☆

⇒ दैनिक जागरण, इलाहाबाद

⇒ राष्ट्रीय सहारा, दैनिक इलाहाबाद

⇒ हिन्दुस्तान, दैनिक, लखनऊ

ALBUM

⇒ Lalit Kala Akadami

- Mewar Painging,
- Painting of the sultans and Emperors of India,
- The Blue God,
- The Faber Gullery of Oriental Art,
- The Golden Flute Indian Painting of Poetry

चित्र–परिचय

चित्र क्रमांक		चित्र विषय
1	:	➢ वर्षा से बचते राधा एवं कृष्ण, काँगड़ा स्कूल, लगभग 1800 ई0
2	:	➢ कृष्ण और राधा वेश परिवर्तन, गीतगोविन्द, काँगड़ा स्कूल
3	:	➢ नदी तैर कर महीवाल से मिलने जा रही सोहनी, गुलेर स्कूल, लगभग 1760–1765 ई0
4	:	➢ राम कवंध युद्ध, मालवा स्कूल, लगभग 1635 ई0
5	:	➢ श्री रामचन्द्र जी की धनुर्विद्या शिक्षण, चित्रकार-राजारवि वर्मा
6	:	➢ परशुराम, चित्रकार-राजारवि वर्मा
7	:	➢ उत्तरा से अभिमन्यु को विदा, चित्रकार-बाबू वामपद बन्धोपध्याय
8	:	➢ सद्य:स्नान, चित्रकार-राजारवि वर्मा
9	:	➢ अर्जुन और सुभद्रा, चित्रकार-राजारवि वर्मा
10	:	➢ अर्जुन और उर्वशी, चित्रकार-बाबू बामपद बन्धोपध्याय
11	:	➢ श्री राधाकृष्ण की आँख मिचौनी, चित्रकार-राजारवि वर्मा
12	:	➢ राजा सुरत एवं समाधि, दुर्गा स्तुति, मालवा स्कूल, लगभग 1680 ई0
13	:	➢ भगवान राम और सीता स्वर्ण मृग के साथ युक्त, रामायण का एक सचित्र पन्ना, लगभग–1725ई0
14	:	➢ भागवत पुराण, मेवाड़ स्कूल, लगभग 1655ई0
15	:	➢ गीत–गोविन्द, गुलेर स्कूल, लगभग 1760–1765ई0
16	:	➢ कृष्ण, राधा और ग्वाल बाल खेलते हुए, तुलाराम भागवत, पश्चिमी राजस्थानी, 16वीं शताब्दी
17	:	➢ कृष्ण अवतार चरित्र, मेवाड़ स्कूल, लगभग 1698–1710ई0
18	:	➢ दावानाल पान करते कृष्ण, मेवाड़ स्कूल, लगभग 1770ई0
19	:	➢ रसिकप्रिया, बूँदी स्कूल, लगभग 1700ई0
20	:	➢ रसिकप्रिया, मालवा स्कूल, लगभग 1660 ई0
21	:	➢ अनवर-ए-सुहैली, मुगल शैली, लगभग 1593ई0
22	:	➢ रज्म-नामा, मुगल शैली, लगभग 1589–1597ई0

23 : ➢ रामायण, काँगड़ा स्कूल, लगभग 1780ई0

24 : ➢ गोवर्धन पर्वत धारण किये कृष्ण एवं ग्वाले

25 : ➢ रासलीला, (कसीदा करी), चम्बा स्कूल, 19वीं शती ई0

26 : ➢ गाय चराते कृष्ण, नाथ द्वारा, 19वीं शती ई0

27 : ➢ कविप्रिया, काँगड़ा स्कूल,

28 : ➢ रसराज, काँगड़ा स्कूल

29 : ➢ रसिकप्रिया, गुलेर स्कूल

30 : ➢ रसिकप्रिया, काँगड़ा स्कूल

31 : ➢ रसिकप्रिया, पहाड़ी शैली

32 : ➢ बिहारी रत्नाकर, काँगड़ा स्कूल

33 : ➢ बिहारी सतसई, काँगडा स्कूल

34 : ➢ बिहारी सतसई,

35 : ➢ आँख मिचौली, रसराज, काँगड़ा स्कूल

36 : ➢ बिहारी सतसई,

37 : ➢ भागवत पुराण, काँगड़ा स्कूल लगभग 1785-1823ई0

38 : ➢ खम्सा-ए-निजामी का सचित्र पन्ना,

39 : ➢ बिहारी सतसई, काँगड़ा स्कूल

40 : ➢ स्वप्न, कागज पर वाश टेम्परा 44x56.5से.मी.
चित्रकार-एम0ए0आर0 चुगताई

41 : ➢ माँ और शिशु, टेम्परा रंग 35.7x73 से.मी,
चित्रकार-यामिनी राय

42 : ➢ गन्धारी (1979), कैनवास पर तैल रंग 166x196 से.मी,
चित्रकार-ए0 रामचन्द्रम

43 : ➢ गुलाबी कृषि भूमि पर बांसुरी वादक,
कैनवास पर तैल रंग 172.5x137 से.मी.,
चित्रकार-मंजीत बाबा

44 : ➢ भारतीय लय पर नृत्य (1987)
कैनवास पर तैल रंग 173.5x243 से.मी.,
चित्रकार-मंजीत बाबा

45 : ➢ बन्धन (1977), कैनवास पर तैल रंग 152.5x152 से.मी.,
चित्रकार-सतीश गुजराल

46 : ➢ दो सिर, कैनवास पर तैल रंग 138x69 से.मी.,
चित्रकार-अकबर पद्मसी

47 : ➢ उस पार (1980), कैनवास पर तैल रंग 137x137 से.मी., चित्रकार-वरवे प्रभाकर

48 : ➢ बिना शीर्षक कैनवास पर तैल रंग 114x80 से.मी., चित्रकार-जे0 स्वामीनाथन

49 : ➢ चित्र -II, कैनवास पर तैल रंग 105x100 से.मी., चित्रकार-शान्ति दवे

50 : ➢ चित्र (1976) कैनवास पर तैल रंग 183x91.5 से.मी., चित्रकार-एस0एच0 रजा

51 : ➢ कृषक परिवार, कैनवास पर तैल रंग 102x150.2 से.मी., चित्रकार-एम0एफ0 हुसैन

52 : ➢ बिना शीर्षक, कैनवास पर तैल रंग 127x175 से.मी., चित्रकार-राम कुमार

53 : ➢ यात्रा-I, कैनवास पर तैल रंग 120x105 से.मी., चित्रकार-जे0 स्वामीनाथन

54 : ➢ दवॅरी, कैनवास पर तैल रंग 89x121.7 से.मी., चित्रकार-रामकिंकर बैज

55 : ➢ रामायण, मेवाड़ स्कूल, चित्रकार मनोहर, लगभग 1649 ई0

56 : ➢ रसिकप्रिया,

57 : ➢ प्रकृति चित्रण, रेखांकन

58 : ➢ होली खेलते कृष्ण, गुलेर-काँगड़ा कलम, लगभग 1774 ई0

59 : ➢ स्नेह निर्झर बह गया (1999), जलरंग, चित्रकार-विद्यासागर सिंह 'सागर'

60 : ➢ गंगावतरण, चित्रकार-राजारवि वर्मा

61 : ➢ श्रीनाथ जी, नाथद्वारा, लगभग 1800 ई0

62 : ➢ बाजबहादुर-रूपमति शिकार करते हुए दक्कन, लगभग 18वीं शताब्दी

63 : ➢ रज्मनामा (महाभारत का फारसी अनुवाद का प्रारंभिक सचित्र पन्ना), 1740-1750 ई0

64 : ➢ जैन कल्पसूत्र का सचित्र पन्ना, लगभग 14वीं शताब्दी

65 : ➢ रामायण का फारसी अनुवाद का सचित्र पन्ना,

66 : ➢ सूर-सागर, मेवाड़ स्कूल लगभग 1650-1651 ई0

67 : ➢ रसिकप्रिया मेवाड़ स्कूल, लगभग 1650 ई0

68	:	➢ श्री दशम् ग्रंथ साहिब सचित्र पन्ना, लगभग 18वीं शताब्दी
69	:	➢ गीतगोविन्द, बसोहली स्कूल,
70	:	➢ बिहारी सतसई, काँगड़ा स्कूल,
71	:	➢ बिहारी सतसई, काँगड़ा स्कूल,
74	:	➢ रागपुत्र बिलावत, दक्कन लगभग 1850 ई0,
75	:	➢ कृष्ण और गोपों का वन विहार, भागवतपुराण, काँगड़ा स्कूल, लगभग 1760 ई0
76	:	➢ केशीबध, बीकानेर स्कूल, लगभग 1715 ई0
77	:	➢ राधा कृष्ण, किशनगढ़ स्कूल लगभग 18वीं शताब्दी